संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन

डॉ० भोलाशंकर व्यास

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

संस्कृत
का
भाषाशास्त्रीय अध्ययन

★

डॉ० भोलाशंकर व्यास





विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

SANSKRIT KA BHASASHASTRIYA ADDHYAYAN

by

Dr. Bhola Shanker Vyas

ISBN 81-7124-090-9

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी - २२१ ००१

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रानिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०
वाराणसी - २२१ ००१

प्राक्कथन

विश्व के भाषा-परिवारों में भारत-युरॅपीय भाषा-परिवार बृहत्तम परिवार है, जिसकी भाषाएँ युरॅप से लेकर भारत तक व्यवहृत होती हैं। संस्कृत इसी परिवार की मुख्य भाषा है। इस दृष्टि से संस्कृत का ग्रीक, लैटिन, प्राचीन चर्च स्लावोनिक जैसी प्राचीन भाषाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पारसियों की धर्म पुस्तक अवेस्ता की भाषा तथा वैदिक संस्कृत की प्रकृति तो परस्पर इतनी निकट है कि उन्हें एक ही भाषा की दो विभाषाएँ घोषित किया जा सकता है। युरॅपीय जगत् को संस्कृत भाषा का परिचय मिलने पर १६वीं शती में युरॅप में भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जो उन्नति हुई उसने ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता तथा संस्कृत की प्रकृतियों का तुलनात्मक अध्ययन कर इस विषय का अन्वेषण किया कि इन भाषाओं के बोलने वाले पूर्वज आरम्भ में एक सी ही भाषा का व्यवहार करते होंगे। इसी के आधार पर आदिम भारत-युरॅपीय जैसी कल्पित भाषा की अवतारणा की गयी। ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत में निस्सन्देह इतनी अधिक ध्वन्यात्मक और पदरचनात्मक समानताएँ पायी जाती हैं कि उपर्युक्त निर्णय पर पहुँचना स्वाभाविक है। भारत-युरॅपीय भाषाशास्त्र की दिशा में श्लेगेल, रास्क, ग्रिम, फ्रेंच बॉप, श्लेखर, ब्रुगमान, मेये, वाकेरनागेल, ज्यूल ब्लॉख जैसे युरॅपीय विद्वानों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस दिशा में अधिकतर कार्य फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओं के माध्यम से हुआ है, तथा आंग्ल भाषा में भी इस विषय में कुछ पुस्तकें दृष्टिगोचर होती हैं। अब तक की समस्त भाषाशास्त्रीय गवेषणाओं को ध्यान में रखकर लिखी गयी दो पुस्तकें अँग्रेजी में पायी जाती हैं, जो खास तौर पर संस्कृत भाषा पर लिखी गयी हैं : एक डॉ० घोष की पुस्तक, दूसरी प्रोफेसर बरो की पुस्तक। प्रोफेसर बरो की पुस्तक अभी दो-तीन वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हुई। इस दृष्टि से हिन्दी में ऐसी पुस्तक की कमी खटक रही थी, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टि से संस्कृत भाषा पर लिखी गयी हो। डॉ० भोलाशंकर व्यास की पुस्तक 'संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन' ने इस कमी को पूरा कर दिया है। इस पुस्तक में डॉ० व्यास ने अब तक की समस्त भाषाशास्त्रीय गवेषणाओं और मान्य कृतियों का उपयोग करते हुए संस्कृत की

भाषाशास्त्रीय रूपरेखा प्रस्तुत की है। साथ ही संस्कृत भाषा का प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में किस प्रकार विकास हुआ है, इसे भी अन्तिम परिच्छेद में निबद्ध कर संक्षेप मे भारतीय आर्य भाषाओं के विकास की गतिविधि प्रदर्शित कर दी है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विद्यार्थी के लिए संस्कृत की भाषाशास्त्रीय प्रकृति तथा उसकी भावी गति-विधि का सम्यक् ज्ञान आवश्यक हो जाता है, अत· यह पुस्तक भारतीय भाषाशास्त्र के अध्येताओं के लिए बडी उपयोगी होगी। साथ ही इस के द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के महान् अभाव की पूर्ति भी हो रही है। पुस्तक गवेषणा तथा विद्वत्तापूर्ण है और डॉ० भोलाशंकर व्यास का यह प्रयास सर्वथा सराहना के योग्य है।

-रमाशंकर त्रिपाठी

प्रस्तुत संस्करणं के विषय में

'संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन' का सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९५७ में हुआ था। तब से अब तक इसके चार संस्करण निकल चुके हैं और भाषाशास्त्र के अध्यापकों और छात्रो ने इस पुस्तक की प्रशंसा की है। पिछले दस-बारह वर्षों से यह पुस्तक अप्राप्य हो गयी थी और इसके अगले संस्करण के प्रकाशन के लिए पाठक-वर्ग का आग्रह बढ़ता जा रहा है। पुस्तक के पुराने प्रकाशक की इस पुस्तक के प्रकाशन में अब विशेष रुचि नहीं थी, बार-बार तकाजा करने पर भी वे इसे प्रकाशित न कर पाये। फलतः इसे अब विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी द्वारा प्रकाशित करवाया जा रहा है।

पिछली दो सदियों में युरॅपीय भाषाशास्त्रियों ने भारत-युरॅपीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में प्रभूत योगदान किया है। भाषावैज्ञानिक अध्ययन के विकास के कारण संस्कृत के अध्ययन का महत्त्व और बढ गया है। भारतीय आर्य भाषाओं के भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिए तो सस्कृत का दोहरा महत्त्व है, एक ओर यह इन भाषाओं की जननी है, दूसरी ओर सैद्धान्तिक भाषाशास्त्र तक के आवश्यक ज्ञान के लिए इसका परिचय अपेक्षित है। हिन्दी में इस पुस्तक के अतिरिक्त अन्य पुस्तक अभी तक नहीं आ पायी है, जो संस्कृत का तुलनात्मक भाषाशास्त्र की दृष्टि से परिचय दे सके। अतः इसे पुनः प्रकाशित करना अनिवार्य हो गया है। पुस्तक मूलतः सन् १९५१-५२ में लिखी गयी थी। पिछले चालीस वर्षों में हुई खोजो को इस पुस्तक में सम्मिलित करने से पुस्तक की जटिलता बढ़ जाती क्योंकि ये खोजें विशेषीकृत क्षेत्रों से अधिक सम्बद्ध हैं और संस्कृत के सामान्य भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिए इनकी जानकारी अनपेक्षित है। मेरी जानकारी में इस विषय पर अंगरेजी में भी कम ही पुस्तके उपलब्ध हैं। डॉ० बटेकृष्ण घोष की पुस्तक काफी पुरानी पड़ चुकी है। प्रो० टी० बरो की 'संस्कृत लैंग्वेज' अधिक उपयोगी है, किन्तु यह विशेषीकृत अध्ययन के इच्छुक छात्रो के लिए उपादेय है। जो लोग टी० बरो की पुस्तक को मूल अंगरेजी में नहीं पढ़ सकते, उनके लिए इस पुस्तक

का हिन्दी रूपान्तर उपलब्ध है, जो इन पक्तियो के लेखक की ही अन्य कृति है। सस्कृत के विषय मे और अधिक भाषाशास्त्रीय जानकारी के लिए अध्यापक तथा छात्र उसका उपयोग कर सकते है।

प्रस्तुत पुस्तक में अगरेजी, फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओं मे लिखे गये ग्रन्थो से पर्याप्त सहायता ली गयी है, जिनमे मुख्यत मेय्ये, ब्लॉख, वाकेरनागेल, स्टर्टेवन्ट तथी टी० बरो की कृतियॉं है। इस पुस्तक से भारतीय आर्य भाषाओं के अध्येता का कुछ भी लाभ हो सका तो मै अपना श्रम सार्थक समझूँगा। पुस्तक को जटिलता तथा विस्तार-भार से बचाने के लिए इसमे नया नही जोडा जा रहा है और इसे ज्यो-का-त्यो पुन प्रकाशित किया जा रहा है।

—भोलाशंकर व्यास

विषय-सूची



आमुख

[अ]

भाषाशास्त्रके अध्ययनका विषय जैसा कि स्पष्ट है, भाषा है। भाषासे हमारा तात्पर्य मानवकी उस प्रक्रियासे है, जिसके अन्तर्गत वह अपने कतिपय ध्वनियन्त्रोंका प्रयोग कर उनसे कई प्रकारकी ध्वनियोंका उच्चारण कर उनके द्वारा अपने भावों तथा विचारोंका प्रकाशन करता है। इस प्रकार भाषा भाव-विनिमयका ध्वन्यात्मक साधन है।[१] भाषाशास्त्र मानव-भाषाके समस्त रूपों, चाहे वे असभ्य जातियोंके द्वारा व्यवहृत होते हों, या सभ्य जातियोंके द्वारा; का अध्ययन करता है। वह एक ओर प्राक्-ऐतिहासिक कालकी भाषाका अध्ययन करता है; दूसरी ओर प्राचीन संस्कृत [Classical] भाषाओं, देशी प्राकृत रूपों, तथा आजकी प्रचलित भाषाओं एवं विभाषाओंका अध्ययन करता है। भाषाका यह अध्ययन वह भाषाको भावव्यंजनाका साधन मानकर करता है।[२]

भाषाशास्त्र [Linguistics] का अध्ययन करनेकी प्रायः तीन प्रणालियाँ पाई जाती हैं :—१. **वर्णनात्मक या विवरणात्मक प्रणाली** [Descriptive method], २. **ऐतिहासिक प्रणाली** [Historical method], ३. **तुलनात्मक प्रणाली** [Comparative method]। इन तीनों प्रणालियोंमें भी हम पहली दो प्रणालियोंको विशेष महत्त्वपूर्ण मानेंगे। तृतीय प्रणालीमें दो या दोसे अधिक भाषाओंको लेकर उनके भाषाशास्त्रीय

Marcel Cohen. Le Langage (Struoture Et Evolution) P. I.

२. Ferdinand de Saussure. Cours de Linguistique Generale. chapitre 11 Page 20.

तत्त्वोंकी तुलना की जाती है, जो विवरणात्मक दृष्टिको भी लेकर हो सकती है, दूसरी ओर ऐतिहासिक दृष्टिको लेकर भी। वैसे जब हम किसी भाषाका ऐतिहासिक अध्ययन करते हैं, तो वहाँ हम विवरणात्मक प्रणालीकी सर्वथा अवहेलना नहीं करते; जब कि कोरी विवरणात्मक प्रणालीमे भाषाके ऐतिहासिक विकासपर नजर नहीं डाली जाती। तुलनात्मक प्रणालीमे किसी भाषाके विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक दोनों ढगके अध्ययनको प्रस्तुत करते हुए उससे सम्बद्ध अन्य भाषाओसे तुलना करते हुए उसका वैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित किया जाता है। प्राचीन संस्कृत [Classical] भाषाओं [यथा संस्कृत, ग्रीक, लैतिन] के अध्ययनमे हमे इसी तरहकी तुलनात्मक प्रणालीका प्रयोग करना होता है, जिसमे तुलनाके साथ ही साथ विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धतिका समन्वय होता है। प्रस्तुत पुस्तकमे हमने इसी पद्धतिपर संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है।

इस भागमे वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक प्रणालीकी विशेषताओंका परिचय देते हुए, हम भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाओंका संक्षिप्त परिचय तथा उनमे संस्कृतके महत्त्वका संकेत करेगे।

१–विवरणात्मक पद्धति

किसी भी भाषाकी एक कालकी स्थितिको लेकर उसके यथास्थित स्वरूपका अध्ययनकर उसके आधारपर कुछ निश्चित नियम बना देना विवरणात्मक ढंगका अध्ययन है। एक भाषाको लेकर उसकी ध्वनियो, पदरचना तथा वाक्यरचनाका अध्ययन करते समय इस पद्धतिका प्रयोक्ता उसके पूर्ववर्ती रूपोंकी ओर ध्यान नही देता, साथ ही न वह उससे सम्बद्ध संघटना [Structure] वाली अन्य भाषा या भाषाओसे उसकी तुलना ही करता है, जैसा कि ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धतिमे पाया जाता है। यही कारण है कि सोस्यूरने इस प्रकारके भाषाशास्त्रीय अध्ययनको भाषाशास्त्रका स्थित्यात्मक रूप [Static linguistics] कहा है। इस पद्धतिको एकप्रणालिक भाषाशास्त्रीय पद्धति [Monosystemic or Synchronic]

भी कहा जाता है, क्योंकि इस ढंगके विश्लेषणमें भाषाके निश्चित देश तथा निश्चित कालवाले रूपका ही अध्ययन किया जाता है। दूसरे ढंगके अध्ययनको द सोस्यूरने विकासशील भाषाशास्त्र [Evolutional Linguistics] माना है। इस गत्यात्मक अध्ययन-पद्धतिको बहु-प्रणालिक अध्ययन [Polysystemic or dichronic] भी कहा जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत किसी भाषाके अनेक कालोंमें गतिशील रूपोंका विश्लेषण किया जाता है। आंग्ल भाषाशास्त्री इन्हींको क्रमशः विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति कहते हैं।

विवरणात्मक पद्धतिका ढंग भी दो तरहका होता है, एक वह जब कि किसी भाषाका विवरणात्मक व्याकरण अन्य भाषामें लिखना है, तथा दूसरा वह जब कि उसी भाषामें उसी भाषाका शास्त्रीय विवरण प्रस्तुत करना होता है। विवरणात्मक पद्धतिका एक ढंगका संकेत हमें हिन्दी आदिपर अँगरेजीमें लिखी गई पुस्तकोंमें मिल सकता है। उदाहरणके लिए, केलॉगकी 'हिन्दी-ग्रामर' इसी ढंगकी विवरणात्मक शैलीमें लिखी गई है। दूसरे प्रकारके विवरणात्मक अध्ययनका सबसे ज्वलन्त उदाहरण पाणिनिका व्याकरण लिया जा सकता है। विवरणात्मक अध्ययनके निर्णयोंको प्रस्तुत करनेके लिए अध्येताको एक विशेष प्रकारकी वैज्ञानिक भाषाका प्रयोग करना पड़ता है। वह उसी भाषाका प्रयोग अपने सिद्धान्तोंके लिए नहीं कर पाता। फलतः वह एक सूत्रात्मक भाषाका निर्माण करता है। इसी भाषाको भाषावैज्ञानिक "एकभाषीय अध्ययन" [Metalanguage Study] के निर्णयोंको सामने रखनेके लिए अपनाते हैं। पारिभाषिक भाषाका प्रयोग करते हुए वे भाषाकी विवरणात्मक विशेषताओंको सूक्ष्मातिसूक्ष्म सूत्रों [Formulae] के रूपमें रखते हैं, तथा उनके द्वारा एक ही भाषाके ध्वन्यात्मक परिवर्तनों, पदरचनात्मक विशेषताओंको उपन्यस्त करते हैं।

विवरणात्मक पद्धतिका प्रयोक्ता कभी-कभी वैभाषिक रूपोंका भी इसी तरह अध्ययन करता है। वह स्त्रियों, बच्चों आदिकी विभाषा तथा अलग

अलग फिरकोंके द्वारा बोली जानेवाली "स्लैंग"का भी अध्ययन करता विवरणात्मक पद्धतिके अध्ययनका एक संकेत हमें ओत्तो येस्पर्सनके अध्ययन-में दिखाई पड़ता है। अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंमें, विशेषतः "लेंग्विज", "फिलोसोफी आव् ग्रामर" तथा "मेनकाइण्ड, नेशन एण्ड इण्डिविडुअल"में उसने विवरणात्मक अध्ययनके सिद्धान्तोंको रखते हुए इस अध्ययनकी निश्चित दिशा दी है। किन्तु आज विवरणात्मक पद्धतिसे अध्ययन करनेकी कई दिशाएँ देखी जाती है। अमेरिकाके भाषाशास्त्रियोंका विवरणात्मक अध्ययन कुछ यान्त्रिक प्रकारका देखा जाता है। इसका आभास हमे ब्लूमफील्डकी "भाषा" [Language] शीर्षक पुस्तकसे मिल सकता है। अमेरिकन भाषाशास्त्री भाषाशास्त्रको एक स्वतन्त्र विज्ञान मानकर चलते है, तथा अपने अध्ययनमें मनोविज्ञान आदिसे कोई सहायता लेना ठीक नहीं समझते। जिस प्रकार मनोविज्ञानकी एक शाखा, व्यवहारवादी मनोविज्ञान [Behaviouristic psychology], मे यान्त्रिकता पाई जाती है, वैसी ही यान्त्रिकता इस पद्धतिमें भी पाई जाती है। इसी विशेषताके आधारपर यह प्रणाली यान्त्रिक [Machinistic] कहलाती है। अमेरिकन प्रणालीमे प्रमुख दोष यह है कि ये भाषाको प्रमुखतः उच्चरित रूपकी दृष्टिसे ही देखते है; साथ ही इनमे-से कई भाषाशास्त्री तो उच्चारण मात्रको ही अध्ययनका विषय बनाते देखे जाते हैं। उच्चारण तथा अर्थ; शब्द एवं अर्थके अभिन्न सम्बन्धको न मान-कर ये अर्थकी आत्माको गौण समझते जान पड़ते है, तथा शब्दके कलेवरपर ज्यादा जोर देखे जाते हैं। साथ ही शब्दका विश्लेषण करते समय वे ध्वनियोंके श्रोतृगत संस्कारपर ध्यान देते नहीं दिखाई देते। वस्तुतः भाषा-का अध्ययन वक्ता तथा श्रोता दोनोंकी दृष्टिसे करनेकी जरूरत है, तथा इस दृष्टिसे शब्दों तथा उनके अर्थोंका श्रोतृगत संस्कार एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

जिस प्रकार दर्शनकी विधिवादी [Positivistie] पद्धति आत्मा तथा शरीरको अभिन्न मानकर विषयी तथा विषयके तादात्म्यकी ओर बढ़ती है,

तथा उसी दृष्टिसे भौतिक पदार्थोंका विश्लेषण करती है, ठीक उसी तरह सोस्यूर भी भाषाशास्त्रके क्षेत्रमें कुछ विधिवादी ढंग अपनाता है। वैसे यान्त्रिक तथा भौतिकवादी पद्धतिके भाषाशास्त्री उसकी पद्धतिको "आदर्श-वादी" [Idealistic] पद्धति मानते हैं। सोस्यूरके मतानुसार भाषाशास्त्र-को वैयक्तिक भाषा [Parole] का अध्ययन अपना प्रमुख लक्ष्य न बना-कर, समस्त एकभाषाभाषी समाजकी वैयक्तिक भाषाओंके अंतस्में अनुस्यूत भाषा [La langue] का अध्ययन करना होगा। वैयक्तिक भाषाका मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक दोनों ढंगका रूप है, किन्तु सामाजिक भाषाका केवल "मनोवैज्ञानिक" रूप होता है। यही कारण है, भाषाका विश्लेषण करते समय द सोस्यूरने भाषाके प्रमुख आधार प्रतीक [La sign] तथा प्रतीत्य [La signifie'] माने हैं, तथा उनका श्रोतृगत रूप वासना या संस्कारनिष्ठ माना है। ध्वनियोंको सुननेसे श्रोताके मानसपर अन्तश्चित्र प्रतिबिम्बित हो जाता है, जिसे सोस्यूरने "इमाज आकूस्तीक" कहा है। जब श्रोता पुनः वही ध्वनि या ध्वनिसमूह सुनता है, तो वह अन्तश्चित्र उसे अर्थ-प्रत्यायनमें सहायता वितरित करता है। चूँकि सोस्यूर भी एक तथाकथित "आदर्श" भाषाका—एक भाषाभाषी समाजके अनेक व्यक्तियोंकी भाषाके आदर्शरूपका अध्ययन करता है, अतः उसे भी सूत्रपद्धतिवाली पारिभाषिक भाषाका प्रयोग करना अभीष्ट है।

२–ऐतिहासिक पद्धति

ऐतिहासिक पद्धति किसी भी भाषाके गत्यात्मक रूपोंका अध्ययन करती है। इसके अन्तर्गत एक ही भाषाके पुरातन रूपोंसे आज तकके रूपोंकी प्रवहमान गतिका अध्ययन किया जाता है। उदाहरणके लिए आजकी हिन्दी [खड़ी बोली] का अध्ययनकर्ता उसके पुराने रूपोंका भी अध्ययन करता है, तथा अपभ्रंश कालसे आजतक; बल्कि और अधिक विस्तृत क्षेत्र चुना जाय, तो संस्कृत कालसे आजकी हिन्दी तक ऐतिहासिक क्रमके आधारपर किस

तरहका ध्वन्यात्मक, पदरचनागत या वाक्यरचनागत परिवर्तन होता रहा है, इसका वैज्ञानिक लेखा-जोखा देनेकी चेष्टा की जाती है, तो यह ऐतिहासिक प्रणालीका आश्रय होगा। लेकिन अगर कोई अध्येता हिन्दी [खड़ी बोली] के यथास्थित रूपको लेकर ही उसकी ध्वनियोंका, या पदरचनाका लेखा-जोखा देना चाहे, तो वह विवरणात्मक पद्धति होगी। ऐतिहासिक प्रणालीके अध्ययनमें संबद्ध भाषाका विवरणात्मक अध्ययन स्वतः समाविष्ट हो जाता है।

३–तुलनात्मक पद्धति

तुलनात्मक पद्धतिके अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों पद्धतियोंका समाहार करते हुए ऐतिहासिक दृष्टिसे या पदरचनात्मक दृष्टिसे परस्पर सम्बद्ध दो या अधिक भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यही नहीं, विभिन्न प्रकृतिकी भाषाओंका भी तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। वैसे तुलनात्मक पद्धतिका प्रयोग अधिकतर एक ही भाषासे निकली हुई भाषाओंकी ध्वनियों, पदरचना, शब्द-कोष तथा वाक्यरचनाकी समानताओं तथा असमानताओंके अध्ययनके लिए किया जाता है, जैसे ब्रजभाषा तथा खड़ी बोलीका तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, या मैथिली और बंगालीका। इसी तरह संस्कृत, ग्रीक और लैतिनका भी तुलनात्मक अध्ययन उदाहरणके रूपमें लिया जा सकता है।

तुलनात्मक पद्धतिके अध्ययनने ही वस्तुतः भाषाशास्त्रको १९ वीं शतीमें जन्म दिया है। ग्रीक, लैतिन तथा संस्कृतकी अत्यधिक समानताओंने ही भारत यूरोपीय परिवारके तुलनात्मक व्याकरण [Comparative philology] को जन्म दिया था। इस प्रकारकी तुलनात्मक पद्धतिमें कुछ भी दोष रहे हों, किन्तु इसका महत्त्व निषिद्ध नहीं किया जा सकता। आजके भाषा-वैज्ञानिकोंके मतानुसार जब हम अनेक भाषाओंकी तुलना करते समय उनकी समानताओंके आधारपर उनके परस्पर सम्बद्ध होनेकी बात कहते हैं, तथा उनके परस्पर सम्बन्धपर जोर देते हैं, तो हम एक, वैज्ञानिक

भ्रान्तिको जन्म देते हैं। इन नव्य भाषाशास्त्रियोंके मतानुसार सम्बन्ध [Relation] भाषाओंमें न होकर भाषाओंकी संघटना [System] में पाया जाता है। इसलिए "संबन्ध भाषाओंका नहीं, उनकी संघटनाका है" [Relationship–is not of languages, but of systems] यह कहना ज्यादा ठीक होगा। साथ ही, किन्हीं दो भाषाओंमें परस्पर सम्बन्ध है या नहीं, इसकी अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है, अथवा कम सम्बन्ध है, इस बातको मानना अधिक संगत है। उदाहरणके लिए खड़ी बोली [हिन्दी] तथा राजस्थानीकी संघटनामें परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि हम यह कह बैठते हैं दोनों एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। इसी तरह राजस्थानी तथा गुजरातीकी संघटना परस्पर अधिक संबद्ध है, जब कि राजस्थानी तथा पंजाबीकी संघटना कम संबद्ध है, तथा राजस्थानी और बंगालीकी संघटना एक दूसरेसे बहुत कम संबद्ध है। अतः भाषाविज्ञानमें तुलनात्मक पद्धतिका अध्ययन करते समय, इस बातको कभी नहीं भूलना होगा कि संबन्ध मुख्यतः भाषाओंकी संघटनाका होता है।

तुलनात्मक अध्ययन दो या अधिक भाषाओंको लेकर किया जा सकता है। इस तरहका अध्ययन कोरा विवरणात्मक भी हो सकता है। हिन्दी तथा अँगरेज़ीकी संघटनाके यथास्थित रूपको लेकर तुलनात्मक दृष्टिसे लिखे गये व्याकरणमें इस तरहकी पद्धति पाई जा सकती है। किन्तु तुलनात्मक अध्ययनमें प्रायः ऐतिहासिक दृष्टिसे परस्पर संबद्ध भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यह एक ही भाषाके परवर्ती रूपोंके साथ तुलनात्मक दृष्टिसे किया गया हो, या अनेकोंके साथ। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशका तुलनात्मक अध्ययन एक ढंगका होगा, संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिनका दूसरे ढंगका। ऐतिहासिक क्रमको ध्यानमे रखते हुए एक साथ कई भाषाओंकी विकसित दशाका भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। जहाँ तक भाषाओंके आजके रूपका प्रश्न है, उनका कथ्य [Spoken] रूप ही अपनाना ठीक होगा। पुरातन रूपोंके लिए प्राचीन साहित्यकी शरण लेनी पड़ती

है, यद्यपि पुरातन कथ्य रूपका पूरा पता उससे नहीं चलता और कभी-कभी तो भ्रान्ति भी होनेकी संभावना होती है। हम एक उदाहरण ले लें, प्राकृत व्याकरण, प्राकृत साहित्य तथा अपभ्रंश साहित्यके अनुसार संस्कृत न परवर्ती कालमें ण [मूर्धन्य या प्रतिवेष्टित] हो गया था। आज जिन भाषाओं-में—सिन्धी, पंजाबी, गुजराती व राजस्थानीमें 'ण' ध्वनि पाई जाती है, वहाँ यह ध्वनि प्रायः स्वरमध्यगतरूपमें पाई जाती है, तथा राजस्थानी कथ्य रूपकी साक्षीपर मैं यह भी कह सकता हूँ कि जहाँ कहीं यह ध्वनि पदान्त [Final] पाई जाती है, वहाँ भी इसके बाद 'अ' (ə) श्रुति उच्चरित होती है। इन भाषाओंमें जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ण ध्वनि पदादि [initial] रूपमें नहीं पाई जाती। प्रश्न होना संभव है, कि पदादि ण ध्वनि प्राकृत तथा अपभ्रंशमें कथ्य [Spoken] रूपमें पायी जाती थी, या नहीं? लिखित रूपमें चाहे वह पदादि ध्वनि ण ही रही हो, पर क्या उसका उच्चारण मूर्धन्य था? जहाँ आज ण ध्वनि पायी जाती है वहाँ पदादिमें यह ध्वनि नहीं पायी जाती, जब कि पदादिमें वर्त्स्य न पाया जाता है, जब कि प्राकृत और अपभ्रंशमे ण मिलता है। प्राकृतका एक देशज शब्द है णवरं [सं० केवलं]; इसका विकसित रूप राजस्थानीकी मेवाड़ी विभाषामें नवरो [बेकाम, आलसी, ठाला] है, जहाँ प्रथम ध्वनि मूर्धन्य न होकर वर्त्स्य है। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। मेरा ऐसा अनुमान है कि प्राकृत-अपभ्रंशमें संस्कृतका स्वर मध्यगत [Intervocalic] न तो ण हो गया था, किन्तु पदादि न का उच्चारण वर्त्स्य ही था। लिपि तथा प्राकृत व्याकरणके नियमोंमें समानता लानेके लिए इसे भी ण ही लिखा जाने लगा हो, तथा इस प्रकार पदादि संस्कृत न भी ण के रूपमें विकसित माना जाने लगा हो। कुछ भी हो, हम केवल अनुमान भर कर सकते हैं, प्राचीन उच्चारणोंके बारेमें कुछ निश्चित मत देना, कभी-कभी खतरेसे खाली नहीं।

तो, अनेक भाषाओंके क्रमिक विकासका तुलनात्मक अध्ययन करते

समय हम कई तरहकी भाषाएँ पा सकते हैं । कई भाषाएँ आरम्भसे अबतक अविच्छिन्न रूपमें मिलती हैं, कई बीच तक आती है पर बादमें रुक जाती हैं या लुप्त हो जाती हैं, कई भाषाओंका विकास सर्वथा नवीन है, तथा कई प्राचीन हैं किन्तु उनका साहित्य बहुत बादसे उपलब्ध होता है । तुलनात्मक अध्ययनमें हमें इन सबका समुचित प्रयोग करना पड़ता है । इसे हम एक रेखाचित्रसे स्पष्ट कर दें । हमें क, ख, ग, घ, ङ, इन पाँच भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन करना है, इन्हें हम क्रमशः हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, भोजपुरी और बँगला समझ लें । इसमें प्रथमका अखण्ड प्रवाह संस्कृतसे शौरसेनी, अपभ्रंश होता हुआ आज तक माना जाता है; किन्तु मध्यकालीन साहित्यपर क, ख, ग तीनों भाषाओंका समान अधिकार है, साथ ही ग का साहित्य, जहाँ तक उसकी भाषागत निजी विशेषताका प्रश्न है, १६ वीं शतीसे उपलब्ध है । भाषा घ तथा ङ की परम्परा सर्वथा भिन्न है । एक मागधीसे प्रभावित कोसलीकी परवर्ती प्रकृति है, दूसरी मागधीकी प्रतिनिधि । साथ ही घ साहित्यशून्य-सी है, इसके लिखित पुरातन साहित्यका अभाव ही है, जब कि ङ का प्राकृतकालीन साहित्य न होनेपर भी अपभ्रंश कालसे साहित्य उपलब्ध है और चौदहवीं शतीसे निरन्तर साहित्यिक धारा बहती रही है ।

क ख ग घ ङ

कालक्रम

वै. सं. — ईसासे पूर्वकी स्थिति

प्रा. — ईसवी २०० से ६०० तक

ईसवी ६०० से ११०० तक

अप. — ईसवी ११०० से १६०० तक

आधु. — ईसवी १६०० के बाद २० वी शती

यहाँ हमने क, ख आदि भाषावाली रेखाको बीचमें—रेखासे काटा है, जो लिखित साहित्य किस कालका उपलब्ध होता है, इसका संकेत करती है। घ भाषाका लिखित साहित्य नहीं मिलता, इसलिए वह रेखा कहीं नहीं कटी है।

तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें दो तरहकी सरणियाँ अपनाई जाती हैं। प्रथम सरणि प्राचीन [संस्कृत] भाषाओंसे नीचेकी ओर आती है। उदाहरणार्थ, हिन्दीका अध्ययन करनेके लिए संस्कृतसे हिन्दीकी ओर बढ़ना। दूसरी पद्धति यह है कि पहले हिन्दीका विवरणात्मक दृष्टिसे वैज्ञानिक अध्ययन कर लें, तदनन्तर उसके ऐतिहासिक विकासके लिए संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशके विकासका अध्ययन कर हिन्दीकी प्रकृतिको तदनुरूप विवेचनाका विषय बनायें। आजके भाषावैज्ञानिक इस द्वितीय पद्धतिका उपयोग ही विशेष वैज्ञानिक मानते हैं। यह बात निश्चित है कि इस तरहकी प्रणालीका आश्रय हम आज बोली जानेवाली भाषाओंके अध्ययनके लिए ही ले सकते हैं। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशके लिए तो हमें पहली पद्धतिका ही आश्रय लेना होगा। साथ ही दूसरी पद्धति जीवित भाषाके व्यवहृत तथा कथ्य रूपको प्रधानता देगी, प्रथम पद्धतिका एकमात्र आधार लिखित साहित्य होता है। लिखित साहित्यके आधारपर की गई भाषाशास्त्रीय गवेषणाको इसीलिए नव्यतम भाषाशास्त्री, 'लिंग्विस्टिक्स' कहना ठीक नहीं समझते। साथ ही वे 'लिंग्विस्टिक्स' तथा 'फाइलोलोजी' को परस्पर पर्यायवाची भी नहीं मानते। लिखित साहित्यके आधारपर भाषाओंके तुलनात्मक व्याकरण अथवा तुलनात्मक पदरचनाशास्त्रको वे 'फाइलोलोजी' कहते हैं, उच्चरित भाषाके आधारपर की गई गवेषणाको "लिंग्विस्टिक्स"। प्रस्तुत पुस्तिकामें अब तक अधिकतर विद्वानोंके द्वारा आदृत इस मतको ही माना गया है कि 'फाइलोलोजी' तथा 'लिंग्विस्टिक्स' को पर्यायवाची माननेमें कोई ग़लती नहीं। भाषा-शास्त्रियोंके बहुमतकी ऐसी ही धारणा है। संस्कृतका अध्ययन यहाँपर प्रथम पद्धतिका आश्रय लेकर उपस्थित किया गया है।

भाषाशास्त्रके तीन अंग हैं—(१) ध्वनिविज्ञान, (२) पदविज्ञान, तथा (३) अर्थविज्ञान। किसी भी भाषाका अध्ययन इन तीन अंगोंके आधारपर किया जाता है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार अर्थविज्ञानकी दिशा स्वतन्त्र विज्ञानके रूपमें मानी जानी चाहिए। यही कारण है कि किसी भाषाके विश्लेषणमें अधिकतर भाषाशास्त्री ध्वनि तथा पदरचनाका ही विचार करते हैं, अर्थविज्ञानको छोड़ देते है। वाक्यरचना वैसे पदरचनाका ही अंग है, किन्तु कुछ विद्वान् इसे अलग तत्त्व मानते हैं।

१–ध्वनिविज्ञान

ध्वनिविज्ञानके अन्तर्गत तीन भाग माने जाते है :—(१) ध्वनियन्त्रोंका अध्ययन, (२) ध्वनियोंका अध्ययन, (३) ध्वनियोंके परिवर्तन सम्बन्धी नियमोंका अध्ययन। ध्वनियन्त्रोंका अध्ययन सामान्य भाषाशास्त्र [General linguistics] के अन्तर्गत होता है। ध्वनियोंके उच्चारणमें मुखके कौन-कौन भाग व्यवहृत होते हैं, तथा उनकी किस-किस दशामें कौन-कौन ध्वनि उच्चरित होती है, इसका अध्ययन होता है। इसीके साथ ध्वनियोंके उच्चारणके समय किये गये बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्नों तथा ध्वनियोंके स्थान तथा करणका विवेचन होता है। नाद, श्वास, घोष, अघोष, महाप्राण तथा अल्पप्राण आदि ध्वनियोंका परस्पर भेद ध्वनियोंके उद्भावक यन्त्रोंकी तत्तत् स्थितिके कारण ही होता है। दूसरे भागके अन्तर्गत किसी निश्चित भाषाकी ध्वनियोंकी विवेचना की जाती है। किसी भाषाके अन्तर्गत कितनी ध्वनियाँ पाई जाती हैं? उनमें स्वर तथा व्यञ्जन तथा अन्य अवान्तर भेदोंका विश्लेषणकर उनके स्थान तथा करणकी विवेचना की जाती है। जीवित भाषाओंमें ध्वनियोंकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकृतिको उपन्यस्त करनेके लिए कृत्रिमतालु, कोयमोग्राफ आदि यान्त्रिक साधनोंका उपयोग किया जाता है। इसी अंगके अन्तर्गत व्यस्त ध्वनियों तथा उनके संयुक्त रूपोंका भी अध्ययन किया जाता है, तथा अनेक (दो या अधिक) ध्वनियाँ समस्त रूपमें एक दूसरी ध्वनिको

कैसे विकृत कर देती हैं, इसका अध्ययनकर तत्तत् भाषाके सम्बन्धमे नियमों-को अवतारणा की जाती है।

ध्वनिविज्ञानका तीसरा अंग ऐतिहासिक दृष्टिसे किसी भाषाकी ध्वनियोंका अध्ययन तथा उसके अनुकल नियम निबद्ध करना है। इसीके अन्तर्गत हम ध्वनियोंके अनेक प्रकारके परिवर्तनकी मीमांसा करते हैं। वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविकार, वर्णविपर्यय, समीकरण, विषमीकरण जैसे रूपोंका अध्ययन किया जाता है। संस्कृतसे प्राकृतमें, या संस्कृतसे हिन्दीमें कौन-कौन ध्वनियों-का किस-किस प्रकारका परिवर्तन हुआ, यह देखकर उसके आधारपर निश्चित ध्वनिनियमोंकी अवतारणा की जा सकती है। वैसे भाषाशास्त्रके ध्वनिनियम अन्य वैज्ञानिक नियमोंकी भाँति नितान्त अपवादरहित नहीं होते, यह बात ध्यान देनेकी है।

२–पद्रचना

पदरचनाके अन्तर्गत किसी भी भाषाकी पदसंघटनाका अध्ययन किया जाता है। इस विभागके अन्तर्गत भाषाके व्याकरणका अध्ययन होता है, पर इतना होनेपर भी परम्परागत व्याकरणकी शैलीमे, तथा इसमे महान् अन्तर होता है। परम्परागत व्याकरण, किसी भी भाषामें कौन-कौन रूप पाये जाते हैं, अमुक शब्दके एकवचन, द्विवचन या बहुवचनके रूप कैसे होते हैं, तथा अमुक धातुके अमुक लकारके रूप कैसे होते हैं, यहीं तक सीमित रहता है। भाषाशास्त्रका पदविज्ञान प्रमुख महत्त्व इस ओर देता है कि अमुक भाषामें इस तरहके रूप क्यों निष्पन्न होते है। यही कारण है, कई ऐसी बातें जिन्हें वैयाकरण अधिक उपादेय समझता है, उसके लिए उपेक्षित होती हैं, तथा कई ऐसी बातें जिन्हे वैयाकरण उपेक्षित समझता है, उसके लिए महत्त्वपूर्ण होती हैं। यही पद्धतिभेद व्याकरण तथा पदरचनाशास्त्रके अध्य-यनको भिन्न बना देता है। इस पुस्तिकामें संस्कृत भाषाका अध्ययन इसी दृष्टिसे है। अतः यहाँ संस्कृतकी पदरचनापर भाषाशास्त्रीय ढंगसे ही संकेत मिलेगा। संस्कृत व्याकरणकी दृष्टिसे न लिखी जानेके कारण इस पुस्तिकामें

शब्दों या धातुओंके रूपोंकी पूरी उद्धरणी न मिलेगी, वह कहीं व्याकरण ग्रन्थसे देखी जा सकती है। संस्कृत पदरचनामें संस्कृत सुप्, तिङ्, कृदन्त, तथा तद्धित प्रत्यय, उनके अनेक रूप कहाँसे आये हैं, किस प्रकार इनके समान या समानान्तर रूप ग्रीक, लैंतिन तथा अवेस्तामे पाये जाते हैं, इसीका विशद विवेचन पुस्तिकाके आगामी पृष्ठोंमे मिलेगा। अतः संस्कृत व्याकरण-की पद्धतिपर ग्रन्थकी रचना अपेक्षित न थी।

प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रा० भा० यू०के कल्पित रूपकी विशेषताओंका संकेत करते हुए, उस आदि-स्रोतकी प्रकृति उपन्यस्त की गई है, जो संस्कृत तथा अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओंकी एकसूत्रता है। तदनन्तर भाषाशास्त्रीय दृष्टिके आधारपर ही अवेस्ता तथा ऋग्वेदकी भाषाओंकी तुलना की गई है। अभी हाल हीमे डॉ.सी. कुन्हन राजाने अवेस्ता तथा ऋग्वेदकी तुलना करते हुए उनकी संस्कृतिको समान माननेकी प्रचलित भ्रान्तिका उल्लेख किया है, तथा ऐसी भ्रान्तिको अहितकर बताया है। पर जहाँ तक इन दोनोंके शुद्ध भाषाशास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययनका प्रश्न है, वे इसका विरोध नहीं करते। इस पुस्तकमे अवेस्ता तथा ऋग्वेदकी तुलना भाषाको दृश्यबिन्दु बनाकर ही की गई है, संस्कृतिको नहीं, तथा संस्कृतिकी समानता वाली बातें, जिन्हें डॉ. कुन्हन राजाने भ्रान्त कहा है, यहाँ न आने पाई है। वैदिक संस्कृत तथा अवेस्ताकी सभ्यता निःसन्देह भिन्न थी, किन्तु उनकी भाषा एक-दूसरेके बड़ी नज़दीक है, इससे इन्कार नही किया जा सकता। इसी सम्बन्धमें डॉ राजा-ने ऋग्वेदकी तिथिके प्रश्नको फिरसे उठाया है। ऋग्वेदकी तिथिके विषयमें अनेक मत होनेके कारण निश्चित मत अभी तक स्थिर न हो सका है। यही कारण है, मैंने यहाँ तुलनात्मक भाषाशास्त्रियोंके द्वारा आदृत मतको ही लिया है। यह मत मेरा अपना तो है नहीं, और न इस मतका संतोषपूर्ण खण्डन ही हो सकता है।

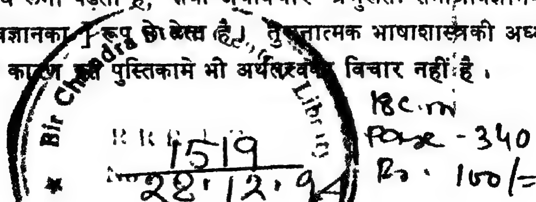
संस्कृतकी भागीरथीके आदिस्रोतसे लेकर आज तक बहते हुए अखण्ड प्रवाहकी रूपरेखा प्रस्तुत करना ही यहाँ लक्ष्य रहा है। उसका विशाल

अध्ययन तो कठिन दुरूह तथा वर्षोंका कार्य है। संस्कृतकी ध्वनि सम्बन्धी तथा पदरचना सम्बन्धी खास-खास विशेषताओंका परिचय तथा उनके परवर्ती विकासका परिचय देनेका कारण भारतीय आर्य भाषाओंकी अखण्ड परम्पराका संकेत करना है।

ध्वनिविज्ञान तथा पदरचना [पदविचार]के अतिरिक्त कुछ लोग वाक्यविचारको अलगसे विषय मानते हैं, किन्तु अधिकतर विद्वान् इसका समावेश पदरचनाके अन्तर्गत ही करते हैं तथा इसे पदविज्ञान [Morphology] का ही एक अंग समझते हैं। प्रा. भा. यू.की कल्पित वाक्यरचनाको वैज्ञानिक मानना भ्रान्ति होगा, फिर भी कुछ समानताएँ ग्रीक, लैतिन तथा संस्कृत वाक्य रचनाओंमें, उनके कारक प्रयोगोंमें, उपसर्गो, परसर्गों, परस्मैपदी या आत्मनेपदी प्रयोगोंमे ढूँढ़ी जा सकती हैं, जो बड़ी मनोरंजक है। संस्कृतका वाक्यविचार करते समय बड़े संक्षेपमें कारक तथा पदोंका विचार तथा इन कथित समानताओंका संकेत आवश्यक हो जाता है।

३–अर्थविज्ञान

भाषाविज्ञानका तीसरा अंग अर्थविज्ञान है। अर्थविज्ञानके अध्ययनको कुछ भाषाशास्त्री अलग अध्ययनका क्षेत्र मानते हैं, तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययनमें उसे सम्मिलित नहीं करते। जहाँ तक सैद्धान्तिक भाषाशास्त्रका प्रश्न है, अर्थविज्ञानका अध्ययन उन्हें अभीष्ट है, किन्तु किसी भाषाके विवरणात्मक, ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययनमें अर्थ-विचार प्रायः छोड़ दिया जाता है। इसके दो कारण हैं; भाषाकी बाह्य संघटना प्रमुखतः ध्वनि तथा पदरचनासे ही सम्बद्ध है, [यद्यपि अर्थ भाषाका आत्मतत्त्व है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता], दूसरे भाषाके अर्थविचारमें भाषाशास्त्रीको अपने क्षेत्रको छोडकर मनोविज्ञान, इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य आदि अनेक क्षेत्रोंका आश्रय लेना पड़ता है, तथा अर्थविचार प्रमुखतः समाजविज्ञानका [तथा मनोविज्ञानका] रूप हो जाता है। तुलनात्मक भाषाशास्त्रकी अध्ययन प्रणालीके कारण इस पुस्तिकामें भी अर्थतत्त्वका विचार नहीं है।



अर्थविज्ञानके साधारणतः दो अंग माने जा सकते है:—१. सैद्धान्तिक अर्थविज्ञान, २. व्यावहारिक अर्थविज्ञान। सैद्धान्तिक अर्थविज्ञानके अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रश्न शब्द तथा अर्थके सम्बन्धपर उपस्थित होना है, दोनोमे कोई साक्षात् सम्बन्ध है भी या नहीं। कई विद्वान् शब्द तथा अर्थमे कोई साक्षात् सम्बन्ध नही मानते। दूसरे विद्वान् इस सम्बन्धको नित्य मानते है। अर्थ-प्रतीतिका कारण मनोवैज्ञानिक है या सामाजिक, यह प्रश्न भी उपस्थित होता है, तथा भाषाशास्त्री अधिकतर इसके सामाजिक एवं प्राकरणिक [Contetxual] महत्त्वपर ही जोर देते है। इसके अनन्तर अर्थविज्ञान-का दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय अर्थ-प्रकार तथा शब्द-शक्तियोमे सम्बद्ध है, तथा इसी सम्बन्धमे अर्थ जातिनिष्ट होता है या व्यक्तिनिष्ठ इसपर भी दो विरोधी मत [illegible] जाते है।[1]

भाषाशास्त्रके क्षेत्रमे अर्थविज्ञानको प्रतिष्ठापित करनेका श्रेय फ्रेंच भाषा-शास्त्री ब्रेआल [Breal] को है। ब्रेआलने अर्थविचारके अन्तर्गत भाषाके परवर्ती विकासमे होनेवाले अर्थ-परिवर्तनोके प्रकारो तथा उनके मनोवैज्ञानिक कारणोको उपन्यस्त किया है। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "अर्थविज्ञानपर निबन्ध" [Essai sur la Semantique] मे लैटिन भाषाके शब्दोको लेकर आधुनिक रोमान्स भाषाओ, फ्रेंच, इतालियन, स्पेनिश आदिमे होने-वाले आर्थिक परिवर्तनोका अध्ययन किया। इसके आधारपर उसने अर्थ-

---

१. शब्द तथा अर्थके सम्बन्धका यह विचार भाषाशास्त्रमें इतना अधिक नहीं पाया जाता, जितना दर्शन, न्याय तथा मनोविज्ञानके ग्रन्थों-में। भारतमें इसका विचार दर्शन, व्याकरण तथा साहित्यशास्त्रमें हुआ है। इस विषयका विशेष विवेचन लेखकने अपने पी. एच. डी. के लिए स्वीकृत प्रबन्ध "शब्दशक्ति-विवेचन" में किया है, जो नागरीप्रचारिणी सभा, काशीसे प्रकाशित हुआ है। इसमें पाश्चात्योंके एतत्सम्बन्धी विचारोंका भी विवेचन किया गया है।

परिवर्तनके प्रकारोंका उल्लेख करते हुए, अर्थविस्तार, अर्थसंकोच, अर्थ-विपर्यय, अर्थादेश, अर्थापदेश आदिका संकेत किया है।

४-शब्द-भाण्डार

कुछ विद्वानोंके मतानुसार भाषाशास्त्रका एक और अंग है, शब्द-भाण्डार। पर अधिकतर भाषाशास्त्री तुलनात्मक भाषाशास्त्रमे इसको भी विशेष महत्त्व नहीं देते। वैसे शब्द-भाण्डारका वैज्ञानिक अध्ययन किसी भाषाकी अपनी संघटना जाननेमें बड़ा काम देता है। यही नहीं, किस भाषा-मे कितने विजातीय तत्त्व हैं, इसका संकेत भी प्रमुखतः शब्द-भाण्डारसे ही लगता है। संस्कृतमें ही कई मुण्डा तथा द्राविड़ शब्द पाये जाते हैं। विद्वानोंने इसका अध्ययनकर उन शब्दोंकी तालिका भी उपन्यस्त की है। संस्कृतके अध्ययनमे अन्तिम परिच्छेदमें इन शब्दोंका परिचय दिया गया है। प्रत्येक भाषामें कई कारणोंसे, जिनमे प्रमुख कारण ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक होते हैं, नये शब्द स्थान पाते जाते हैं। जब वे आम बोल-चालकी भाषाके अंग बन जाते है, तो भाषावैज्ञानिकके अध्ययनके विषय बन जाते हैं। यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि किसी भाषाके कोश-भाण्डारका अध्ययन भाषाशास्त्री उस रूपमे नही करता, जिस रूपमें कोषकार [Lexicographer] उसका अध्ययन करता है।

[आ]

भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाओंका संक्षिप्त विवरण

समस्त विश्वकी भाषाओंको कई परिवारोंमें विभक्त किया जाता है। एक परिवारकी सभी भाषाएँ एक दूसरेसे इतिहास तथा पदरचना दोनों दृष्टियोंसे घनिष्ठतम सम्बन्ध रखती हैं। विश्वकी इन भाषाओंमें अपनी-अपनी विशेषताएँ पायी जाती हैं। उदाहरणके लिए चीनी भाषा एकाक्षर भाषा है, तथा उसमें सभी शब्द अर्थतत्त्वके ही बोधक हैं, सम्बन्धतत्त्वके बोधनके लिए वहाँ शब्दका वाक्यगत स्थान ही साधन बनता है। चीनी ही नहीं, अन्य

कई भाषाएँ तिब्बती, स्यामी, बर्मी आदि भी इसी परिवारकी भाषाएँ हैं। इन भाषाओंको परिवारकी दृष्टिसे एकाक्षर परिवारकी, तथा पदरचनाकी दृष्टिसे अयोगात्मक या व्यासप्रधान भाषाएँ [Isolating languages] कहा जाता है। दूसरे ढंगकी भाषाएँ द्राविड़ परिवारकी हैं, जो भारतके दक्षिण भागमें बोली जाती हैं, ये भाषाएँ पदरचनाकी दृष्टिसे प्रत्ययप्रधान या अश्लिष्ट भाषाएँ [Agglutinating languages] होती हैं। इन भाषाओंमें अर्थतत्त्व या शब्द तथा प्रत्यय (संबन्धतत्त्व) मिलाकर किसी भावकी प्रतिपत्ति कराते हैं। इस प्रकार इन भाषाओंमें पद = शब्द + प्रत्यय। किन्तु शब्द [अर्थतत्त्व] तथा प्रत्यय [सम्बन्धतत्त्व] पदमें स्पष्टतः भिन्न-भिन्न परिलक्षित होते हैं। तीसरी कोटिकी भाषाएँ प्रश्लिष्ट कोटिकी होती हैं। इन भाषाओंमें शब्द एक दूसरेसे इतने श्लिष्ट हो जाते हैं कि कभी पूरा वाक्य ही समासान्त पद हो जाता है। इन भाषाओंमें समासान्तपद [या वाक्य] = शब्द + शब्द + शब्द + ...। इन भाषाओंको इसी विशेषताके कारण समासप्रधान भाषाएँ भी कहा जाता है। अमेरिकाके आदि निवासियों [रेड-इण्डियन्स]की भाषाएँ इसी कोटिकी हैं।

इनके अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग विभक्तिप्रधान [Inflexional] भाषाओंका है। इन भाषाओंमें अर्थतत्त्वके साथ विभक्ति रूप सम्बन्धतत्त्वको जोड़कर 'पद'की निष्पत्ति की जाती है। यह विभक्ति किन्हीं-किन्हीं भाषाओंमें आभ्यन्तर होतीं हैं, किन्हींमें बाह्य। जिनमें यह आभ्यन्तर होती हैं, वे अन्तर्विभक्तिप्रधान भाषाएँ होती हैं, जैसे सेमेटिक-हेमेटिक परिवारकी भाषाएँ। अरबीमें अन्तर्विभक्तिके कारण अर्थतत्त्वके अन्दरके स्वरोंका परिवर्तन करनेसे अलग-अलग सम्बन्धतत्त्वोंका भावबोधन करा दिया जाता है। बहिर्विभक्तिप्रधान भाषाओंमें विभक्तियाँ अर्थतत्त्व (शब्द) के बादमें जुड़ती हैं, तब सुबन्त तथा तिङन्त पदोंकी निष्पत्ति होती है। विभक्तिप्रधान भाषाओंमें अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व एक दूसरेके साथ इतने घुलमिल जाते हैं कि अलग दिखाई नहीं देते, साथ ही विभक्तिके कारण अर्थतत्त्वमें भी (कभी-कभी)

विकार हो जाता है। भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाएँ इसी द्वितीयकोटि-की विभक्तिप्रधान भाषाएँ है।

अगले परिच्छेदमें हमने इसको स्पष्ट किया है कि भारतयूरोपीय परिवार-की कल्पना क्यों की गई है, तथा इस परिवारमे कौन-कौन-सी समानताएँ पाई जाती है, जो इन्हे एक ही परिवारके अन्तर्गत रखती हैं। यहाँ हम केवल इस परिवारके वर्गों तथा उन वर्गोंकी प्रमुख भाषाओंका संकेत दे देना ठीक समझते हैं। भारत-यूरोपीय परिवारको कई नाम दिये जाते हैं। पहले इसे भारत-जर्मनी नाम दिया गया था, कुछ लोगोने इसे 'आर्य'-परिवार भी कहा था किन्तु ये नाम संकुचित है। आजकल इसे भारत-यूरोपीय [Indo-European] परिवार ही कहा जाता है। हिन्दीमे इसका संक्षिप्त रूप भारोपीय भी चलता है, पर मैं भारत-यूरोपीय शब्दका प्रयोग करना ही विशेष ठीक समझता हूँ। इस परिवारकी भाषाएँ विश्वमें सबसे अधिक संख्याके द्वारा बोली जाती है, तथा भौगोलिक विस्तारकी दृष्टिसे इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके साथ ही प्राचीनतम उपलब्ध साहित्यकी दृष्टिसे इस परिवारका अत्यधिक महत्त्व है। वैसे इससे भी पुरानी भाषाएँ थी, जिनके पास साहित्य रहा होगा, पर वे या तो स्वयं लुप्त हो गई है, या उनका साहित्य लुप्त हो गया है। संस्कृतकी वैदिक निधि इसीलिए सबसे पुराना साहित्य है, जो इस परिवारकी भाषावैज्ञानिक महत्ताका अन्यतम प्रतिष्ठापक है। इसके साथ ही आज भी विश्वमे इस परिवारकी भाषाओंका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है तथा वे सभ्य जातियोंकी भाषाएँ मानी जाती हैं। अंगरेज़ी, फ्रेंच, रूसी, स्पेनिश तथा हिन्दी आज अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। अंगरेज़ी तो जैसे आज भी समस्त विश्वकी उप-भाषा-सी बनी हुई है। मध्यएशियामें ठीक यही स्थान फ्रेंचने, दक्षिण अमेरिकामे स्पेनिशने तथा उत्तरी एशियामे रूसीने प्राप्त कर रक्खा है। इस दृष्टिसे हिन्दी पिछड़ी कही जा सकती है। किन्तु हिन्दीकी सांस्कृतिक परम्परा उसके विस्तार तथा विकासमें निश्चय ही योग देगी तथा वह दिन दूर नहीं, जब हिन्दी अन्त-र्राष्ट्रीय विश्वमें अपना समुचित स्थान प्राप्त कर सकेगी।

भारत-यूरोपीय परिवारकी भाषाओंको निजी-निजी विशेषताओंके आधारपर दस शाखाओंमें विभक्त किया गया है। इनमेंसे दो वर्गोंको छोड़कर बाकी अन्य शाखाओंकी भाषाएँ आज भी बोली जाती हैं। इनमेंसे कई वर्गोंकी भाषाएँ पुन: उपशाखाओंमें विभक्त की जाती हैं। सर्वप्रथम इन समस्त भाषाओंको दो वर्गोंमें बाँटा जाता है :—सतम् वर्ग तथा केन्तुम् वर्ग। भारत-यूरोपीय परिवारमें कतिपय शाखाओंकी भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें उन स्थानपर 'क' पाया जाता है, जहाँ संस्कृतमें 'श' तथा अन्य कई योरोपीय भाषाओंमें 'स' पाया जाता है। प्रा० भा० यू० तालव्य क्य, ग्य आदि ध्वनियाँ भारत-ईरानी शाखा, अल्बेनियन, बाल्तोस्लाविक आदिमें सोष्म स [श], ज, ज॰ का रूप ले लेती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रा० भा० यू० में दो तरहकी विभाषाएँ रही होंगी तथा इस विभाषाके बोलनेवाले आस-पास रहते थे तथा इनके ही वंशजोंकी भाषाएँ भारत, ईरान, आर्मीनिया, रूस आदि स्थानोंपर बोली जाती हैं। किन्तु इस वर्गके दूरकी विभाषाओंमें इन ध्वनियोंका विकास नहीं हुआ और वहाँ वे कण्ठ्य रूपमें स्पर्श ही बनी रही हैं। उदाहरणके लिए लैतिनमें 'सौ'के लिए प्रयुक्त 'केन्तुम्' [Centum] शब्दमे 'क' ध्वनि पाई जाती है, जबकि संस्कृत तथा अवेस्तामें यह क्रमशः सोष्म 'श' तथा 'स' हो गई है तथा वहाँ इसका 'शतम्' तथा 'सतम्' रूप देखा जाता है। इन दोनों वर्गोंकी भाषाएँ निम्न हैं :—

१. सतम् वर्ग—भारत-ईरानी शाखा, अल्बेनियन शाखा, आर्मेनियन शाखा, बाल्तोस्लाविक शाखा।

२. केन्तुम् वर्ग—ग्रीक शाखा, इतालिक शाखा, केल्तिक शाखा, हित्ताइत, जर्मनिक या ट्यूटोनिक शाखा, तोखारी।

हम इन्हींका संक्षिप्त विवरण यहाँ देंगे।

१. भारत-ईरानी शाखा—इस शाखामें दो उपशाखाएँ हैं—भार-

तीय आर्य शाखा तथा ईरानी शाखा। वैसे एक तीसरी शाखाकी भी कल्पना की जाती है,—दरदशाखा।

भारतीय आर्य शाखाकी प्राचीनतम भाषा संस्कृत है, जिसके प्राचीन साहित्यके रूपमे वैदिक मन्त्र उपलब्ध है, जो इस परिवारकी प्राचीनतम साहित्यिक निधि है। इस शाखाका साहित्य ईसासे लगभग डेढ-दो हज़ार वर्ष पुराना प्राप्त होता है। भारतीय आर्यशाखाकी परवर्ती भाषाएँ प्राकृत तथा अपभ्रंशकी स्थितिसे गुजरती हुई आजकी भारतीय आर्य भाषाओके रूपमे विकसित हुई है, जिनका विस्तृत उल्लेख इस पुस्तिकाके अन्तिम परिच्छेदमे देखा जा सकता है।

ईरानी उपशाखाके अन्तर्गत प्राचीनतम भाषा अवेस्तामे उपलब्ध होती है। अवेस्तामे वैदिक मन्त्रोकी तरह ही अनेक कालकी भाषा है तथा इनमें प्राचीनतम भाषा ईसासे लगभग ८०० वर्ष पूर्वकी कही जा सकती है। प्राचीन ईरानीको दो भागोमे विभक्त किया जाता है,—एक उसका प्राचीनतम रूप जो अवेस्तामे उपलब्ध होता है, दूसरा उसके पासका रूप जो अकेमेनिद राजाओके क्यूनिफोर्म शिलालेखोमे प्राप्त होते हैं। इनमेसे दारिउस प्रथमके शिलालेख ५२१ ई० पू० के माने जाते है। ईरानी शाखाकी परवर्ती भाषा पह्लवी है। इसके भी सोग्दी, साका, पार्थियन आदि वैभाषिक भेद पाये जाते हैं। यह स्थिति ई० पू० तीसरी सदीसे ईसाकी दसवी सदी तक मानी जा सकती है। पह्लवीकी अवेस्ताकी टीकाएँ तथा स्वतन्त्र साहित्यिक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। आजकी भाषाओमे इस वर्गमे आधुनिक फारसी, कुर्दिश, ओसेतिक, पश्तो तथा बलूची मुख्य है। इनमे साहित्यिक दृष्टिसे आधुनिक फारसीका प्रमुख स्थान है तथा उसका प्राचीनतम साहित्य ग्यारहवी सदी तक जाता है, जिसमे फिरदौसीका शाहे-नामा प्रसिद्ध है।

२. **अल्बेनियन**—अल्बेनियन भाषाका प्राचीनतम साहित्य ईसाकी चौदहवी शताब्दीका मिलता है। यही कारण है कि अल्बेनियनके प्राचीनकालिक तथा मध्यकालिक रूपोंका कुछ भी पता नहीं चलता।

३. आर्मेनियन शाखा—आर्मेनियन शाखाका साहित्य भी उतना पुराना नहीं मिलता, जितना अन्य शाखाओंका। फिर भी अल्बेनियन शाखा-की अपेक्षा इसका साहित्य अधिक पुराना मिलता है। अल्बेनियन भाषाका साहित्य ईसाकी पाँचवी सदीमे निरन्तर उपलब्ध होता है। यही कारण है कि अल्बेनियन भाषाकी अपेक्षा आर्मेनियन भाषाकी मध्यकालीन स्थितिके विषयमे हमलोग बहुत अधिक जान सकते है। इधर कुछ दिनोसे भाषा-शास्त्रियोंका अल्बेनियन तथा आर्मेनियन भाषाओंकी ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है। वैसे इन भाषाओकी ओर सबसे पहले फ्रेंच विद्वान् मेयेका ध्यान आकृष्ट हुआ था तथा उसने इन भाषाओंका वैज्ञानिक अध्ययन किया था।

४. बाल्तो-स्लाविक—बाल्तो-स्लाविक या बाल्तो-स्लावोनिक सतम् वर्गकी अन्य शाखा है। इसके अन्तर्गत भारत-ईरानी शाखाकी तरह ही युगल उपशाखाओका अस्तित्व है। एक उपशाखा बाल्तिक है, दूसरी स्ला-वोनिक। बाल्तिक उपशाखाकी प्राचीनतम प्रकृतिका पता नहीं लगता, किन्तु मध्यकालमे इसकी तीन विशेषताएँ रही हैं:—प्राचीन लिथुआनियन, प्राचीन लेतिश तथा प्रशियन। प्राचीन प्रशियनमे साहित्य उपलब्ध होता है; तथा यह भाषा १७ वी शताब्दी तक प्रचलित थी, किन्तु बादमे सम्भवतः जर्मनके प्रभावसे इसका लोप हो गया। लिथुआनियन तथा लेतिश आज भी बोली जाती है। भाषाशास्त्रीके लिए इनमे लिथुआनियन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतयूरोपीय वर्गकी आजकी भाषाओंमें लिथुआनियनने प्राचीन प्रकृतिको अत्यधिक सुरक्षित रक्खा है। इस दृष्टिसे इसे 'आर्ष' प्रकृतिकी भाषा कहा जा सकता है। इसमे आज भी द्विवचनके चिह्न सुरक्षित रक्खे हैं तथा विभक्तियोंका अत्यधिक प्रयोग पाया जाता है। लिथुआनियनमें आज भी छः विभक्तियाँ पाई जाती है। ध्वनियोंकी दृष्टिसे भी लिथुआनियनने आ० भारतयूरोपीय ध्वनियोंकी भी अन्य भारतयूरोपीय भाषाओंकी अपेक्षा अधिक सुरक्षित रक्खा है, उदाहरणके लिए हम निम्न शब्दोंको ले लें:—

लिथुआ०	एस्ति [Esti]	, ग्रीक	एस्ति [Esti],	संस्कृत	अस्ति
,,	एइमि [Eimi],	,,	एइमि [Eimi]	,,	एमि
,,	उग्निस् [Ugnis],	लैतिन	इग्निस् [Ignis]	,,	अग्निः

स्लावोनिक उपशाखाको पुनः तीन भागोंमें विभक्त किया जाता है:—दक्षिणी स्लावोनिक; पश्चिमी स्लावोनिक तथा पूर्वी स्लावोनिक। स्लावोनिक उपशाखाकी भाषाएँ बल्गेरिया, जेकोस्लेवाकिया, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, यूक्रेन तथा रूसमें बोली जाती है। इन तीन भागोंमेंसे मध्यकालीन प्रकृति प्राचीन चर्च स्लावोनिक या "प्राचीन बल्गेरियन" का विशेष महत्त्व है। प्रा० च० स्ला० दक्षिणी स्लावोनिकका मध्यकालीन रूप है। इसमे ईसाकी नवीं शतीसे लेकर १२ वीं शती तकका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध होता है। बाल्तोस्लाविक शाखाकी मध्यकालीन प्रकृतिके उदाहरण उपन्यस्त करनेके लिए भाषाशास्त्री इसी साहित्यका आश्रय लेते है। इस उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ बल्गेरियन, सर्बो-क्रोट तथा स्लोवेन है। पश्चिमी उपशाखाकी मध्यकालीन भाषा 'पोलेबियन' थी; किन्तु इसका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। इस शाखाकी आधुनिक भाषाएँ—जेक, स्लोवाक, पोलिस तथा सोर्बियन है। सोर्बियन पूर्वी जर्मनीमें लगभग दस लाख आदमियोंके द्वारा बोली जाती है तथा इस शाखाकी सबसे बड़ी भाषा है। पूर्वी स्लावोनिककी मध्यकालीन प्रकृतिका पता नहीं चलता। इसकी आधुनिक भाषाएँ [बड़ी] रूसी, सफेद रूसी, यूक्रेनियन [या छोटी रूसी] हैं। रूसी रूस देशकी राष्ट्रीय भाषा है। सफेद रूसी पोलैण्डके कुछ भागमें बोली जाती है तथा छोटी रूसी यूक्रेनमें। सोवियटकी स्थापना होनेके बाद रूसकी अन्य सभी भाषाएँ जो अब तक गिरी-पड़ी अवस्थामें थीं, साहित्यिक दृष्टिसे समृद्ध होती जा रही है।

५. **हित्ताइत**—केन्तुम् वर्गकी एक भाषा हित्ताइत है, जिसके ईंटोंके लेख तुर्कीके बोगाजकुई स्थानपर प्राप्त हुए हैं। बोगाजकुई हित्ताइत साम्राज्यकी राजधानी थी तथा यह साम्राज्य ईसासे १४ वीं श..ब्दी पूर्वतक

था। इस भाषाके विषयमें विद्वानोंकी यह मान्यता है कि यह आ० भा० यू० भाषाकी बेटी न होकर बहिन थी तथा इसमें कई ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो यह सिद्ध करती हैं कि इन दोनोंकी माँके रूपमें एक आदिम-भारत-हित्ताइत [भारत-हित्ती] भाषाकी कल्पना की जानी चाहिए। स्टर्टेवन्टने इस आदिम भारत-हित्ताइत भाषाके कल्पित रूपोंका अध्ययन किया है। हित्ताइत भाषाके आधारपर आ० भारत-हित्ताइत भाषामें चार कण्ठ-नालिक ध्वनियोंकी विवेचना की गई है, जिसका संकेत हम अगले परिच्छेदमें देंगे।

६. ग्रीक शाखा—वैदिक संस्कृतिके बाद इस परिवारकी भाषाओंका प्राचीनतम साहित्य ग्रीकका उपलब्ध होता है। ईसासे लगभग ८५० वर्ष पूर्वके होमर-साहित्यका होना इस भाषाके महत्त्वको बढ़ा देता है। साथ ही तबसे इसका साहित्य अक्षुण्ण रूपमें प्राप्त होता है। संस्कृत, लैतिन या आ० भा० यू० भाषाका विद्यार्थी ग्रीक भाषाकी अवहेलना नहीं कर सकता। जिस प्रकार भारत यूरोपीय परिवारके अध्येताके लिए संस्कृतका अध्ययन नितान्त आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन ग्रीकका भी। ग्रीक शाखाको पूर्वी ग्रीक तथा पश्चिमी ग्रीक दो उपशाखाओंमें विभक्त किया जाता है। पूर्वी ग्रीकमें कई विभाषाएँ रही हैं, पर प्रमुख एतिक या आयोनिक विभाषा है, जिसका साहित्य उपलब्ध होता है। होमरकी रचनाएँ आयोनिक ग्रीकमें ही हैं। इसी भाषाकी मध्यकालीन प्रकृति 'कोइन' या 'हेलेनिस्टिक' ग्रीकके नामसे प्रसिद्ध है तथा इसीसे आधुनिक ग्रीकका विकास हुआ है।

पश्चिमी ग्रीकमें कई विभाषाएँ रही होंगी। इस उपशाखाकी प्रमुख विभाषा 'दोरिक' है। दोरिकसे ही 'टसकोनियन बोलियों'का विकास हुआ है। ग्रीकका साहित्य अत्यधिक समृद्ध है तथा यूरोपमें लैतिनकी तरह ही ग्रीक भी सभ्य तथा विद्वान् समाजकी भाषा रही है। आ० भा० यू० की स्वर सम्पत्तिको प्राचीन ग्रीकने अत्यधिक सुरक्षित रक्खा है। अगले परिच्छेदोंमें जब हम ग्रीकके उदाहरण देंगे तथा उसकी ध्वन्यात्मकता तथा पद-

रचनाका संकेत देंगे, तो हमारा तात्पर्य प्राचीन "क्लैसिकल" ग्रीकसे ही है, आधुनिक ग्रीकसे नहीं।

७. **इतालिक**—यूरोपके पश्चिमी भागकी आधुनिक भाषाओमे इतालिक शाखा तथा ट्यूटोनिक [जर्मन] शाखाकी भाषाओका ही अधिक विस्तार पाया जाता है। इतालिक शाखाको प्रमुख भाषा लैतिन रही है, जो यूरोपमे ग्रीकके समान ही आदृत रही है, अपितु मध्यकालमे तो ग्रीकसे भी अधिक सम्मानित रही है। प्रा० भा० यू० के अध्येताके लिए लैतिनका महत्त्व भी संस्कृत व ग्रीकके समान ही है। लैतिनने संस्कृत व ग्रीककी तरह प्रा० भा० यू० पदरचना [Morphlogy] को सुरक्षित रक्खा है। इतालिक शाखाको दो उपशाखाओमे विभक्त किया जाता है :—[१] लैतिन-फालिस्कन, [२] ओस्कन-उम्ब्रियन। इनमें द्वितीय उपशाखाके प्राचीन रूप शिलालेखोमे मिलते है, किन्तु बादमें ये विभाषाएँ लुप्त हो गई हैं। प्रथम उपशाखामे दो विभाषाएँ थीं, लैतिन तथा फालिस्कन। लैतिनका साहित्य ईसासे पहलेका प्राप्त होता है। लैतिनकी परवर्ती स्थिति "वलगर लैतिन" [भ्रष्ट लैतिन] के नामसे उसी तरह विख्यात है, जैसे पतञ्जलिने अपाणिनीय प्रयोगोको "अपभ्रंश" कहा था। वस्तुत: "वल्गर लैतिन" साहित्यिक "क्लैसिकल" लैतिनकी प्राकृत थी। इसीसे फ्रेंच, स्पेनिश, पोर्चुगीज, प्रोवाँसाल, इतालियन तथा रूमानियन भाषाओंका विकास हुआ है।

८. **केल्तिक**—केल्तिक शाखामें कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती है जो लैतिन [इतेलिक शाखा] मे भी उपलब्ध होती है। इसीलिए कुछ विद्वानोंने इतालिक व केल्तिकको एक ही शाखाकी दो उपशाखाएँ माना था। इतालिक तथा केल्तिक दोनोंमे ही दो तरहके भाषावर्ग पाये जाते है, एक वर्गमें प्रा० भा० यू० 'क' परिवर्तित नहीं होता तथा 'क' ही बना रहता है, तथा दूसरेमें वह 'प' के रूपमें परिवर्तित हो जाता है। इतालिक तथा केल्तिक शाखाओंकी दूसरी समानता यह है कि इन शाखाओंमें कर्मवाच्य रूपोमे 'र्' का प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणके लिए : आयरिश

'बेरी' [Beri] का अर्थ 'ले जाना' [सं० भरति] है। इससे कर्मवाच्य रूपमें बेरी-र् [Beri-r] [वह ले जाया जाता है], बेर्ती-र् [Berti-r] [वे ले जाये जाते हैं], रूप बनते हैं। इसी प्रकार लैतिनमें भी कर्मवाच्य रूपमें 'र्' पाया जाता है। वैसे 'र्'का प्रयोग तोखारिश, हित्ताइत तथा आर्मिनियनमें भी पाया जाता है।

केल्तिक शाखामे तीन उपशाखाएँ है—[१] गेलिक या गोइदेलिक, [२] ब्रितेनिक, [३] गॉलिश। इनमे अन्तिम शाखाकी भाषाके कुछ शिलालेख प्राप्त होते हैं। इनमें कुछ स्थानों व व्यक्तियोंके नाम तथा लैतिनसे गृहीत शब्दोंका प्राचुर्य है। गॉलिश ईसाकी छठी शतीके लगभग लुप्त हो गई थी। गेलिक उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ आयरिश, स्कॉट, गेलिक, तथा मांख है। ब्रितेनिक उपशाखाकी आधुनिक भाषाओंमें वेल्श तथा ब्रेतन है। ब्रेतन फ्रांसके ब्रितेनी प्रदेशमें बोली जाती है। साहित्यिक दृष्टिसे इनमें आयरिशका साहित्य ईसाकी पाँचवीं शतीसे उपलब्ध होता है तथा वेल्शका ईसाकी नवीं शतीसे। बाक़ी भाषाएँ साहित्यिक दृष्टिसे समृद्ध नहीं हैं।

६. **जर्मन या ट्यूटोनिक शाखा**—जर्मन या ट्यूटोनिक शाखाकी भाषाएँ जर्मनी, स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, आइसलैंड, हालैण्ड तथा इङ्गलैण्डमें बोली जाती हैं। जर्मन शाखाको तीन उपशाखाओंमें विभक्त किया जाता है—[१] पूर्वी जर्मन, [२] उत्तरी जर्मन तथा [३] पश्चिमी जर्मन। पूर्वी जर्मन शाखाकी कोई भी जीवित भाषा विद्यमान नहीं है। प्राचीन साहित्यिक दृष्टिसे इसके अन्तर्गत गॉथिक भाषाके लिखित साहित्यका महत्त्व है, जो ईसाकी चौथी शताब्दीके बादसे प्राप्त होता है। भाषाशास्त्रीके लिए भारतयूरोपीय परिवारके तुलनात्मक अध्ययनमें जर्मन-शाखाकी विशेषता जाननेके लिए गॉथिक ही प्रमाणस्वरूप है। अन्य उपशाखाओंका इतना प्राचीन रूप उपलब्ध नहीं। उत्तरी जर्मनका प्राचीन रूप र्यूनिक शिलालेखों [Runic Inscription] में उपलब्ध होता है। उसका परवर्ती साहित्यिक रूप प्राचीन नोर्स या प्राचीन आइसलैंडिक भाषाके रूपमें मिलता

है। इस उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ स्वीडिश, डेनिश, नोर्वेजियन तथा आइसलैंडिक हैं।

पश्चिमी जर्मन उपशाखाका साहित्य तथा प्रचारकी दृष्टिसे बडा महत्त्व है। इस परिवारकी जर्मन भाषा तथा अँगरेज़ीने साहित्यिक समृद्धिके कारण अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली है। पश्चिमी जर्मनको दो भागोमे विभक्त किया जाता है, [१] हाई जर्मन, [२] लो जर्मन। हाई जर्मनके अन्तर्गत प्राचीन हाई जर्मन तथा आधुनिक जर्मन, डच तथा फ्लैमिश [बेलजियमकी भाषा] आती हैं। दूसरी कोटिके अन्तर्गत आंग्ल-फ्रीजियन भाषा-युगल आता है, जिसमे साहित्यिक दृष्टिसे प्राचीन अँगरेज़ी या एंग्लो-सैक्सन भाषा भी महत्त्वपूर्ण है। अँगरेज़ी तथा फ्रीज़ियन इस उपवर्गकी आधुनिक भाषाएँ है।

जेकब ग्रिमने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जर्मन भाषाके व्याकरण' [Duetsch Grammar] में हाई जर्मन तथा लो जर्मनके ध्वनिपरिवर्तनकी क्लैसिकल कालकी भाषा–ग्रीक तथा लैतिनसे तुलना करते हुए एक नियमको जन्म दिया था, जो भाषाविज्ञानमे "ग्रिमनियम"के नामसे विख्यात है। ग्रिम-नियमका सम्बन्ध भारतीय आर्य भाषाओसे किंचिन्मात्र भी नही है, न संस्कृत-से ही। इसका महत्त्व इस दृष्टिसे है कि प्रा० भा० यू० ध्वनियाँ गॉथिक तथा परवर्ती जर्मन भाषाओमें किस रूपमे परिवर्तित हुई हैं। वैसे ग्रिमके नियमका वर्नरवाला उपनियम एक दृष्टिसे थोड़ा बहुत संस्कृतके लिए उप-योगी कहा जा सकता है, क्योकि उसके कारण प्रा० भा० यू० स्वर [accent] का अनुमान लगाया जा सकता है।

१०. तोखारी—१९०४ मे चीनी तुर्किस्तानमें कुछ हस्तलेख मिले थे, जो भारत-यूरोपीय परिवारकी किसी भाषामे थे। ये हस्तलेख ईसाकी छठी शतीके लगभगसे प्राप्त होते है। इस भाषाको 'तुषार' या 'तुखार' जातिके नामपर तोखारी, तोखारिक, तोखारेग, तोखारियन, तोखारिश कई नामोंसे पुकारा जाता है। यह भाषा यद्यपि भौगोलिक दृष्टिसे 'सतम्'

वर्गकी भाषाओंके द्वारा घिरी है, तथापि केन्तुम् वर्गकी है। इसमें "सौ" के लिए "कान्त" [Kant] शब्द पाया जाता है। तोखारी भाषासे अन्य उदाहरण ये दिये जा सकते हैं:—

पातर	सं०	पितृ
मातर	सं०	मातृ
प्रोक्त	सं०	अष्ट

भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाकी मूल प्रकृति जाननेके लिए संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिनका अत्यधिक महत्त्व है। इन तीनोंने प्रा० भारतयूरोपीय भाषाकी पदरचनात्मक विशेषताओंको अधिकाधिक रूपमें सुरक्षित रक्खा है। ध्वनियोंकी दृष्टिसे संस्कृत प्रा० भा० यू० की प्रकृतिको अधिक सुरक्षित रख सकी है, यद्यपि प्रा० भा० यू० स्वरध्वनियाँ सस्कृतमे अत्यधिक संकुचित हो गई है। संस्कृतने पाँच प्रकारकी प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोंको आज भी किसी-न-किसी रूपमे सुरक्षित रक्खा है, जब कि ग्रीक व लैतिनमे वे तीन प्रकारकी कवर्ग, तवर्ग तथा पवर्गवाली ध्वनियोमें ही समाहित हो गई है। इसी प्रकार संस्कृतने प्रा० भा० यू० अघोष महाप्राण तथा सघोष महाप्राण दोनो प्राण ध्वनियोंको सुरक्षित रक्खा है। इसी प्रकार ग्रीक तथा लैतिनमे शब्द रूपोंकी विभक्तियाँ भी कम हो गई है, जब कि संस्कृतने प्रा० भा० यू०की आठों विभक्तियोंको अक्षुण्ण बनाये रखा है। यही नहीं, वैदिक संस्कृतने प्रा० भा० यू० स्वर [Accent] को भी अधिकांश तक सुरक्षित रक्खा है। इन सब कारणोसे प्रा० भा० यू० के अध्येता ही नहीं, अपितु भा० यू० परिवारकी किसी भी शाखाके प्राचीनतम रूपके अध्येताके लिए, चाहे वह ग्रीक हो, या लैतिक या गॉथिक या प्राचीन चर्च स्लॉविक या प्राचीन फारसी, संस्कृतकी आवश्यक प्रकृतिका ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। भारतीय आर्य भाषाके विद्यार्थीके लिए तो संस्कृत मूल उत्सभूमि है, इस उद्गम स्रोतकी प्रकृतिको जाने बिना उसके लिए एक पैर भी आगे बढ़ना कठिन होगा। इतना ही नहीं, भाषाशास्त्रके सामान्य नियमोंके ज्ञानके लिए

भी संस्कृतका थोड़ा-बहुत परिचय आवश्यक हो जाता है। १८वीं शतीके अन्तसे लेकर आजतक भाषाशास्त्रके विकासका इतिहास संस्कृतके अध्ययनसे अनुस्यूत रहा है तथा भाषाशास्त्रके इतिहासको समझनेके लिए संस्कृतका ज्ञान आवश्यक हो जाता है। जब हम भाषाशास्त्र तथा संस्कृत भाषाके घनिष्ठ संबन्धकी बात करते हैं, तो हमारा अर्थ यह है कि भाषाशास्त्रको जन्म देनेमें प्रमुख हाथ संस्कृतका ही रहा है। एकमात्र संस्कृतके परिचयने ही यूरोपमें भाषा-विज्ञानको जन्म दिया यह कहना अतिशयोक्ति न होगा, चाहे ओत्तो येस्पर्सन इसे अतिशयोक्ति माने। फिर भी येस्पर्सन संस्कृतके महत्त्वका तथा भाषाविज्ञानमें उसकी प्रबल प्रेरणाका निषेध नहीं करते।[1]

तो भाषाशास्त्रके जन्ममें निःसन्देह संस्कृतका प्रमुख हाथ रहा है। जब हम भाषाशास्त्रके जन्मकी बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य १९वी शतीके आरंभमें यूरोपमें विकसित तुलनात्मक व्याकरण [Comparative Grammar, Philology] की प्रणालीसे है। जैसा कि यूरोपमें संस्कृतके परिचयके सम्बन्धमें विख्यात है, यूरोपीय विद्वानोंने इसे पाकर, जैसे भाषा सम्बन्धी पुराने यूरोपीय विचारोंमें एक आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। पुराने यूरोपीय विद्वान् समस्त विश्वकी भाषाओंको [यूरोप तथा एशियाकी भाषाओंको] हिब्रूसे उत्पन्न मानते थे तथा कुछ विद्वानोंने हिब्रूको आधार मानकर यूरोपीय भाषाओंका अध्ययन भी उपस्थित किया था, जिसमें वे असफल ही हुए थे। जबसे यूरोपीय विद्वानोंको संस्कृतका पता लगा, तबसे वे इस भ्रान्त धारणाको छोड़कर भाषाशास्त्रकी वैज्ञानिक दिशाकी ओर बढ़ने लगे।

यूरोपीय जगत्को संस्कृतका परिचय देनेका श्रेय सर विलियम जॉन्सको है। वैसे सर जॉन्सके पूर्व भी कोर्दो [Coeurdoux] नामक फ्रेंच पादरीने सन् १७६७में फ्रेंच इन्स्टिट्यूटके पास भारतसे एक लेख भेजा था, जिसमें

---

१. Otto Jespersen, Language P 33.

उसने संस्कृत तथा लैतिनकी समानताओंकी ओर ध्यान आकृष्ट किया था। उसने संस्कृत **अस्** धातुके वर्तमानके रूपोंको उदाहृत करते हुए लैतिनके रूपोंसे इनकी तुलना की थी। किन्तु कोर्दोको संस्कृतके परिचय देनेका श्रेय न मिल सका, उसका लेख भी लगभग चालीस वर्ष बाद प्रकाशित हुआ तथा उससे पहले ही अनेक विद्वानोंने इस समानताकी ओर यूरोपीय जगत्का ध्यान आकृष्ट करा दिया था। सर जॉन्सने सन् १७९६ में संस्कृतके विषयमें जो शब्द कहे थे, वे आज भी तुलनात्मक भाषाशास्त्रके उदयके बीज माने जाते हैं :—

"संस्कृत भाषाकी पदरचना अत्यधिक अद्भुत है चाहे उसका मूल उद्गम कुछ भी रहा हो। यह भाषा ग्रीकसे भी अधिक पूर्ण, लैतिनसे अधिक समृद्ध तथा दोनोंसे अधिक परिष्कृत है, इतना होते हुए भी यह उन दोनोंसे क्रियाओंके मूलरूपों [धातुओं] तथा व्याकरणके रूपोंकी दृष्टिसे घनिष्ठतया सम्बद्ध हैं। यह आकस्मिक नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि कोई भी भाषाशास्त्री उन तीनोंका अध्ययन यह माने बिना नहीं करेगा कि वे सब किसी एक ही स्रोतसे उत्पन्न हुई हैं, जो अब नहीं पाया जाता। ऐसे ही कारणके आधारपर—यद्यपि यह कारण इतना दृढ़ नहीं है—यह भी कहा जा सकता है कि गॉथिक तथा केल्तिक भी, संस्कृतकी समान-स्रोत हैं, तथा प्राचीन फारसीको भी इसी परिवारसे जोड़ा जा सकता है।"

१९ वीं शतीके आरम्भमें भारत-यूरोपीय तुलनात्मक व्याकरणको अग्रेसर करनेवाली सर्वप्रथम पुस्तक श्लेगेलकी 'उबेर दी स्प्राख उन्द वीशेन दर इन्देर" [भारतकी भाषा तथा ज्ञान-संपत्ति पर] १८०८ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तकके अन्तर्गत श्लेगेलका प्रमुख ध्येय संस्कृत साहित्यिक संपत्तिकी ओर संकेत करना था, किन्तु संस्कृत भाषापर भी उसने अपने विचार प्रकट किये हैं। यह दूसरी बात है कि कई भाषाशास्त्रीय अनुमानोंमें वह भ्रान्त दिशाका आश्रय लेता है, उदाहरणके लिए फारसी तथा जर्मनको अत्यधिक घनिष्ठ माननेकी उसकी धारणा भ्रान्त है। संस्कृतको ही आधार बनाकर

श्लेगेलने समस्त विश्वकी भाषाओंको दो भागोंमें विभक्त किया था, [१] संस्कृतसे सम्बद्ध भाषाएँ तथा [२] अन्य भाषाएँ।

श्लेगेलके बाद यद्यपि रास्क तथा ग्रिमने भारत-यूरोपीय परिवारकी यूरोपीय भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया; किन्तु संस्कृतकी परम्पराका उत्थान करनेवाला फ्रेंज बॉप था। उसने १८१६ मे अपने महत्त्वपूर्ण निबन्ध "संस्कृत भाषाकी पदरचना तथा ग्रीक, लैतिन, फारसी और जर्मन भाषाकी पदरचनाके साथ उसकी तुलनापर" [उबेर देस कोंजुगाशान्ससिस्तेम देर संस्कृत स्प्राख इन वर्ग्लेखुंग मित येनेम देर ग्रीसिस्खेन, लेतिनिस्खेन, पेरिशिस्खेन, उन्द जेर्मानिस्खेन स्प्राख] को प्रकाशित कराया, जो आज भी भारत-यूरोपीय पदरचनाशास्त्र [Philology] का दीपस्तम्भ माना जाता है।

संस्कृतको दृष्टिसे बॉपकी परम्पराको बढ़ानेवाला श्लेखर था। प्राचीन भारत यूरोपीय भाषाके काल्पनिक रूपकी अवतारणा करनेका श्रेय श्लेखरको ही दिया जा सकता है। श्लेखरने तो इस भाषामे "एक भेड़ और घोड़ेकी कहानी" भी लिखी थी, जिससे एक वाक्य इस पुस्तकके सप्तम अध्यायमे उद्धृत किया गया है। काल्पनिक प्रा० भा० यू० के पुर्नानर्माण [Reconstruction]के अतिरिक्त श्लेखरका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य पदरचनाकी दृष्टिसे भाषाओंका आकृतिमूलक वर्गीकरण है। श्लेखरने ही सर्वप्रथम तीन भाषाएँ मानी हैं:—

व्यासप्रधान भाषाएँ	[Isolating languages]
२. प्रत्ययप्रधान भाषाएँ	[Agglutinating languages]
३. विभक्तिप्रधान भाषाएँ	[Inflexional languages]

श्लेखरके परवर्ती कालमें, जिसे नव्य वैयाकरणों [न्यू ग्रेमेरियन्स] का काल कहा जाता है, भारत-यूरोपीय तुलनात्मक व्याकरणका अत्यधिक अध्ययन होने लगा। ब्रुगमान, मैक्समूलर, ह्विटनी, सोस्यूर आदि कई विद्वानोंने प्रा० भा० यू० के कई अपवादरूपोंको वैज्ञानिक सिद्ध किया।

प्रा० भा० यू० के परवर्ती अध्येताओंमें ए. मेये, वाकेरनागेल, ज्यूल ब्लॉख तथा स्टर्टेवेंट प्रमुख हैं। मेयेने ही सर्वप्रथम यह घोषणा की कि प्रा० भा० यू० कल्पित रूपोंको वस्तुतः किसी बोली जानेवाली प्राचीन भाषाका रूप मानना भ्रान्त है तथा वे केवल सूत्र रूप हैं, जो ग्रीक, लैतिन, संस्कृत आदि भाषाओंके परस्पर सम्बन्धके संकेत या प्रतीक हैं। वाकेरनागेल-ने 'अल्तिन्दिश्के ग्रामतीक' नामसे संस्कृत भाषाका तुलनात्मक व्याकरण उपस्थित किया, जिसे कोई भी संस्कृत भाषाका अध्येता अपनी गवेषणा करते समय नहीं छोड़ सकता। प्रस्तुत, पुस्तिकाके लिखनेमें वाकेरनागेलका यह महार्घ ग्रन्थ सदा पथप्रदर्शक रहा है। इसके अतिरिक्त ज्यूल ब्लॉखकी "लाँदो आर्यां" [L' Indo-Aryen] भी संस्कृतके तुलनात्मक अध्ययनमें नया कदम है। वाकेरनागेलका ग्रन्थ जहाँ संस्कृतका तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करता है, वहाँ ब्लॉखका ग्रन्थ वैदिक संस्कृत तथा अवेस्तासे लेकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक बड़ा सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण परिचयात्मक अध्ययन है। इन तीनों ग्रन्थोंको बीसवीं शतीके महत्त्वपूर्ण भाषाशास्त्रीय ग्रन्थ कहना अनुचित न होगा। भारतीय आर्य भाषाओंके अध्ययनके लिए डॉ० चाटुर्ज्याका विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थ "बंगाली भाषाका उद्भव व विकास" एक दीपस्तम्भ है, जिसने अनेकों विद्वानोंको निश्चित दिशा प्रदान की है।

यहाँ हमारा लक्ष्य भाषाशास्त्रीय गवेषणाओंकी उद्धरणी देना न होकर भाषाशास्त्रके विकासमें संस्कृतके योगका संकेत भर करना था। संस्कृतके भाषाशास्त्रीय महत्त्वका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि यूरोपके विश्व-विद्यालयोंमें भाषाशास्त्रीय अध्ययनमें प्रवृत्त गवेषकके लिए कमसे-कम संस्कृतका सामान्य परिचय तो आवश्यक हो ही जाता है। इस पुस्तकमें संस्कृतके सामान्य परिचयको ही लक्ष्य बनाया गया है। संस्कृत भाषाका सर्वांगीण [भाषा-शास्त्रीय] अध्ययन तो इतनेसे क्षेत्रमें सम्भव नहीं।

संस्कृत भाषा-उत्पत्ति [आदिम भारतयूरोपीय]

संस्कृत भाषा भारत-यूरोपीय अथवा भारत-जर्मनीय परिवारकी प्रमुख भाषाओंमें है। इस परिवारको आर्य-परिवारके नामसे भी अभिहित किया जाता है। किन्तु यह नाम प्रायः समस्त परिवारके लिए प्रयुक्त न किया जाकर, इस परिवारकी एक विशेष शाखा, भारतेरानी [हिन्द-ईरानी], के लिए प्रयुक्त होता है। यह परिवार आठ या अधिक [दस] शाखाओंमें विभाजित है। इनमेंसे प्रत्येक शाखा पुनः उपशाखाओंमें विभाजित है, यह हम आमुखके अन्तर्गत देख चुके हैं। ये शाखाएँ हैं:—[१] भारतेरानी शाखा, जिसके अन्तर्गत वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत तथा इससे उद्भूत हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि आर्य भारतीय भाषाएँ तथा प्राचीन ईरानी भाषा, जिसका रूप हमें पारसियोंकी धर्मपुस्तक अवेस्तामे मिलता है तथा उससे उत्पन्न नव्य फारसी, पश्तो आदि हैं; [२] बाल्तो-स्लाविक शाखा, जिसके अन्तर्गत प्राचीन रूसी, पोलिश, बोहेमियन, लिथुआनियन आदि भाषाएँ हैं; [३] आर्मेनियन शाखा; [४] अल्बेनियन शाखा[1]; [५] ग्रीक शाखा, इसके अन्तर्गत प्राचीन यूनानकी प्रसिद्ध साहित्यिक भाषा ग्रीक तथा उससे उत्पन्न आजकी ग्रीक है; [६] इतेलियन शाखा, जिसमें प्राचीन ओस्कन तथा उम्ब्रियन भाषाएँ, लैतिन तथा आजकी रोमांस भाषाएँ-फ्रेंच, इतेलियन, स्पेनिश आदि हैं; [७] केल्तिक शाखा, जिसका प्रचार एक समय सारे पाश्चात्य यूरोपमें था, किन्तु आज इससे उद्भूत आयरिश

१. आर्मेनियन तथा अल्बेनियन दो भिन्न शाखाएं हैं, जो एशिया-माइनरमें पाई जाती हैं।

तथा वेल्शके बोलनेवाले बहुत थोड़े हैं[1]; [८] जर्मनीय शाखा, जिसमें अंगरेज़ी, डच, जर्मन, स्केण्डिनेवियन आदि भाषाएँ हैं। अन्वेषकोंने कुछ ऐसी भी भारतयूरोपीय भाषाओंका पता लगाया है, जो एक समय बोली जाती थीं, किन्तु आज सर्वथा लुप्त हो गई हैं। इन भाषाओंमें कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण इन्हें भिन्न शाखाएँ स्वीकार किया गया है। ये तोखारी तथा हित्ताइत वर्ग हैं, जिन्हें हम भारतयूरोपीय परिवारकी नवीं तथा दसवीं शाखा मान सकते हैं।

इन समस्त शाखाओंमें कुछ ऐसी निकट समानताएँ हैं, जिनके कारण इन्हें एक परिवारमे सम्मिलित किया गया है। उदाहरणके लिए संस्कृत 'पितृ' [पितर्] शब्दको ले लीजिए। यह शब्द ग्रीक शब्द **'पतेर'** [pater], लैतिन **'पतेर'** [pater], जर्मन **'फ़ाटर'** [vater] तथा अँगरेज़ी **'फ़ादर'** [father] से मिलता है। इन सभी शब्दोंमें एक-सी पदान्तता पाई जाती है। ग्रीक तथा लैतिनमें तो व्यञ्जन ध्वनियाँ भी संस्कृतके समान ही हैं। जर्मन तथा अँगरेज़ीमें व्यञ्जन ध्वनियाँ परिवर्तित हो गई हैं, किन्तु ये परिवर्तन ध्वनि-नियमोंके आधारपर हुए हैं। संस्कृतकी अघोष अल्पप्राण ध्वनि, अँगरेज़ीमें महाप्राण तथा जर्मनीमें सघोष अल्पप्राण पाई जाती है।[2] यद्यपि ये भाषाएँ अपनी-अपनी निजी विशेषताओंसे युक्त हैं, फिर भी इन सब समानान्तर रूपोंमें हम एक समान सूत्रकी कल्पना कर सकते हैं, जिसे हम "*पअतेर" [*pəter] रूप देते हैं। यह तुलनात्मक रूप भारत-यूरोपीय परिवारकी काल्पनिक आदिम भाषा [Ursprach] का माना गया है। आदिम भारत-यूरोपीय जैसी भाषा थी भी या नहीं, इसपर हम आगे

---

१. फ्रांसके ब्रितेनी प्रदेशकी ब्रेतन [Breton] **भी इसी शाखाकी भाषा है।**

२. भाषाशास्त्रमें यह नियम "ग्रिमके नियम" [Grimm's Law] **के नामसे प्रसिद्ध है।**

प्रकाश डालेंगे। संस्कृतसे एक दूसरे और उदाहरणको ले लीजिए। संस्कृत 'भरामि' के समानान्तर ग्रीक **'फेरो'** [phero], लैतिन **'फ़ेरो'** [fero], अँगरेजी **'बीयर'** [bear], प्राचीन चर्च स्लावोनिक **'बेरन'** [beran] को देखिए। इन सभीका अर्थ "मैं ले जाता हूँ" है। इन सभीमें हम समान सूत्र **"*भेर्–"** [*bher–] की कल्पना कर सकते हैं। विश्वके अन्य भाषा-परिवारोंमें यह समानता नहीं मिलती।

इस परिवारकी भाषाओंका विशेष अध्ययन करनेपर ज्ञात होता है कि इनमे व्याकरणात्मक सम्बन्धोंको विभक्तियोंके द्वारा व्यक्त किया जाता है। एक पदमे प्रायः तीन तत्त्व होते हैं; मूल रूप [शब्द या धातु], प्रत्यय तथा विभक्तिचिह्न। उदाहरणके लिए संस्कुत पद "गच्छता" को हम क्रमशः **"गम्"** [***गच्छ्**], **"शतृङ्"** [**अत् < *अन्त**] तथा **"टा"** [**आ**] मे विभक्त कर सकते है। इसी तरह संस्कृतके **"दातरि"** तथा ग्रीक **"दोत्रि"** [dotri] मे क्रमशः **"दा"**, **"तर्"** [तृ] तथा **"इ"** [**ङि**] एवं **'दो'** [do] **"तोर"** [tor], तथा **'इ'** [i] इन तीन तत्त्वोंका मान सकते हैं। तुर्की तथा द्रविड़-परिवारकी प्रत्यय-प्रधान भाषाओं-की भाँति यहाँ इन तीन तत्त्वोंमेंसे किसी भी तत्त्वको अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्ययप्रधान भाषाओंमे प्रत्यय अपना निश्चित रूप तथा अर्थ रखते हैं, किन्तु यह बात भारत-यूरोपीय भाषाओंके विषयमे नहीं। यद्यपि क्रियासे बने नाम-शब्दोंमें [कृदन्त] प्रत्यय किसी विशेष भावका बोध अवश्य कराते हैं, जैसे ऊपरका **"तर्"** [**तोर्**] पत्यय, तथापि यहाँ भी वह **"दातर्"** [**दातृ**] या ग्रीक **"दोतोर्"** का अविभाज्य अंग ही है। नव्य भारोपीय भाषाओंमे, अधिकतर भाषाओमे, ये विभक्तियाँ न्यून होती गई हैं। संस्कृतमें जहाँ आठ विभक्तियाँ है, वहाँ हिन्दी व नव्य भारतीय भाषाओंमें दो ही विभक्तियाँ हैं, जिन्हें क्रमशः अविकारी तथा विकारी कह सकते हैं। ठीक यही बात क्रियाओंके विषयमे कही जा सकती है। संस्कृतके दस [अथवा ग्यारह, यदि लेट्को भी माना जाय तो] लकार आज संकु-

चित होकर किसी भाषामें तीन तथा किसीमें चार रह गये हैं। ठीक यही बात यूरोपमें ग्रीक तथा लैतिनकी छः विभक्तियोंके विषयमें कही जा सकती है, जो फ्रेंच, अँगरेज़ी आदिमें केवल एक ही विभक्तिके रूपमें देखी जाती हैं।

उपर्युक्त इन सभी शाखाओमे व्याकरणात्मक संबंध विभक्तियोंसे व्यक्त किये जाते थे, जिनके रूप प्रायः एक-से होते थे। आदिम भारोपीय भाषामें आठ विभक्तियाँ थीं। इनमेसे कई भाषावर्गोंमें अधिकतर छः ही विभक्तियाँ पाई जाती हैं। इन भाषाओंके विभक्तिरूपोंकी समानताके लिए "**वृक**" शब्दके द्वितीया बहुवचनको ले लीजिए। सं० '**वृकान्**', ग्रीक '**लुकोउस**' [प्राचीनरूप –**लुकोन्स**] [lukous→luk-ons] गोथिक '**वुल्फोन्स**' [wulf-ons][1], लैतिन 'लुपोस' [lup-os], ये सब समान सूत्र '***व्लृक्**' [*wlk–] की ओर संकेत करेंगे, जिसमे द्वितीया बहुवचनका विभक्ति चिह्न '***ओन्स**' [–*ons] लगा हुआ है। पूरा प्राचीन रूप ***व्लृकोन्स** [*wlk-ons] होगा। इस समस्त परिवारकी भाषाओंमें "**अ-कारान्त**", "आ-कारान्त", अन्य स्वरान्त तथा व्यञ्जनान्त [हलन्त] शब्द पाये जाते हैं। इन भाषाओंके तिङन्त [क्रिया] रूप भी इसी प्रकार समानान्तर हैं। क्रियाओंके संबंधमें इस परिवारमें एक ऐमी विशेषता है, जो अन्य भाषा-परिवारोंमें नहीं। यह विशेषता संस्कृत तथा ग्रीक दोनोंमें स्पष्ट है। कई गणोंमें तथा प्रायः परोक्षभूते लिट्में, हम देखते हैं, कि धातुमें द्वित्व हो जाता है। संस्कृत√**धा-दधाति, दधौ,** संस्कृत√**मन्-मम्नाते,**√**दा-ददौ।** इन्हीं के समानान्तर ग्रीकरूप '**तेथेतइ**' [tethetai],[2] **ममोन** [memona], '**देदोतइ**' [dedotai] **को देखिए।**

---

१. मिलाइए, अँगरेजी 'वुल्फ' [wolf]. २. ग्रीकमें सघोष महाप्राण ध्वनियाँ नहीं हैं। संस्कृतकी सघोष महाप्राण ध्वनि वहाँ अघोष महाप्राण हो जाती है।

भारत-यूरोपीय परिवारकी दूसरी प्रमुख विशेषता "अपश्रुति" है, जो अधिकतर जर्मन पारिभाषिक संज्ञा **"अब्लाउट"** [Ablaut] के रूपमें प्रसिद्ध है। एक ही मूल रूप, कई भाषाओंमें कभी एक स्वरसे युक्त तथा कभी दूसरे स्वरसे युक्त पाया जाता है। इस प्रकारकी अपश्रुतिको "गुणात्मक अपश्रुति" कहते हैं। कभी-कभी मूल रूप विभिन्न मात्रावाले [शून्य, ह्रस्व तथा दीर्घ रूप] एक ही स्वरसे युक्त रूपोंमें पाया जाता है, जिसे "मात्रिक अपश्रुति" कहा जाता है। जैसा कि हम आगे बतायेंगे, संस्कृतमें गुणात्मक अपश्रुति नहीं पाई जाती। संस्कृतसे मात्रिक अपश्रुतिके ये उदाहरण दिये जा सकते हैं:—**भारः, भरामि, भृतिः; अश्रौषीत्, श्रोता [श्रोतृ], श्रुतम्** जिनमें एक ही स्वरका क्रमशः दीर्घ, साधारण [ह्रस्व] तथा शून्य रूप पाया जाता है। इन्हींको संस्कृत व्याकरणकी परिभाषामें वृद्धिरूप, गुणरूप तथा मूल रूप कह सकते हैं। जैसा कि हम आगे बतायेंगे संस्कृत व्याकरणका गुणरूप ही तुलनात्मक भाषाशास्त्रीका मूल स्वर है तथा उनका मूल रूप तुलनात्मक भाषाशास्त्रीका शून्य रूप [स्वराभावरूप] है। और अधिक स्पष्टीकरणके लिए हम यह कह सकते हैं कि प्रथम त्रिवर्गके उदाहरणोंमें मूल रूप **"भर्"** [*भेर्] है, जिसमें संस्कृत स्वर **"अ"** [**अ०भा०यू०*ए**] है। यहीं **'अ'** दीर्घ रूपमें **'भारः'** में पाया जाता है, **'भृतिः'** मे यह **'अ'** लुप्त हो गया है, अर्थात् इस स्वरका शून्य रूप [zero-vowel] वहाँ पाया जाता है।

इन भाषाओंकी इस प्रकारकी समानताएँ इस परिणामकी ओर ले जाती हैं कि ये भाषाएँ किसी एक ही प्राचीन भाषासे उत्पन्न हुई हैं। यद्यपि इस प्रकारकी कोई भी भाषा विद्यमान नहीं, जिसे इन सब भारोपीय भाषाओंकी जननी कहा जा सके तथापि भारोपीय परिवारकी विद्यमान विभिन्न प्राचीन भाषाओंके पारस्परिक सम्बन्धके आधारपर इस भाषाकी कल्पना की गई है। कल्पित रूप होनेके कारण इस भाषाके शब्दोंको तारकचिह्नित [Star-formed] रूपमें लिखा जाता है। इस आदिम भाषाके कल्पित रूपने कई विद्वानोंमें यह धारणा उत्पन्न कर दी थी कि ऐसी

भाषा अवश्य रही होगी, जो ग्रीक, लैतिन, वैदिक संस्कृत आदिकी जननी थी, किन्तु इस भाषाकी वास्तविक सत्ता मानना निर्भ्रान्त नही। यही कारण है कि कई विद्वान् तो आदिम भारोपीय भाषाके अस्तित्वपर ज़ोर देनेवाले पुराने खेवेके जर्मन भाषाशास्त्रियोंको, जो अभिनव वैयाकरण [Neo-grammarians] के नामसे भी प्रसिद्ध हैं, शुद्ध भाषाशास्त्री न मानकर केवल "तुलनात्मक पदरंचनाविद्" मानते हैं। फिर भी एक दृष्टि-से इन कल्पित रूपोंका महत्त्व तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें अवश्य है। ये रूप एक प्रकारसे सूत्ररूप [Formulae] हैं, जो विभिन्न सम्बद्ध भाषाओंके समान रूपोंका संकेत करते हैं, चाहे वे सब रूप इसी सूत्र रूपसे उद्भूत न हुए हों। ग्रीक तथा संस्कृतमें पाई जानेवाली विशेषताएँ इनमें आरम्भसे ही हैं। यदि दोनो भाषाभाषी जातियोंका उद्भव एक ही स्थानपर मान भी लिया जाय, तो ये दो विभाषाएँ थीं, जिनमें अपनी-अपनी निजी विशेषताएँ पाई जाती थीं। प्रसिद्ध फ्रेंच भाषाशास्त्री मेये [Meillet] ने इसीलिए इन तारकचिह्नित भारतयूरोपीय रूपोंको सूत्र रूप माना है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार आदिम भारतयूरोपीय रूप भाषाओंके विकासमें बादकी सीढ़ी हैं। स्टर्टवन्टके मतानुसार बोगाज़कुईके लेखोंमें अन्विष्ट हित्ताइत भाषा आदिम भारतयूरोपीयकी पुत्री न होकर भगिनी है, और इस प्रकार वह प्राचीन भारत-हित्ताइत भाषाकी कल्पना करता है, जो काल्पनिक भारोपीय तथा हित्ताइत दोनोंकी जननी रही होगी।[1]

प्रसिद्ध रूसी भाषाशास्त्री मारके मतानुसार भारत-यूरोपीय परिवार अलगसे परिवार न होकर काकेशियन भाषाओंसे सम्बद्ध है। इनके तुलनात्मक आधारपर उसने अपनी अलगसे सिद्धान्तसरणि स्थापित की थी। यह काल्पनिक भाषा-परिवार "जफेतिक" के नामसे प्रसिद्ध है। मारके मतानुसार

१. **देखिए** Sturtevant : Indo-Hittite Laryngeals. Ch. I. **साथ ही** Sturtevant : Indo-Hittite. ['Languge' 1926. Vol. II. P. 30.]

जफेतिक परिवारकी भाषाएँ यूरोपके पिरेनीज़ पहाड़ोंसे लेकर मध्य एशियामें पामीरतक बोली जाती थीं। उसने सारी आर्य तथा काकेशियन भाषाओंको एक चतुःसूत्री जफेतिक भाषाकी बोतलमें भरनेकी चेष्टा की है। उसके ये चार सूत्र हैं :—सल् [Sal], बेर् [Ber], योन [Yon] तथा रोश् [Roš]। पर मारकी सरणि त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो चुकी है। स्वयं उसके शिष्य ही उसकी त्रुटियोंको स्वीकार करने लग गये हैं।[1]

इन भाषाओंकी समानता देखकर अनुमान होता है कि आरम्भमें इनके बोलनेवाले एक ही स्थानपर रहते होंगे। यद्यपि उस समय विभिन्न वर्गोंकी विभाषाओंमें परस्पर कुछ ध्वन्यात्मक विभेद रहा होगा, तथापि वे विभाषाएँ प्रायः एक-सी ही थीं। ये आदिम भारोपीय भाषाका व्यवहार करनेवाले लोग, जिन्हें भाषा-शास्त्रियोंने 'वीरोस्' [wiros] नाम दिया है, आरम्भमें कहाँ रहते थे, इस विषयमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है। स्व० बाल गंगाधर तिलकके मतानुसार ये उत्तरी ध्रुवसे मध्यएशियामें आये थे। मध्यएशियासे ही यह आर्य-जाति दो प्रमुख वर्गोंमें विभाजित हो गई थी। एक वर्ग यूरोपकी ओर चल पड़ा, एक ईरान और भारतकी ओर। मैक्समूलर आदि विद्वान् मध्यएशियाको ही आर्योंकी आदिम जन्म-भू समझते हैं। श्रोएदरके मतानुसार आर्योंकी आदिम जन्मभूमि वोल्गा नदीके आस-पास थी। वहींसे इनके विभिन्न वर्ग विभिन्न दिशाकी ओर चल पड़े। इन वर्गोंके पृथक् होनेके पूर्व ही आर्यजाति सभ्यताकी दृष्टिसे विकसित हो चुकी थी। पशुचारण तथा कृषि इनका मुख्य व्यापार था। ये लोग ग्राम बसाकर रहना सीख गये थे; किन्तु ये ग्राम फिर भी स्थिर न होकर यायावर थे। भेड़, घोड़ा, कुत्ता, गाय जैसे पालतू जानवर तथा रीछ एवं भेड़िये जैसे जंगली पशुओंसे

१. देखिए न्यूयार्कसे प्रकाशित Soviet Controversy in Linguistics. नामक पुस्तक। साथ ही W. K. Mathews का विस्तृत लेख Soviet Contribution to Linguistics [Archivum Linguisticum vol 2. P. I-II; PP. 1-23; 97-12?.]

ये लोग परिचित थे, क्योंकि इनके लिए इस परिवारकी प्रायः सभी भाषाओंमेंसे एकसे शब्द पाये जाते हैं। यथा,

१. सं० अविः—ग्रीक ओइस् [ouis], रूसी ओउका कोरोना [ouka Korona] प्रा० भा० यू० *ओविस् [*owis]

२. सं० अश्वः—ग्रीक ह्प्पोस् [heppos], लिथुआनियन अश्व, [asva] प्रा० भा० यू० *एक्वोस् [*ekʷos.]

३. सं० श्वा (श्वन्)—ग्रीक कुओन् [kuon], लिथु० शुओ [suo] प्रा० भा० यू० *कुनोस् [*kunos].

४. सं० गौः—ग्रीक बोउस् [bous], लै० बोस [bos], फ्रेंच बोफ [boeuf], रूसी गोव्यादिना [govyadina]; प्रा० भा० यू० *ग्वोव्स् [*gʷous][1]

इन शब्दोंके अतिरिक्त कई अन्य वस्तुएँ भी समान नामसे अभिहित की जाती हैं, जैसे धूम, शहद [मधु], रुधिर, मांस आदि। माता, पिता, भ्राता, भगिनी, दुहिता, देवर, जामाता, पति, श्वसुर, श्वश्रू आदिके नाम भी इनमेंसे कई भाषाओंमें समान हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, विभिन्न क्रियाओं तथा उपसर्गोंके रूप भी एक ही प्रकारके पाये जाते हैं।

भारत यूरोपीय भाषाओंका अध्ययन करनेपर ऐसा पता चलता है कि ये भाषाएँ दो वर्गोंमें बाँटी जा सकती है, जो भिन्न-भिन्न आर्योंकी विभाषाएँ रही होंगी। इसके पूर्व कि हम इन दो वर्गोंको लें, हमें यह देखना है कि तुलनात्मक भाषाशास्त्रके आधारपर आदिम भारत योरोपीय भाषाका काल्पनिक रूप कैसा माना जाता है।

१. भाषाशास्त्रियोंके मतानुसार *ग्वोव्स् शुद्ध भा० यू० न होकर सुमेरी [अनार्य] भाषाके "गू" शब्दसे लिया गया है, जिसका अर्थ गाय है।

किसी भी भाषाके अध्ययनको तीन अंगोंमें विभाजित किया जा सकता है, प्रथम उसकी ध्वनियोंका अध्ययन, दूसरे उसकी पदरचनाका, तीसरे वाक्य-रचनाका। इसके अतिरिक्त एक चौथा भाषाशास्त्रीय तत्त्व और है जिसके अन्तर्गत भाषाके शब्द-कोष तथा अर्थ-प्रक्रियापर विचार किया जाता है, जो 'अर्थ-विज्ञान' कहलाता है। आदिम भारतयूरोपीय भाषाकी वाक्यरचनाके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। शब्दकोषका विचार हम कल्पित रूपोंके अन्तर्गत कर ही लेते हैं।

आदिम भारत यूरोपीय ध्वनियाँ:—भारत यूरोपीय परिवारकी विभिन्न शाखाओंके अध्ययनसे भाषाशास्त्रियोंने कल्पना की है कि आदिम भा० यू० भाषामें शुद्ध स्वर सात थे:—**अ**, **आ**, **ऎ**, **ए**, **ऒ**, **ओ**, तथा '**अ**' [ə]। **अ**, **ऎ** तथा **ऒ** ह्रस्व स्वर थे, एवं **अ** एक प्रकारका दुर्बल स्वर था। **आ**, **ए**, **ओ** क्रमशः ह्रस्व **अ**, **ऎ**, **ऒ** के दीर्घ रूप थे। जैसा कि हम आगे देखेंगे संस्कृतमें भा० यू० स्वर संकुचित हो गये हैं। ग्रीकमें ये स्वर इसी रूपमें पाये जाते हैं; हाँ दुर्बल स्वर वहाँ नही पाया जाता। ग्रीकमें ह्रस्व **अ**, **ऎ**, **ऒ** तथा दीर्घ **आ**, **ए**, **ओ** दोनों प्रकारके वर्गके सम्पूर्ण छः स्वर हैं किन्तु संस्कृतमें आकर **अ** तथा उसका दीर्घ रूप **आ** ही शुद्ध भारोपीय स्वरके रूपमें है। सस्कृतमें आकर आदिम भा० यू० ह्रस्व **ऎ**, **ऒ** ने **अ** का रूप तथा दीर्घ **ए**, **ओ**, ने **आ** का रूप धारण कर लिया है। उदाहरणके लिए देखिए —

संस्कृत **भरामि**, ग्रीक **फॆरो** [phero] प्रा० भा० यू० ***भॆर्** [*bher]

सं० **अष्ट**, ग्रीक **ऒक्तो** [octo] प्रा० भा० यू० ***ऒक्तो** [*octo]

सं० **अधात्**, ग्रीक **ऎ-थेके** [etheke] प्रा०भा०यू० ***ऎ-धे-**[*e-dhe]

सं० **ज्ञातः**, ग्रीक **ग्नोतोस्** [gnotos] प्रा०भा०यू० **ग्नतोस्** [*gn-tos]

संस्कृत ए, **ओ** तथा ऐ, **औ** शुद्ध भारोपीय स्वर न होकर ध्वनि युग्मोंसे जनित हैं, इसे हम आगे बतायेंगे। दुर्बल स्वर **अ** [ə],— जैसे 'श्वा'

[Schwa] कहा जाता है—की कल्पना इसलिए आ० भा० यू० में की गई है कि जहाँ ग्रीक तथा अन्य भारोपीय भाषाओंमें अ स्वर पाया जाता है, वहाँ कई समानान्तर शब्दोंमें भारतेरानी शाखामें इ हो जाता है। यदि आ० भा०यू०में अ ही माना जाय, तो भारतेरानी शाखामें अ अवश्य होना चाहिए था। उदाहरणके लिए ग्रीक शब्द "पतेर्" [pater] का समानान्तर संस्कृत शब्द **पितृ** [**पितर्**] है, यह हम देख चुके हैं। यदि मूल भा० यू० भाषामें अ स्वर होता, तो संस्कृतमें ***पतृ** [**पतर्**] रूप होना चाहिए था, वह नहीं पाया जाता। अतः स्पष्ट है कि इस शब्दमें मूल भा० यू० स्वर अ [a] नहीं था। इसीलिए उसे अ [ə] माना गया है। इस शब्दका भा० यू० मूलरूप ***पअतेर** [pəter] रहा होगा।

इन शुद्ध स्वरोंके अतिरिक्त उस भाषामें छः अन्तःस्थोंकी कल्पना की गई है। अन्तःस्थ वे ध्वनियाँ है, जो वस्तुतः व्यञ्जन होते हुए भी कभी-कभी स्वरका भी काम करती है। हम देखते है कि स्वर अक्षर [सिलेबिल] की संघटनामे प्रमुख कार्य करते है। इन्हें व्यञ्जनकी आवश्यकता नही होती, किन्तु इनकी सहायताके बिना व्यञ्जनका उच्चारण स्वतन्त्र अक्षरके रूपमे नहीं किया जा सकता। अन्तःस्थ वे अपवादपूर्ण व्यञ्जन है, जो कभी-कभी अक्षर संघटना[Syllabic function]मे स्वरका कार्य करते हैं। आदिम भा०यू० भाषामे य्, व्, र्, ल्, न्, म् ये छः अन्तःस्थ माने गये है। इन्होका अक्षर संघटनाकारी स्वर रूप इ, उ, ऋ, लृ, [अ-] न्, [अ-] म् पाया जाता है। मात्राकी दृष्टिसे इनके रूप ह्रस्व, दीर्घ तथा शून्य तीनों प्रकारके पाये जाते है। व्यञ्जन रूप तथा स्वर रूपके अतिरिक्त ये अन्तःस्थ एक ऐसा भी रूप रखते थे जो स्वर तथा समान व्यञ्जनका युग्म था, इसे हम **इय्, उव्**, ऋर्, **लृल्**, [अ-] **नृन्**, [अ-] **मृम्** मानते है। ये अन्तःस्थ शुद्ध स्वरोंके साथ युक्त होकर आ०भा०यू० ध्वनियुग्मोंके रूपमें भी पाये जाते थे, यथा **अय्, ऍय्, ऑय्, आय्, एय्, ओय्** आदि। इसी तरह व्, र्, ल्, न्, म् वाले रूप भी पाये जाते होंगे। ह्रस्व मूल स्वरवाले ध्वनियुग्म संस्कृतमें

आकर ए, ओ तथा दीर्घ मल स्वरवाले ध्वनियुग्म ऐ, औ हो गये हैं। उदाहरणके लिए देखिए:—

सं० वेद, ग्री० [वो] ओइद [(w) oida], गॉ० वइत, जर्मन वेइस
प्रा०भा०यू० *वोय्द [*Woyda]

सं० रोचते, ग्री० लेउकोस [leukos], प्रा०भा०यू० लेव्क्[*lewk-etay]

सं०अरैक्षम्,ग्री०एलेइप्स[eleipsa], प्रा०भा०यू०*लेय्क्व[*leykʷ-sm̥]

सं० द्यौः०, ग्रीक जेउस् [प्राचीन रूप, जेउस्] [zeus < zūes]

अंगरेजी ट्यूस [Tues;Tues-day] प्रा०भा०यू० *द्येव्स् [*byēw-s]

सं० नौः, ग्रीक नाउस् [nāus], लैतिन नाविस् [nāvis], अंगरेजी
नेवी [navy], प्रा०भा०यू० *नाव्स् [*nāw-s],

व्यञ्जनोंकी दृष्टिसे सबसे बड़ी विशेषता, जिसकी कल्पना आ०भा०यू० में की गई है, तीन प्रकारकी कवर्ग ध्वनियोंका अस्तित्व है। यह तो सभी विभाषाओंमें देखा जाता है कि परवर्ती स्वरसे युक्त कण्ठ्य[1] [कोमल-तालु-जन्य velar] ध्वनि प्रायः उस स्वरसे प्रभावित हो जाती है। उदाहरणके लिए 'क' अक्षरकी 'क्' ध्वनि कि तथा कु अक्षरकी क् ध्वनिसे कुछ भिन्न-सी है। 'इ' के योगसे वह कुछ तालव्य-सी तथा उ के योगमें कुछ कण्ठोष्ठ्य-सी पाई जाती है। इनका उच्चारण करते समय जिह्वा तत्तत् दशामें अन्तर्मुखके तत्तत् भागका स्पर्श करती है। 'क-वर्गकी

१. शुद्ध ध्वनिशास्त्री दृष्टिमें 'क' वर्गको कण्ठ्य मानना ठीक नहीं; इसके उच्चारणमें जीभका स्पर्श कोमलतालुसे होता है; अतः इसे कोमलतालुजन्य कहना वैज्ञानिक है। पर कण्ठ्य चल पड़नेके कारण हमने दोनोंका प्रयोग किया है।

शुद्ध, तालव्य तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोंको हम क् [k] क्य् [k̂] क्व् [k^w] से व्यक्त कर सकते हैं। सुविधाकी दृष्टिसे हम इस क्रमको न लेकर क्य्, क्, क्व् क्रमको लेंगे। जब हम आ०भा०यू०के अन्तर्गत तीन कवर्गोंको मानते हैं, तो हमारा तात्पर्य यह है कि किसी वर्गके साथ किसी भी स्वरका उच्चारण वहाँ पाया जा सकता था। तालव्य 'क्य्' पश्चस्वर [उ, ओ....] से युक्त तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व्' अग्रस्वर [इ, ए....] से युक्त भी पाया जा सकता था। यद्यपि भा०यू० परिवारकी किसी भी भाषामें ये तीन प्रकारकी कवर्ग ध्वनियाँ नहीं पाई जातीं, तथापि इस परिवारकी भाषाओं-में दो वर्गोंकी स्थितिके कारण यह कल्पना की गई है। शुद्ध कण्ठ्य ध्वनियाँ जहाँ एक वर्गमें तालव्योंमें समाहित हो गई हैं, वहाँ दूसरे वर्गमें कण्ठोष्ठ्यमें। भा०यू० तालव्य ध्वनियाँ [क्य् आदि] इन दोनों वर्गोंमें भिन्न रूपसे विकसित हुई है। एक वर्गमें ये कण्ठ्य रही हैं, किन्तु द्वितीय वर्गमें ये ऊष्म बन गई हैं। उदाहरणके लिए आ० भा० यू० *क्यमृतोम् [kmtom] एक वर्गके अन्तर्गत ग्रीक, [हे] क्तोन् [he-kton], लैतिन, केन्तुम् [centum], तोखारी, कंत [kant] के रूपमें विकसित हुआ है, जब कि दूसरे वर्गमे संस्कृत, शतम्, अवेस्ता, सतअम् [satəm], प्रा० चर्च स्लॉवोनिक, सूतो [suto], रूसी, स्तो [sto] के रूपमें। इसी आधारपर प्रथम वर्गको हम केन्तुम् वर्ग तथा द्वितीयको शतम् [सतम्] वर्ग कहते हैं। यह नाम "सौ" के लिए विभिन्न भाषाओंमें प्रयुक्त शब्दोंके आधारपर बनाया गया है। जहाँ तक शुद्ध कोमलतालुजन्य [कण्ठ्य] ध्वनियोंका प्रश्न है, जब तक उसका प्रतिरूप शब्द दोनों वर्गोंमे नहीं मिल जाता है, हम उस शब्दका आ० भा० यू० रूप क्या था इसकी कल्पना नहीं कर सकते। उदाहरणके लिए संस्कृत 'कृष्णः' का समानान्तर 'सतं' वर्गकी प्रा० चर्च स्लॉवोनिकमें श्रिनु [šrinu] रूप मिलता है, किन्तु केन्तुम् वर्गका कोई समानान्तर रूप न मिलनेसें हम नहीं बता सकते कि 'कृष्ण' शब्द मूल भा० यू० है या नहीं, साथ ही इसकी पदादिध्वनि, यदि मूल

भा० यू० है, तो शुद्ध कण्ठ्य थी या कण्ठोष्ठ्य। यदि दोनों भाषाओंमें समानान्तर शब्द मिल जाते हैं तथा वह दोनों वर्गोंमें 'क' ही है, तो हम बता सकते हैं कि इसका मूल रूप शुद्ध कण्ठ्य रहा होगा। उदाहरणके लिए सं० **क्रविः [क्रविस्], ग्रीक, क्रेग्रस्** [kreas], **लै० क्रुग्रोर्** [kruor] के आधारपर हम ***क्रेव्अस्** [*krewə-s] की कल्पना कर सकते है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, संस्कृतमें आ० आ० यू० शुद्ध 'क' तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व्' दोनोंका विकास एक-सा रहा है। ये दोनों ही **ए, ए, इ, ई, य् [सं, अ, आ, इ, ई, य्]** के पूर्व **'च'** तथा **अ, आ, ओ, ओ [सं. अ, आ]** के पूर्व **'क'** रूपमे विकसित हुए है। सतम् वर्गमे शुद्ध कण्ठ्य **'क'** ही रहा है तथा आ० भा० यू० कण्ठोष्ठ्य लैतिन तथा जर्मन शाखामे 'क्व' ही बना रहा है, जो ओठोंको गोलाकार बनाकर उच्चरित किया जाता है। अँगरेज़ीकी 'क्वीन' [Queen,] क्विक [Quick] आदिमे यही 'क्व' ध्वनि है, पर वहाँ यह सदा 'उ' स्वरके साथ पाई जाती है। लैतिन तथा जर्मन समानान्तर शब्दोंकी संस्कृत आदि सतम् वर्गकी भाषाओंके शब्दोसे तुलना करनेपर हम आ० भा० यू० ध्वनिकी प्रकृति बता सकते है। ग्रीकमें यह कण्ठोष्ठ्य **'क'** अग्रस्वरके पूर्व **'त'** तथा पश्च स्वरके पूर्व **'प'** हो गया है। उदाहरणके लिए—

सं० कः, क्व, चित्, ग्रीक, तो–थेन [सं. कस्मात्] [tothen], **ग्रीक, तिस्** [tis], **सं० क्वो, क्वि** [quo, qui], **अँगरेजी, हू** [who] **ह्वाट** [what],→**प्रा० भा० यू० *क्वो–, *क्वि**–[$*k^{w}o$–, $*k^{w}i$]। ध्यान दीजिए संस्कृतका 'क' अँगरेज़ी 'ह्व' हो गया है। [ग्रिम–नियमके अनुसार क्लैसिकल अघोष अल्पप्राण 'क' लोजर्मन [अँगरेजी आदि] मे महाप्राण [ह] बन जाता है।]

आदिम भारत यूरोपीय भाषामें इन तीन प्रकारके कण्ठ्यवर्गोंके अतिरिक्त दो और वर्ग थे—दन्त्य तथा ओष्ठ्य। प्रत्येक वर्गमें दो प्रकारकी ध्वनियाँ थीं,

एक अघोष [यथा क, त, प], दूसरी सघोष [ग, द, ब]। इनके महाप्राण रूप भी पाये जाते थे। किन्तु महाप्राण रूप केवल सघोष ध्वनियोंके ही पाये जाते थे या दोनोंके, इस विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। अधिकतर विद्वान् आ० भा० यू० में अघोष अल्पप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण ये तीन ही ध्वनिरूप मानते हैं। प्रो० प्रोकोस्च तथा हरमन कॉलिजने एक नई सिद्धान्तसरणि प्रकट की है, उनके मतानुसार आ० भा० यू०में सघोष महाप्राण ध्वनियाँ सर्वथा नहीं थीं किन्तु अघोष महाप्राण अवश्य थी[१]। हित्ताइतकी खोजने इन महाप्राण ध्वनियोंकी समस्याको थोड़ा-बहुत सुलझा दिया है। इसीके आधारपर स्टर्टवन्टने आ० भा० यू०में दोनों प्रकारकी महाप्राण ध्वनियाँ मानी है, जो वस्तुतः अल्पप्राण ध्वनियों-का, प्राचीन भारत-हित्ताइत भाषामें पायी जानेवाली अघोष कण्ठनालिक [Non–voiced laryngeals]—[' , x] तथा सघोष कण्ठनालिक [Voiced-laryngeals] (, , ४) के सम्पर्कसे जनित विकसित रूप हैं।[२] अतः आ० भा० यू० भाषामे चार प्रकारकी ध्वनियाँ प्रत्येक वर्गमें रही होंगी।

	अघोष अल्पप्रा०	अ० महा०	स० अल्प०	स० महा०
कण्ठ्य	क [k]	ख [kh]	ग [g]	घ [gh]
तालव्य	क्य [k̂]	ख्य [k̂h]	ग्य [ĝ]	घ्य [gĥ]
कण्ठोष्ठ्य	क्व [k^w]	ख्व [kh^w]	ग्व [g^w]	घ्व [gh^w]
दन्त्य	त [t]	थ [th]	द [d]	ध [dh]
ओष्ठ्य	प [p]	फ [ph]	ब [b]	भ [bh]

---

१. Language. (American linguistic Journal). 1926, Vol. II. P. 178.

२. Sturtevant : Indo-Hittite Laryngeals. ch. V. pp. 66 and following.

आदिम भारत यूरोपीय भाषाकी दोनों प्रकारकी महाप्राण ध्वनियोंको संस्कृतने अक्षुण्ण बनाये रक्खा है। ग्रीकमें जाकर महाप्राण सघोष ध्वनियाँ केवल अघोष महाप्राण ख, थ, फ; [kh, th, ph] रह गई हैं। ईरानी, जर्मन तथा बाल्तोस्लाविकमें सघोष महाप्राण ध्वनियाँ, सघोष अल्पप्राण ग, द, ब हो गई हैं। लैतिन तथा केल्तिकमें इनमेंसे कुछ सोष्म रूप हो गई है। जैसा कि हम अगले परिच्छेदमें देखेंगे आ० भा० यू० ख, थ, फ, ध्वनियाँ ईरानीमें भी सोष्म ख़, थ़, फ़ हो गई हैं। आ० भा० यू० में एक ही पदमें एक साथ दो महाप्राण ध्वनियाँ पाई जाती थीं, किन्तु ग्रीक तथा संस्कृत आदिमें आकर प्रथम ध्वनिकी प्राणता लुप्त हो जाती है।[1] संस्कृतसे बधार, बभूव, बुभोज, चखाद, जघान आदि कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ ग्रीकमें आ० भा० यू० की प्रायः सभी स्वर ध्वनियाँ विद्यमान हैं, वहाँ व्यञ्जन ध्वनियोंकी दृष्टिसे संस्कृत, आ० भा० यू० भाषाका सच्चा प्रतिनिधित्व करती है।

इन ध्वनियोंके अतिरिक्त आ० भा० यू० मे एक सोष्म ध्वनि स भी थी। यह ध्वनि उस भाषामें परिस्थित्यनुकूल अघोष तथा सघोष [ज़] दोनों रूपोंमें पाई जाती थी। ग, द, ब आदि सघोष ध्वनियोंके पूर्व होनेपर यह सघोष ज़ के रूपमें उच्चरित होती थी। ज़ का यह रूप अवेस्तामें मिलता है, जब कि स ध्वनि वहाँ ह हो गई। संस्कृतमे स का अघोष रूप ही पाया जाता है। ग्रीकमें पदादि ध्वनि स,ह हो गई है, किन्तु पदमध्य या पदान्तमे वह 'स' ही रही है। लैतिनमें पदमध्य स ध्वनि 'रेफ' [र] हो गई है। इस सिद्धान्तके विभिन्नभाषीय उदाहरण यथावसर संस्कृत ध्वनियोंका विवेचन करते समय दिये जायँगे। आ० भा० यू०मे दो प्रकारकी शुद्ध प्राणध्वनि—एक अघोष 'ह' ध्वनि तथा दूसरी सघोष 'ह' ध्वनि—रही होंगी। स्वयं

१. यही सिद्धान्त "ग्रासमानके उपनियम" [Grasmann's Corollary] के नामसे भाषाशास्त्रमें प्रसिद्ध है।

संस्कृतमें ही दोनों प्रकारकी प्राणध्वनि मिलती है—अघोष शुद्ध प्राणध्वनि "विसर्ग" [:] के रूपमे, सघोष प्राणध्वनि ह के रूपमें।

हिन्द-हित्ताइत ध्वनियाँ:—स्टर्टेवन्ट तथा और भी दूसरे विद्वान् आ० भा० यू० भाषाके पहले भी आदिम भारत-हित्ताइत या आदिम हिन्द-हित्ताइत [Proto Indo-hittite] भाषाकी कल्पना करते हैं। ईसा पूर्व १४वीं शताब्दीके हित्ताइत साम्राज्यके इष्टिकालेख जो तुर्कीके बोगाज़-कुई स्थानसे प्राप्त हुए है, एक और आर्य भाषाका संकेत करते है, जिसे हित्ताइत नाम दिया गया है। यह भाषा, कल्पित आ० भा० यू०की बहिन मानी जाती है, और इस तरह एक द्वितारकचिह्नित [Double-starred] भाषाकी कल्पना करनी पड़ती है। यहाँ संक्षेपमें इस कल्पित हिन्द-हित्ता-इत भाषाकी ध्वनियोंका संकेत कर देना अनावश्यक न होगा।

स्वर:—ऍ [e], ए [ē], ऑ [o], ओ [ō], तथा 6 [अ] [यह स्वर हीन [unaccented] ऍ [e] का रूप था।]

[विद्वानोंके मतानुसार इन पांचों स्वरध्वनियोंका मूल ऍ [e] ध्वनि ही थी, सब उसीसे विकसित हुए थे।]

अन्त:स्थ—य [y], व [w], र [r], ल [l], न [n], म [m]

कण्ठानालीय ध्वनि—, , , x, ४.

[प्राणध्वनि—अघोष ह [h̆ h̆] तथा सघोष ह [h̆]—ये दोनों अलगसे ध्वनियां न होकर क्रमश: x तथा ४ के रूप थीं।]

स्पर्शव्यञ्जन—क [k], त [t], प [p], ग [g], द [d], ब [b], घ [gh], ध [dh], भ [bh]

सोष्म—स [s].

इन ध्वनियोंमे चार कण्ठनालीय ध्वनियोंका विशेष महत्त्व है। इनमें द्वितीय तृतीय अघोष कण्ठनालीय ध्वनियाँ है, इतर दो सघोष कण्ठनालीय।

प्रथम दोका वास्तविक अस्तित्व नहीं है, केवल कल्पनाके आधारपर उनकी सत्ता सिद्ध है।

१. ,—कण्ठनालीय ध्वनिकी सत्ता निषेधात्मक है। कई स्थानपर आ० भा० हि० ए—अ के रूपमें परिवर्तित नहीं होते। इसके कारण स्वरूप वहाँ इस सघोष कण्ठनालीय ध्वनिका अनुमान किया गया है। जैसे—

हि० ऍप्प [epp–] [ले जाना], सं० आप्नोति, आ० भा० यू० *'एप्' [*ēp–]—आ० भा० हि **'e' p [? ए ? प]

हि० ऍस [बैठना], सं० आस्ते, ग्रीक, हेस्ताइ [hestai], आ० भा० यू० *एस्* [ēs–]; आ० भा० हि० **'e's [? ए ? स्]

२. , कण्ठनालीय ध्वनि भी निषेधात्मक है। यह ध्वनि भी लुप्त हो गई होगी। कई स्थलोंमें हित्ताइत अ लैतिन, ग्रीक तथा केल्तिकमें अ ही पाया जाता है। इसके आधारपर स्विस भाषाशास्त्री फर्दिनांद द सोस्यूर [Ferdinand de Saussure] ने यह अनुमान किया कि आदिम भाषामें कोई 'अ-रंजित' [a-coloured] कण्ठनालिक ध्वनि रही होगी। यह ध्वनि ऍ को अ बना देती होगी। जैसे, 'हित्ता० मेम—इ' [mema-i] [कहना], संस्कृत. मन्यते [याद करना]।

३. x—यह ध्वनि अघोष थी तथा ऍ को अ के रूपमे परिवर्तित कर देती होगी। हित्ताइतमें इसका रूप h̆ [h̆] पाया जाता है जैसे हि० nehhi [निहि] [मैं ले जाता हूँ], भा० हि०** ne'ixa. स. नयामि।

इस ध्वनिका पता कुरिलोवित्सने चलाया था।

४. ४ यह सघोष कण्ठनालिक ध्वनि थी, इसका अस्तित्व हित्ताइतमें स्पष्ट है। हित्ताइतमें इसका h̆ रूप पाया जाता है। यह स्वयं हित्ताइत भाषामें ऍ के बाद अव्यवहित रूपमें प्रयुक्त होती है। ४ इस प्रकार x का सघोष रूप है। यथा,

हि० मेहुर् [mehur] [समय], सं० मतिः, मिमाति, मात्रं, मितः; ग्रीक मेतिस् [metis] [बुद्धि] मेत्रोन् [metron] [माप] लैं मेतिग्रोर [metior] [माप], गॉथिक मेल [mel] [समय], भा० हि०**मेर् [**mer-],

इन चार कण्ठनालिक ध्वनियोंके अन्वेषणका महत्त्व इसलिए है कि इसने एक ओर आ० भा० यू० भाषाकी स्वर-ध्वनियोंकी समस्याको, दूसरी ओर उसकी महाप्राण ध्वनियोंकी समस्याको सुलझाया है।

आदिम भारत यूरोपीय पद-रचना—भाषाशास्त्रके दूसरे तत्त्व पद-रचनाको लेते हुए हम देखते हैं कि संस्कृत आ० भा० यू० रूपोंका पूर्ण-रूपसे प्रतिनिधित्व करती है। आ० भा० यू० सुप्-विभक्तियाँ प्रथम या तो किसी द्रव्य तथा क्रिया अथवा द्रव्य तथा द्रव्य [यथा षष्ठी, रामस्य पुत्रः, में] के पारस्परिक संबंधको तथा दूसरे, द्रव्यके वचनको व्यक्त करती थीं। इस प्रकार ये विभक्तियाँ क्रमशः कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण एवं सम्बोधन कारकको व्यक्त करती हैं, जिन्हें हम संस्कृतके ढंगपर चाहें तो प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी तथा सम्बोधन कह सकते हैं। वचनकी दृष्टिसे ये विभक्तियाँ एक-वचन, द्विवचन तथा बहुवचनमें विभक्त थीं। इस परिवारकी समस्त भाषाओंमे ये आठ विभक्तियाँ तथा तीन वचन केवल संस्कृत भाषामें ही उपलब्ध हैं। इसमें भी ध्यान देनेपर पता चलेगा कि यद्यपि संस्कृतमें द्विवचन पाया जाता है तथापि यहाँ आठों विभक्तियोंके द्विवचनमें तीन हीं रूप पाये जाते हैं, यथा, रामौ [कर्ता, कर्म, सम्बोधन द्विव०], रामाभ्याम् [करण, सम्प्रदान, अपादान द्विव०] रामयोः [सम्बन्ध, अधिकरण द्विव०]। इससे स्पष्ट है कि संस्कृतमे भी द्विवचन विशेष संकुचित रूपमें पाया जाता है। अन्य भाषाओंमें प्राचीन ग्रीकमें यह पाया जाता है[1], किन्तु

---

१. देखिए परिशिष्ट म में संस्कृत, ग्रीक व लैटिन शब्दोंके रूप।

लैतिनमें लुप्त हो गया है। प्राचीन चर्च स्लावोनिक एवं लिथुआनियनमें यह अवश्य पाया जाता है, किन्तु अत्यधिक संकुचित रूपमे। जर्मनीय वर्गकी प्राचीन भाषा गॉथिकमें द्विवचन केवल सर्वनामके रूपोंमें पाया जाता है। विभक्तियोंकी संख्या भी संस्कृतमें आठ है, ग्रीक तथा चर्च स्लावोनिकमें छ., गॉथिकमें केवल चार ही।

सुप् विभक्तियोंके चिह्नोंकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि इन कई भाषाओंमे ये चिह्न एक-से हैं। उदाहरणके लिए प्रथमा विभक्ति एक-वचनका चिह्न ***'स्'** [**संस्कृत सुप्**], द्वितीया एकवचनका ***'म्'** [**सं०, अम्**] तथा षष्ठी बहुवचनका ***ओम्** [**जो संस्कृतमें ध्वनिनियमसे 'आम्' हो गया है, जैसे रामाणाम्में**] ले लें। इनमें संस्कृत **वृक** शब्दके क्रमशः **वृकः, वृकम्,** तथा **वृकाणाम्** रूप होंगे, जिनके आ० भा० यू० रूप ***ल्कोस्** [wlkos], ***ल्कम्** [wlkm], तथा ***ल्कोम्** [wlkom] रहे होंगे। इसी प्रकार संस्कृतके **'भ'** व्यञ्जन ध्वनिवाले विभक्तिचिह्न **भ्याम्, भिस्, भ्यस्** भी आ० भा० यू० से ही जनित हैं। यह **'भ'** संस्कृत, लैतिन तथा आर्मीनियनमें पाया जाता है, किन्तु जर्मन तथा बाल्तो स्लाविकमें यह **'म'** हो गया है।

सं० भ्यस् [भ्य.], **लैतिन, बुस्** [bus], **गॉथिक, म्** [m] **सम्प्रदान बहुव०,** [Dative plural], **लिथुआ० मुस्** [mus] **आ० भा० यू०— *भ्यस्** [*bhyas]। ग्रीकमे आकर यह ***भ, फ** हो गया है, किन्तु ग्रीकमें संस्कृत **भिस्–भ्यस्** के समानान्तर रूप केवल होमरकी भाषामें ही पाये जाते हैं, बादकी साहित्यिक ग्रीकमे नहीं। होमरमें हमें **"नाउफि"** [nauphi] रूप मिलता है, जो संस्कृतके **नौभिः**के समानान्तर है। इतना होते हुए भी एक ओर कुछ भाषाओंमे भ तथा दूसरी भाषाओंमें म पाये जानेसे यह भ–मकी समस्या पूरी नहीं सुलझती। यही कारण है कि करण, सम्प्रदान तथा अपादानमें कई विद्वानोंने आ० भा० यू० में ***म–वाले** तथा ***भ–वाले** दो

तरहके द्विवचन, बहुवचन रूप माने हैं।[1] इस प्रकारकी कल्पना की गई है कि इन दोनोंमें आ० भा० यू०—*म चिह्न संज्ञाओंमें (विशेषणोंमें भी) पाया जाता था, तथा—*भ चिह्न सर्वनामोंके रूपोंमें। किन्तु बादमें जाकर सादृश्यके आधारपर कुछ भाषाओंमें सभी रूप म-वाले हो गये, तो कुछमें सभी भ—वाले। संस्कृतके तृतीया, चतुर्थी तथा पंचमीके द्विवचन तथा बहुवचनमें यह 'भ' (—भ्याम्,—भिस्,—भ्यस्) है।

वेदमें प्रथमा विभक्तिके बहुवचनके रूप "—**आसस्**" से भी बनते हैं, यथा "**देवासः**"। मेयेके मतानुसार जिन शब्दोंके मूल रूपोंमें *ए, *ओ स्वर पाये जाते थे, उनके प्रथमा बहुवचनको अन्य मूल रूपोंवाले शब्दोंके समान **अक्षरसंख्यावाले बनानेके** लिए, वैदिकमें "**आस्**" को "**आसस्**" बना दिया गया था। उदाहरणके लिए संस्कृत द्व्यक्षर [disyllabic] शब्द "**देव**" के बहुवचन "**देवाः**" को, जो द्व्यक्षर है, "**अहि**" जैसे इकारान्त या "**विष्णु**" जैसे उकारान्त शब्दोंके प्रथमा बहुवचन **अहयः** या **विष्णवः** के सादृश्यके आधारपर त्र्यक्षर [Trisyllabic] शब्द बनाकर "**देवासः**" रूप दे दिया गया। इस मतने एक बातकी और पुष्टि की कि संस्कृतके कई इकारान्त तथा उकारान्त शब्द भी आ० भा० यू० जनित माने जा सकते हैं।

सुप् विभक्तियोंकी भाँति संस्कृतकी तिङ् विभक्तियाँ भी आ० भा० यू० भाषाकी तिङ् विभक्तियोंका रूप देनेमें पूर्णतः समर्थ हैं। इसके लिए पहले हमें यह समझ लेना होगा कि आ० भा० यू० क्रियाओंके रूपोंका साक्षात् सम्बन्ध व्यापार-विशेषके कालसे न होकर उस व्यापार-विशेषके प्रकारसे था। भूतकालको द्योतित करनेवाले आ० भा० यू० *ए के सिवाय, जो

---

१. Meillet : Introduction et L'etude Comparative de Langues Indo-europeennes. pp. 259-60. also. Wackernagel : Altindische Grammatik Vol. 3. P. 13. § 4 [h].

ग्रीक, संस्कृत तथा अवेस्तामें पाया जाता है, अन्य कोई भी चिह्न ऐसा नहीं है, जो आ० भा० यू० क्रिया रूपोंको किसी काल विशेषसे सीमित करता हो। उदाहरणार्थ, संस्कृतके '[परोक्षभूते] लिट्'को ले लीजिए, जो परोक्षरूपमें अपूर्ण व्यापारके लिए प्रयुक्त होता है, वेदमें यह भूतकालके लिए प्रयुक्त न होकर क्रियाके प्रकार-विशेषका ही बोध कराता है, जैसे **"स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम"** इस ऋचर्धमें **"दाधार"** का अर्थ **"अधारयत्"** न होकर **"धारयति"** है। वैदिक संस्कृतकी भाँति इसके समानान्तर रूपोंका प्रयोग होमरकी ग्रीकमें कालसीमित न होकर प्रकारबोधक ही है। किन्तु बादमे जाकर ये क्रियारूप वहाँ भी साहित्यिक [लौकिक] संस्कृतकी भाँति कालसीमित हो गये हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आ० भा० यू० भाषा बोलनेवाले "वीरोस्" आर्य भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्के कालभेदसे पूर्णतः परिचित न थे। सभ्यताके विकासके कारण धीरे-धीरे वे इनके भेदसे परिचित हो गये, किन्तु इनके अभिव्यंजनके लिए वे उन्हीं क्रिया रूपोंका प्रयोग करते थे, जिनका व्यापार मूलरूपमें भिन्न था। इस प्रकार हम देखते हैं कि मौलिक रूपमे आ० भा० यू० क्रियाओंकी पद्धति लौकिक संस्कृतकी क्रियापद्धतिसे सर्वथा भिन्न है, किन्तु यह भेद उनकी अर्थसम्बन्धिनी [सिमेंटिक] विशेषतासे सम्बद्ध है।

सर्वप्रथम हम आ० भा० यू० क्रिया रूपोंको निर्देशात्मक [Indicative] हेत्वात्मक [संस्कृत हेतुहेतुमत्], [Conditional or subjunctive] विध्यात्मक [Optative] तथा आज्ञात्मक [Imperative] इन कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं। निर्देशात्मक कोटिमे दो काल माने जा सकते हैं—भूत तथा वर्तमान। भूतकालका द्योतक [पुरःसर्ग] *ऎ [सं० अ, ग्रीक ऎ [e]] क्रियाके मूल रूपके पहले जोड़ दिया जाता था। संस्कृत अबिभत् तथा ग्रीक एफेरो में इसे देखा जा सकता है। वर्तमानके संस्कृत 'लट्' तथा [परोक्षभूते] लिट् दोनोंमें समानान्तर रूपोंका प्रयोग किया जाता था। हेत्वात्मक तथा विध्यात्मकमें धातु तथा तिङ् विभक्तिके बीचमें *ऎ-,

*,-अा, तथा -'*य् ऐ'-,*इ-को जोड़ दिया जाता था। आज्ञा रूपोंके लिए कोई विशेष प्रकारका चिह्न नहीं था। कभी-कभी कोरा धातु रूप ही आज्ञात्मक रूपमें प्रयुक्त होता था, इसका संकेत हम संस्कृत लोट्के मध्यम पुरुष एकवचनके रूप 'भर', 'पठ' आदिसे पा सकते हैं। आ० भा० यू० भाषामें संस्कृतकी भाँति कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य दो रूप रहे होंगे। कर्तृ-वाच्य पुनः संस्कृतकी भाँति ही परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी इन दो रूपोंमें पाया जाता होगा। ग्रीकमें भी परस्मैपदी [एक्टिव वॉयस], आत्मनेपदी [मिडिल वॉयस] तथा कर्मवाच्य [पेसिव वॉयस] ये तीन रूप पाये जाते हैं। इनमें परस्मै तथा आत्मने दोनों प्रकारके पदोंके भिन्न प्रकारके तिङ् विभक्ति-चिह्न थे। उन्हीसे बादके विभक्ति-चिह्न विकसित हुए हैं। ये विभक्तिचिह्न पुनः दो प्रकारके माने जा सकते हैं :—मुख्य तथा गौण। मुख्य चिह्नोंका प्रयोग वर्तमान [निर्देशात्मक] तथा हेतुहेतुमत्के साथ होता था। जब कि गौण तिङ् विभक्तिचिह्न अपूर्ण भूत, लिट् [जो आ०भा० यू० में वर्तमानमें प्रयुक्त होता था], तथा विध्यात्मक रूपोमे जोड़े जाते थे। संस्कृतके कई तिङ् विभक्तिचिह्नोंको हम आ० भा० यू० का ही विकसित रूप पाते है, यथा—

सं०—मि,—ए   आ० भा० यू० *मि [mi], *अइ [ai]
[सं० भरामि, बधे]

,,—सि,—से   ,,   *सि [si], *सइ [sai]
[सं० भरसि, बत्से]

,,—ति,—ते   ,,   *ति [ti] *तइ [tai], अइ [ai]
[भरति, बत्ते]

,,—मः,—महे   ,,   *मेस् *मोस् [*mes, *mos],
*मेधअ [*medhə–] [भरामः, बधमहे]

,,—थ,—ध्वे   ,,   *ते [te] * × [भरथ, बध्वे]

,,—अन्ति,—न्ते   ,,   *एन्ति [–न्ति] * [enti,–nti]
*न्तइ [*–ntai] [भरन्ति, भाषन्ते]

इसे और स्पष्ट करनेके लिए हम यहाँ नीचेके चतुरस्रमें आ० भा० यू० ग्रीक व संस्कृतके वर्तमान निर्देशात्मक रूपोंको सोदाहरण स्पष्ट कर देते है—

तिङ् चिह्न, वर्तमान; कर्तृवाच्य, परस्मैपदी

आ० भा० यू० तिङ् चिह्न	संस्कृत रूप	ग्रीक रूप
*भरे [bher–]	भृ-[भर्]	फेरो [phero]–[ले जाना]
एकवचन		
उ० पु०		
*मि [*mi], ओ [ō]	भरामि	फेरो [phero]
म० पु०		
*सि [*si]	भरसि.	फेरेइस् [phereis]
अ० पु०		
*ति० [*ti]	भरति	फेरेइ [pherei]
बहुवचन		
उ० पु०		
*मेस्, मोस् [mes, mos]	भरामः	फेरोमस् [pheromes]
म० पु०		
*ते [te]	भरथ	फेरेते [pherete]
अ० पु०		
*एन्ति, ओन्ति,–न्ति [enti, onti,–nti]	भरन्ति	फेरोन्ति [phe onti]

आदिम भारत-यूरोपीय भाषामे भविष्यत् सर्वथा नही था। इसकी व्यजना निर्देशात्मक वर्तमानके द्वारा ही कराई जाती थी, जैसे "मै जाऊँगा" के लिए "मैं जाता हूँ" का प्रयोग। कभी-कभी हेतुहेतुमत्के द्वारा भी भविष्यत्की व्यजना कराई जाती थी। इसके रूप होमरकी भाषामे पाये जाते है। भविष्यत्की व्यंजनामे एक तीसरे प्रकारका प्रयोग भी मिलता है, जहाँ धातु तथा वर्तमानके तिङ् चिह्नोके बीच कभी-कभी 'स्' जोड दिया जाता था। ग्रीक तथा संस्कृतके भविष्यत् रूप वर्तमानमे इसी 'स्' [स्य] को जोड़कर बनाये जाते है। यथा स० **भरामि-भरिष्यामि** [***भरिस्यामि**], ग्रीक **फेरो** [phero; I bear]; **फेरसो** [pherso; I shall bear]. जो प्राचीन भारत यूरोपीय रूप* **भेर-स्-मि** [[illegible]] [*bher-s-mi (–o)] को ओर संकेत करता है। लौकिक संस्कृतमे आकर [illegible] विधियाँ [moods] तथा [illegible] [tenses] की तीन काल तथा दस लकारोके रूपमे विकसित हो गये है।

भाषाशास्त्रियोने तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर इस काल्पनिक भाषाकी ध्वनियाँ तथा पदरचनाका तो पता लगा लिया है, किन्तु वाक्यरचनाके आनुमानिक रूपकी पुनर्मूर्ति [Reconstruction] करनेमे वे समर्थ नही हुए है। यह सफलता तभी हो सकती है जबकि इस परिवारकी विभिन्न भाषाओकी वाक्यरचनाके तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर तारक-चिह्नित शब्दोसे निर्मित काल्पनिक वाक्योकी रचना की जाय। वैसे कुछ विशेषताओंका पता भाषाशास्त्रियोंने लगाया अवश्य है। ये विशेषताएँ ऋग्वेदके मंत्रोकी पदरचनामे पाई जाती है। ऋग्वेदके मन्त्रोमे प्राय सर्वनाम वाक्यमे द्वितीय स्थानपर प्रयुक्त होते थे, यद्यपि कभी-कभी इस प्रकारका प्रयोग संदिग्धता भी पैदा कर सकता है। जैसे **"ने न मेऽग्निर्वैश्वानरो मुखान्निष्पद्यातै"** जिसमे **"मे"** का अन्वय **अग्नि** के साथ होनेका संदेह होता है, यद्यपि उसका सम्बन्ध **मुखात्**से है। इसका अर्थ यो है—"अत अग्नि वैश्वानर मेरे मुखसे बाहर न गिरे।" इस विशेषताका सन्तोषजनक कारण तो पता

नहीं, किन्तु जर्मन विद्वान् वाकेरनागेलके मतानुसार यह विशेषता ग्रीक तथा अन्य भा० यू० भाषाओंमें पाई जाती है। सम्भव है, यह आ० भा० यू० भाषाकी वाक्यरचनात्मक विशेषताओंमेंसे एक रही हो।

जहाँ तक इस परिवारकी भाषाओंके आदिम शब्दकोषका प्रश्न है, सभ्यताके उष:कालमें प्रयुक्त शब्द प्रायः इन सभी भाषाओंमें एक-से पाये जाते हैं। पिता, माता, भ्राता, भगिनी, दुहिता, जामाता, उदक, आपः, अग्नि, जनिता, क्ष्मा आदिके समानान्तर शब्द अन्य भा० यू० भाषाओंमें भी मिल जाते है। सबसे बड़ी विशेषता, जिसका अनुमान आ० भा० यू० भाषाकी संज्ञाओंके लिंगके विषयमें किया जा सकता है, यह है कि वहाँ पुल्लिग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंगका विभाजन पुरुष, स्त्री या अचेतन पदार्थसे सम्बद्ध नही था, अपितु लिंग तत्तद्भावका बोधक था, जो किसी भी व्यक्ति या वस्तुकी किसी विशेषतासे सम्बद्ध था। हम देखते है कि संस्कृत 'दार' शब्द पुलिंग है, साथ ही बहुवचन भी, इसी तरह कलत्र तथा मित्र नपुंसक हैं।

इस प्रकार हमने वैदिक संस्कृत तथा ग्रीक जैसी भारत यूरोपीय परिवारकी समस्त भाषाओंकी कल्पित जननीके भाषाशास्त्रीय रूपका संक्षिप्त अध्ययन किया। यद्यपि भाषाओंके पारस्परिक सम्बन्धको व्यक्त करनेके लिए माता, पुत्री, पौत्री, भगिनी, मातृष्वसा आदि औपचारिक शब्दोंका प्रयोग किया जाता है तथापि शुद्ध भाषाशास्त्रीय अध्ययनकी दृष्टिसे इस प्रकारके औपचारिक शब्दोंसे बचना ही श्रेयस्कर है। वैसे हम स्वयं भी परम्परागत रूपमें इस प्रकारकी औपचारिक पदावलीका प्रयोग इसी परिच्छेदमें कर चुके हैं। शास्त्रीय दृष्टिसे भाषाओंका जीवन 'विकासवाद' से अत्यधिक प्रभावित है। जिस प्रकार प्राणिशास्त्रके मतानुसार प्राणी [जन्तुविशेष] विकसित होकर विभिन्न स्थितियोंसे गुजरता है, ठीक उसी प्रकार भाषा भी उत्पन्न न होकर विकसित होती है। प्राकृत, वैदिक संस्कृतकी पुत्री न होकर वस्तुतः किन्ही परिस्थितियोंके कारण उसका ही परिवर्तित या विकसित रूप है। कुछ विद्वान् इस 'विकास'को 'ह्रास' संज्ञा देते है। किन्तु भाषाका ह्रास

न होकर विकास ही होता है। इस विकासके नियामक तत्त्व भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियाँ है, जो किसी भाषाकी ध्वनि, पदरचना, वाक्यरचना तथा शब्दकोषमे परिवर्तन करती है। इसका यह तात्पर्य नही कि वह भाषा उस पूर्व रूपसे सर्वथा भिन्न है। वस्तुत वह उसीका विकसित रूप है। भाषाके वास्तविक मूल तत्त्व उसमे भी ठीक उसी रूपमे विद्यमान है। हम यो कह सकते है कि भाषाके विकसित रूपोके सम्बन्धमे सांख्य दर्शनका परिणामवाद या सत्कार्यवाद वाला सिद्धान्त मानना अनुचित नही होगा। प्राचीन संस्कृत विद्वान् भाषामे विकास न मानकर ह्रास मानते है। प्राकृत यथा अपभ्रंशको वे सस्कृतका 'पतित' रूप मानते है। इसीलिए कान्यकुब्जेश्वर गोविन्दचन्द्रके राजपण्डित दामोदर भट्टने अपने समयकी अपभ्रश [प्राचीन कोसली अवधी[1]] के द्वारा राजकुमारोको संस्कृत सिखानेके लिए बनाये गये ग्रन्थ "उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्" मे लिखा है "हम थोडेसे परिवर्तनोसे ही अपभ्रश [देशभाषा] को संस्कृत बनाते हैं। यह [देशभाषा] ठीक उसी प्रकार संस्कृत बन जायगी जैसे कि पतित ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करनेपर पुन ब्राह्मणी बन जाती है।"[2]

पर फिर भी शुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे किसी भाषाको भ्रष्ट, पतित या ह्रासोन्मुख कहना अवैज्ञानिक ही माना जायगा।



१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीका मत है कि यह 'कोसली अवधी' न होकर प्राचीन भोजपुरी है। किन्तु डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने जो इस ग्रन्थके सम्पादक हैं, अपनी विस्तृत भूमिकामें इसे प्राचीन कोसली अवधी ही कहा है।

२. पतिता ब्राह्मणी कृतप्रायश्चित्ता ब्राह्मणीत्वमिति चेति।

—उक्तिव्यक्तिप्रकरणम् पृ० ३

संस्कृत तथा अवेस्ता [भारत-ईरानी शाखा]

आर्योका एक दल मध्य-एशियासे चलकर ईरानकी ओर बढा। यह दल सर्वप्रथम खीवाके शाद्वलमे आकर रुका। इस समय तक यह दल अविभाजित था। यहीसे यह दल दो वर्गोंमे विभक्त हो गया। एक दल पश्चिमकी ओर बढा, दूसरा दक्षिण-पूर्वकी ओर। प्रथम वर्ग ईरानमे स्थित हो गया, दूसरा दल गान्धार देशको पारकर खैबर तथा बोलानके दर्रोंके द्वारा सप्तसिन्धु प्रदेशमे प्रविष्ट हुआ। यद्यपि खीवाके शाद्वल तक इन दोनों दलोंकी भाषाका एक ही रूप था तथापि बादमे भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक कारणोसे दोनों वर्गोंका विकास अपने-अपने रूपमे हुआ। फिर भी थोडे ध्वनिपरिवर्तनोंके अतिरिक्त, आरम्भमे ये भाषाएँ एक-सी ही थी। आरम्भमे तो ईरानियो तथा वैदिक आर्योंके पितामह एक-सी ही भाषा बोलते थे, इसमे कोई सन्देह नही। यह सिद्ध हो चुका है कि ईरानियो तथा वैदिक आर्योंके पितामह चिरकाल तक एक ही समाजके व्यक्तिके रूपमे साथ-साथ रहे थे; उनकी सामाजिक रीति-नीति एक-सी ही थी, जो ऋग्वेद तथा अवेस्ताके तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट है। वेद तथा अवेस्ताकी भाषा तो परस्पर इतनी निकट है कि प्रायः ऐसा कहा जाता है कि अवेस्ताकी भाषा कालिदासकी संस्कृतकी अपेक्षा वैदिक संस्कृतके विशेष निकट है। अवेस्ता तथा वेदोंकी भाषाओंमे उससे कही अधिक भेद नही है, जितना कि ग्रीक भाषाके प्राचीन शिलालेखोंमे उपलब्ध विभाषाओंमे पाया जाता है। दोनों भाषाओंकी संघटना इतनी समान है कि अवेस्ताकी गाथाकी भाषाको कतिपय ध्वनिनियम सम्बन्धी परिवर्तनोंके आधारपर वैदिक संस्कृतके रूपमे परिवर्तित किया जा सकता है। उदाहरणके लिए अवेस्ताके दशम यस्नकी अष्टम गाथाको लीजिए। गाथाका मूल रूप यों है:—

यो यथा पुथ्र॒ अम् तउरुनअम् हओमअम् वन्दएता मश्यो ।

[yo yaθa puθrəm taurunəm haoməm wandaeta mas'yo.]

फ्र आब्यो तनुब्यो हओमो वीसइते बएशज़ाइ ॥

[ɸra abyo tanubyo haomo wisaite baes'azai]

इस गाथाको हम वैदिक संस्कृतमें इस प्रकार परिवर्तित कर सकते हैं —

यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्देत मर्त्यः ।

प्र आभ्य तनुभ्य सोमो विशते भेषजाय ॥

यहाँ हम देखते हैं कि दोनामें वास्तविक भेद ध्वन्यात्मक ही है।

ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे भारतीरानी [Indo-Iranian] शाखाकी इन दोनों भाषाओंमें प्राचीन भारत-यूरोपीय ***ए, *ओ, *अ,** का भेद नहीं रहा है। यहाँ आकर ये सभी **अ** तथा उनके दीर्घ रूप **आ** हो गये हैं। ग्रीक भाषामें इनका भेद बना रहा है। अतः यह स्पष्ट है कि यह परिवर्तन वैदिक आर्य तथा ईरानियोंके पूर्वजोंके द्वारा बोली जानेवाली प्राचीन भारत-ईरानी विभाषामें ही हो गया था। इस प्रकार ग्रीक **एपि पेतेतइ** [epi pe-tetai] संस्कृतमें तथा अवेस्तामें क्रमश [**सं०**] **अपि पतति;** [**अवे०**] **अइपि अ-पत-त्** [aipi a-pata-t] मिलेगा। प्रा० भा० यू० ***अ** इस शाखामें भी **अ** ही बना रहा है, यथा ग्रीक **अक्मोन** [akmon], **सं० अश्मन्, अवे० अस्मन्।** अ की इस प्रकारकी बहुलताके कारण पहले ऐसा सोचा जाता था कि संस्कृत तथा अवेस्ताने प्रा० भा० यू० रूपोंको अप-रिवर्तित रूपमें सुरक्षित रक्खा है तथा ग्रीकमें यही 'अ' बादमें जाकर त्रिरूप [**अ, ए, ओ**] हो गया है, किन्तु जैसा कि हम प्रा० भा० यू० के तीन कण्ठ्योंके विकासमें देखते हैं, इन त्रिरूप स्वरोंका बड़ा हाथ है। अत. उस मतको छोड़ देना पड़ा तथा प्रा० भा० यू० में तीनों ह्रस्व स्वरों—***अ, *ए, *ओ** की सत्ता माननी पड़ी। जहाँ भी ग्रीक तथा लैतिनमें कण्ठ्य ध्वनिके

बाद 'ए' पाया जाता है, वहाँ 'सतं' वर्गकी भाषाओंमें तालव्य रूप [श, छ आदि] मिलता है। यह तालव्यीभाव हिन्द-ईरानी शाखामें इ [य्] के पूर्व ही पाया जाता है; जैसे सं० ओजीयस्; किन्तु सं० उग्र; अवेस्ता अओजिस्त, किन्तु अओग—[सं० दाघिष्ठ][1]। अतः यह कल्पना की गई कि वास्तविक रूपमें तालव्यीभावकारी भारत-ईरानी अ, इ-रंजित [i-coloured] था, अर्थात् प्रा० भा० यू० रूपमें यह *ए॒ था। इसी आधारपर यह मत स्थापित किया गया कि प्रा० भा० यू० स्वरोंको ग्रीकने सुरक्षित रक्खा है, जब कि संस्कृत तथा अवेस्तामें ये सभी स्वरध्वनियाँ नहीं पायी जाती।

यद्यपि भारत-ईरानी अ प्रा० भा० यू० *ए॒, *ओ॒, *अ तीनोंसे निकला है तथापि इसका एक अपवाद पाया जाता है। प्रायः प्रा० भा० यू० *ए॒, ओ॒, *अ संस्कृत तथा अवेस्तामें अ हो जाते हैं, किन्तु वे ह्रस्व त्रिस्वर, जो ग्रीकमें इनके दीर्घ स्वर ए, ओ, आ के अपश्रुतिजनित रूप हैं, भारत-ईरानी वर्गमें अ न होकर इ होते हैं। उदाहरणार्थ, ग्रीक शब्द 'ए॒-त॒-थेन' [etethen] को लीजिए जो भूतकालका रूप है। यहाँ त॒ में ह्रस्व ए॒ दीर्घ ए का ही अपश्रुतिजनित रूप है, जो इसके वर्तमान कालके रूप तिथेमि में पाया जाता है। इसमें वास्तविक धातु थे [the] [*धे, *dhē] है। इसीके दुर्बल रूपमें लैतिनमे अ पाया जाता है, यथा लैतिन फ़सिओ [fasio]। किन्तु संस्कृतमें यह *धत [*हत] न होकर हित[2] [√धा + क्त] होता है। अर्थात् ग्रीकमे जहाँ प्रा० भा० यू० दीर्घ *ए का ह्रस्व रूप ए॒ [e] पाया जाता है, वहाँ संस्कृत [भारत ईरानी शाखा] में 'इ' हो गया है। एक दूसरा उदाहरण और लीजिए। प्रा० भा० यू०

१. यहाँ 'ओजीयस्, अओजिश्त, या दाघिष्ठकी 'ज' तथा 'घ' ध्वनियाँ कण्ठ्य 'ग' 'घ' का विकास है, उग्रमें वह 'ग' ही रही है, इ के कारण अन्यत्र 'ज' हो गई है, देखिए 'ग', 'ज' का विकास [अगले परिच्छेदमें]।

२. दधातेर्हिः।

*दो [*do] धातुमे 'ओ' दीर्घ स्वर है, इसका वर्तमान रूप सबल स्थितिमे ग्रीकमे 'दिदोमि' [didomi] है। दुर्बलरूपमे ग्रीकमे यह भूतकालमें ए-दो-थेन् [edothen] हो जाता है, जो संस्कृतके 'अदाम्' के समानान्तर है। लैतिनमे यह दुर्बल रूपमे अ होता है, यथा दतुस् [datus]। किन्तु संस्कृतमे दुर्बल रूपमे इ पाया जाता है, जैसे सं० अदिथाः। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ भारत-ईरानीमे 'इ' ध्वनि है तथा अन्यत्र [ग्रीकके अतिरिक्त भाषाओमे, क्योकि ग्रीकमे तीनो ही स्वरोंका दीर्घ रूप दुर्बलस्थितिमें ह्रस्व हो जाता है] अ ध्वनि है, वहाँ वास्तविक [मूल] रूपमे इन तीनों दीर्घ स्वरोका वह दुर्बल रूप रहा होगा, जिसका कारण अपश्रुति [Ablaut] है। इन दुर्बल रूपोंमे, वे धातु जिनमे स्वर ह्रस्व था, उस स्वरको सवथा खो देते थे; किन्तु दीर्घ स्वरवाले धातुओमें इनका अवशेष एक अत्यधिक दुर्बल स्वरके रूपमे अवश्य रह जाता था। यही दुर्बल स्वर भाषा शास्त्रमे 'श्वा [schwa] के नामसे प्रसिद्ध है तथा इसके चिह्नके लिए रोमन उलटे ई [ə] का प्रयोग किया जाता है। हम इसके लिए देवनागरीमे अ का प्रयोग कर रहे हैं। यही अ भारत-ईरानीमे इ हो गया है, ग्रीकके अतिरिक्त अन्य भाषाओंमे यह अ पाया जाता है, ग्रीकमे कभी तो यह भारत-ईरानी इ, अ रूपमे पाया जाता है, कभी नही पाया जाता[1]; यथा सं० पिता; अवेस्ता [फ़ारसी] पिता, ग्रीक पतेर [pater], सं० स्थितः, ग्रीक स्ततोस् [statos], सं० हितः, ग्री०-थेतोस् [thetos]।

भारत-ईरानी शाखाकी दूसरी विशेषता य् तथा व् अन्तःस्थ ध्वनियोंका विशेष प्रकारका प्रयोग है जो अन्य भारोपीय भाषाओंमे नहीं पाया जाता। वेद तथा अवेस्ता दोनोकी भाषासे ऐसा जान पड़ता है कि इ के पूर्व होनेपर य् ध्वनि तथा उ के पूर्व होनेपर व् ध्वनि लुप्त हो जाती

१. Wackernagel. Altindische Grammatik Vol.I.P.16, § 15.

थी। उदाहरणके लिए संस्कृत **श्रेष्ठ**को लीजिए, अवेस्तामें इसके समानान्तर **स्रएश्त** [sraes̆ta] शब्द मिलते हैं। यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि ऋग्वेदमें **श्रेष्ठ** शब्द प्रायः त्र्यक्षर [trisyllabic] माना गया है। अतः स्पष्ट है कि इसका मूल रूप '**श्रय्**' है। **श्रेष्ठ** तथा **श्री**रमे ठीक वही सम्बन्ध है, जो **शविष्ठ** तथा **शूर**में, एवं **दविष्ठ** तथा **दूर**में है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि कि **श्रेष्ठ**का वास्तविक संस्कृत रूप ***श्रयिष्ठ** अवश्य रहा होगा, तभी यह त्र्यक्षर माना जा सकता है। यह ***श्रयिष्ठ** सर्वप्रथम ***श्रइष्ठ** हुआ होगा, बादमें **श्रेष्ठ**। इसी प्रकार ऋग्वेदके '**रेवत्**' '**रयिवत्**' रूपोको लिया जा सकता है जो दोनों ही रूपमे ऋग्वेदमे पाये जाते है। अवेस्ताका **रएवत्** [raevat] भारत-ईरानी प्राचीन रूप **रयिवत्**से ***रइवत्**के द्वारा विकसित हुआ है। इसी आधारपर संस्कृतमे वे धातुरूप जो प्राय: प्राचीन रूपमें **यि** वाले थे, पदादिमें केवल **इ** ध्वनिसे युक्त पाये जाते हैं। यथा √**यज्** धातुके सन्नन्त रूप **इयक्षा**को ले लीजिए, जो ऋग्वेदमे पाया जाता है। लौकिक संस्कृतमे आकर सादृश्यके आधारपर इसमे फिरसे 'य्' जोड़कर **यियक्षा** रूप बना दिया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थोमे 'य' वाला रूप पाया जाता है, यथा √**यम्** से '**यियंस**—,' √**यभ्**' से '**यियप्स**—'। कुछ रूपोंमे लौकिक संस्कृतमे भी प्राचीन इ-वाला रूप ही बचा रह गया, जैसे '**यज्**' धातुके परोक्षभूते लिट्के रूप '**इयाज**'मे। किन्तु इस संबंधमे व् ध्वनिके ऐसे विकासका उल्लेख नही किया जा सकता। अवेस्तामे इसके कोई उदाहरण नहीं मिलते, जहाँ **उ** के पूर्व होनेपर **व्** का इस प्रकारका लोप पाया जाता हो। साथ ही '**व्**' '**उ**' जैसी ध्वनियोंका संयोग प्राचीन भारत-यूरोपीयमें न्यून था। संस्कृतमें यदि कहीं भा० यू० **व्** का **उ** रूप पाया जाता है तो 'र्' [रेफ] के स्वरीभूत रूप [**ऋ**] के कारण। यथा सं० उरा, **ऊर्मि** को क्रमशः प्रा० भा० यू० ***वृरेन्** [wr̥ren] देखिए ग्रीक **वरेन** [waren] तथा ***वृम** [wr̥ma] प्रा० हाई जर्मन **वरम**

[walm] से विकसित माना जा सकता है। यह विशेषता केवल संस्कृतमे ही पाई जाती है। अवेस्तामे यह 'व' 'व' ही बना रहता है, **सं० उरः, अवेस्ता वरो** [waro], **सं० ऊर्णा, अवे० वर्अन** [warən] संस्कृत क्रियाके परोक्षभूत लिट्मे यह **व** पदादिमे **उ** हो जाता है, यथा **संस्कृत** √ उच् तथा √ वस् धातुसे क्रमश. **उवाच** एवं **उवास** रूप बनते है। किन्तु इनमे वास्तविक प्रथमाक्षर प्राचीन भारत यूरोपीय *व-था, ***वु**-नही था। अवेस्तामे यह **व** ही बना रहता है, तथा वहाँ **ववश** [wawas̆a] रूप पाया जाता है। इसीलिए अवेस्तामे संस्कृतके पदादि 'उ' वाले परोक्षभूत रूप जैसे रूप नही मिलते।

सस्कृत तथा अवेस्ता दोनोमे ही प्रा० भा० यू० ***स्** ध्वनि **इ,उ,र्** तथा कण्ठ्य ध्वनियोसे परे होनेपर परिवर्तित हो जाती है। इस स्थितिमे प्रा० भा० यू० ***स्** भारत-ईरानी वर्गमे **श** [s̆] हो जाता है। संस्कृतमे यह **श** बदल कर **ष** हो गया है, जब कि अवेस्तामे **श** ही रहा है। यह परिवर्तन **अ या आ** ध्वनिसे परे होनेपर नही पाया जाता। उदाहरणके लिए संस्कृतके सप्तमी बहुवचनके सुप्प्रत्यय '**सु**' को लीजिए, जिसका प्रा० भा० यू० रूप भी ***सु** [*su] है यह **इ, उ** [**साथ ही ए, ओ भी**] से परे होनेपर संस्कृतमे **षु** हो जाता है **कविषु, भानुषु**। अवेस्तामे यह **शु** [s̆u] होता है; **अवे० बूमिशु** [būmis̆n] [**सं० भूमिषु**], **गोउरुशु**[gourus̆u] [**सं० गुरुषु**]। इसी प्रकार 'र' तथा कण्ठ्य ध्वनिके कारण भी यह संस्कृतमे 'ष' तथा अवेस्तामे 'श' हो जाता है।

सं० तृष्णा, अवे० तश्नों [tars̆no]; **गोथिक, थोर्स्यन्** [θorsyan]

सं० उक्षित[1], **अवे० उख़्शेइति** [uxs̆eiti], **ग्रीक अउखनो** [aukhanō]

1. **सं० क्ष = क् + ष [कषसंयोगे क्षः]**

संस्कृत तथा अवेस्ताकी यह विशेषता बाल्तोस्लाविक जैसी 'सतं' वर्गकी अन्य भाषामे पाई जाती है। वहाँ भी ऐसी परिस्थितियोमे 'स' 'श' हो जाता है। जहाँ प्रा० भा० यू० मे 'श्वा' [अ (ə)] था, वहाँ भारतेरानीमे इ रूप के कारण *स् ध्वनि श हो जाती है, किन्तु यह विशेषता बाल्तोस्लाविकमे नही पाई जाती, क्योकि वहाँ प्रा० भा० यू० 'श्वा' 'इ' न होकर लैतिनकी भाँति 'अ' होता है।

सं० क्रविष् [मांस], अवे० खूविश्यन्त [xrawıˇsyanta] [रक्तपिपासु] ग्रीक क्रेअस् [kreas] प्रा० स्ला० क्रुव्यस् [kruvas]; प्रा० भा० यू० *क्रेव्अस् [krewəs]

पदरचनाकी दृष्टिसे संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोकी सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इनमे भारत यूरोपीय 'इ' तथा 'ए' स्वर जो क्रमश· वर्तमान तथा परोक्ष भूतके द्वित्व [reduplicated] रूपोमे पाये जाते थे भिन्न-भिन्न रूपमे नही है। यहाँ दोनो ही रूपोमे 'इ' स्वर वाला ही द्वित्व रूप पाया जाता है, यथा—

सं० तिष्ठति, अवे० ह्रिश्त्अन्ति [hısˇtəntı]; ग्रीक, हिस्तेमि [histemı]
सं० शिषक्ति, अवे० हिशक्ति [hısˇaxtı].
सं० इयर्ति, अवे० [उज्] यराते [(uz)–yerat]

इतना होनेपर भी प्रा० भा० यू० ए के भी अवशिष्ट चिह्न भारत-ईरानीमे पाये जाते हैं।-सं० ददाति, अवे० ददइति [dadaıti] को लीजिए, ये वर्तमानके रूप हैं, अतः ध्यान रखिए प्रा० भा० यू० रूप *दिदोति [*didotı] होगा, *ददाति [*dedōtı] नही। ग्रीकमे यह प्रा० भा० यू० 'इ' दिदोसि [didōsı] मे स्पष्ट है। यद्यपि यहाँ प्रा० भा० यू० 'ए' नही था, तथापि उसीके मिथ्यासादृश्यके आधारपर यह प्रा० भा० यू० 'इ' संस्कृत व अवेस्तामें इन शब्दोंमें 'अ' हो गया है, जो भाषा-

शास्त्रीय दृष्टिसे अपवाद है। यह मिथ्या-सादृश्य किसी परोक्षभूतके रूपके ही आधारपर हुआ होगा, जैसे सं० **बभूव** [प्रा० भा० यू०* **भेभूवे** *bhebhuwe] आदिके आधारपर। इसी प्रकार परोक्षभूतमें भी मिथ्या-सादृश्य या उपमानके आधारपर 'इ' पाया जाता है, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे 'अ' होना चाहिए, यथा सं० **दिदेश** [प्रा० भा० यू० ***देदेक्य** *dedeke]। इस सादृश्यके आधारपर सर्वप्रथम उन धातुओंके वर्तमानमें, जिनमें 'इ' पाया जाता था, द्वित्व रूपमें 'इ' हो गया। यह 'इ' संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमें है। यह इ-ध्वनि वर्तमान रूपोंके आधारपर परोक्षभूतके द्वित्वरूपोंमें भी पाई जाने लगी, जैसे सं० √**द्विष् से बने दिद्वेष** तथा **अवे० दिद्वएश** [didwaesˇa] में। धीरे-धीरे यह 'इ' उन धातुओंके रूपोंमें भी पाया जाने लगा, जहाँ वस्तुतः धातुके मूलरूपमें 'इ' नहीं था, यथा संस्कृत√**वस्** से **विवस्वान्**। इसी प्रकार अवेस्तामें भी **दा** [da] [सं०√**धा, प्रा० भा० यू० *धो** [*dhō] धातुके **दिदार** [didāra] **ददार** [dadāra] दोनों रूप पाये जाते हैं, जो संस्कृत **'दधार'** [**प्रा० वैदिक रूप दाधार**] के समानान्तर हैं। इस 'इ' के उपमानके आधारपर संस्कृत 'उ' वाले धातुओंमें 'उ' स्वरका भी द्वित्व पाये जाने लगा। सं० √**दिश्** से बने **दिदेश** के सादृश्यपर √**जुष्** से **जुजोष** बना, यद्यपि अवेस्तामें इसके द्वित्व रूपमे 'इ' ही पाया जाता है, जो अवेस्ता शब्द **जिज़ुश्ते** [zizusˇte] में स्पष्ट है। किन्तु यह सादृश्यजनित 'उ' किन्हीं-किन्हीं रूपोंमें अवेस्तामें भी मिल जाता है, यथा **संस्कृत, शुश्रूषति; अवेस्ता, सुस्रूश्अम्नो** [susrūsˇəmno]। वर्तमानके सादृश्यके आधारपर यह 'उ' परोक्षभूतमें पाया जाने लगा तथा **रुरोध, पुपोष** जैसे रूप बने। संस्कृतमें दीर्घ ऊकारान्त धातुओंमें केवल 'भू' तथा 'सू' इन धातुओंके परोक्षभूतमें ही द्वित्व रूपमें प्रथम स्वर **अ** [***ए***e] पाया जाता है, जो क्रमशः **बभूव** तथा **ससूव** [**दूसरा रूप सुषुवे भी है**] से स्पष्ट है।

धातुके कर्मवाच्य रूपके सामान्यभूतमें संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमे इ पाया जाता है, जो अन्य किसी भारोपीय भाषामें नहीं पाया जाता, यथा **सं० अवाचि** [**अवे० अवाशि** [awās̆ı] । संस्कृतमें इसका प्रयोग कर्मवाच्यमे अन्य पुरुषके चिह्नके रूपमें पाया जाता है । ठीक इसी रूपमे इसका प्रयोग अवेस्तामे होता है । किन्तु इस पदरचनात्मक विशेषताकी उत्पत्ति स्पष्ट नहीं है । फिर भी यह तो निश्चित है कि यह भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है ।

इसी प्रकार इन दोनों भाषाओंके आज्ञात्मक [लोट्] रूपोके अन्य पुरुष एकवचन तथा बहुवचनके रूपोमे भी ऐसी ही समानता पाई जाती है, संस्कृत **भरतु, भरन्तु**, अवेस्ता **बरतु** [baratu], **बर्अन्तु** [barəntu] इसके अतिरिक्त उत्तम पुरुषके एकवचनमे भी दोनोंमे **आ**, तथा **आनि** दोनों प्रकारके वैकल्पिक रूप पाये जाते है, संस्कृत, **भवा, भवानि** । लौकिक संस्कृतमे आकर **भवा** वाला रूप लुप्त हो गया है । यह **आनि** प्रा० भा० यू० विध्यात्मक [optative] तिङ् विभक्ति ***आन** से विकसित हुआ है । संस्कृतके आज्ञात्मक [imperative] रूपोंमे अत्यधिक पाये जानेवाले "**–तात्**" वाले रूप [**यथा सं० भवतात्, भरतात्**] प्रा० भा० यू० मे तो रहे होंगे, किन्तु अवेस्तामे इनका सर्वथा अभाव है ।

सुप् विभक्तियोंकी दृष्टिसे भी संस्कृत तथा अवेस्तामें कई समानताएँ पाई जाती हैं । सर्वप्रथम हम षष्ठी बहुवचनकी विभक्ति-**नाम्** को लेते है, जो दोनोंमें पाई जाती हैं । [प्रा० भा० यू० में यह सम्बन्धबोधक बहुवचन केवल ***ओम्** [ōm] था । यह हलन्त तथा अदन्त [अजन्त] दोनों प्रकारके शब्दोंमें प्रयुक्त होता था । यह ***ओम्** संस्कृतमे आकर **आम्** हो गया है । हलन्त शब्दोंमें तो संस्कृतमें यह **आम्** ही प्रयुक्त होता है; **सं० गच्छताम्** [**गच्छत् + आम्**], **जगताम्, पयाम्** । किन्तु अदन्त शब्दोंमें यह प्रायः **नाम्** हो गया है, **सं० देवानाम्** [**देव + न + आम्**], **भानूनाम्**,

हरीणाम्[1] । वेदमें केवल एक स्थानपर **देवां जन्मने** अदन्त शब्दमें **आम्** का प्रयोग मिलता है, लौकिक संस्कृतमे यह **देवानां जन्मके** रूपमे प्रयुक्त होगा। **नाम्** सुप् विभक्तिचिह्न सर्वथा नया न होकर प्रा० भा० यू० विभक्ति चिह्न *नोम् स विकसित हुआ है । किन्तु यह प्रा० भा० यू० सुप् विभक्ति चिह्न केवल आ-कारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमे ही था । संभव है, इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमे भी प्रयुक्त होता हो । इसके चिह्न पुरानी हाई जर्मनके स्त्रीलिंग रूपोंमें पाये जाते हैं (उदा०—पु० हा० ज० 'गेबोनो' (प्रातिपदिक गेबा)—' दानोंका) फिर भी यह बात ध्यान देनेकी है कि अ-कारान्त शब्दोंमें अवेस्ता तथा संस्कृतमे पाया जाने वाला [**आ**] **नाम्** [दे० **देवानाम्**] भारत-ईरानी विशेषता ही है । यह बात अवश्य है कि यह चिह्न अवेस्तामे केवल एक ही स्थानपर पाया जाता है; **सं० मर्त्यानाम्, अवे० मश्यानम्** [mas̆yanam] बाकी सब स्थानोंमे यह **अनम्**, ही है । अकारान्त शब्दोंके षष्ठी बहुवचनान्त रूपोंके सादृश्यपर इकारान्त, उकारान्त शब्दोमे भी 'नाम्' पाया जाने लगा; **सं० गिरीणाम्, अवे० गइरिनम्** [gairinam], **सं० वसूनाम्, अवे० वोहुनम्**[wohunam] । कभी-कभी संस्कृतमे तो यह 'नाम्' पाया जाता है, पर अवेस्तामे प्राचीन 'आम्' ही पाया जाता है, **सं० सखीनाम्, पशूनाम्; अवे० हशम्** [has̆am] **पश्वम्** [pas̆wam] । संस्कृतमे अधिकतर अदन्त शब्दोंमें यह 'नाम्' पाया जाने लगा ।[2]

स्त्रीलिंग शब्दोके आकारान्त रूपोमे संस्कृत तथा अवेस्तामें परस्पर बड़ी समानता है । इस प्रकारके शब्दोमें तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी तथा सम्बोधनके एकवचनके रूप एकसे ही हैं । यह समानता अन्य भारत

---

१. ध्यान दीजिए, 'नाम्'के पहलेका ह्रस्व अ, इ, उ, दीर्घ हो जाता है । देव+नाम्, हरि+नाम्, भानु+नाम्के रूप देवानाम्, हरीणाम्, भानूनाम् होते हैं ।

२. ऐकारान्त, ओकारान्त एवं औकारान्त शब्दोंके रूपोंमें 'नाम्' न होकर 'आम्' ही होता है; जैसे रायाम्, गवाम् आदि रूपोंमें ।

यूरोपीय भाषाओंमें नहीं पाई जाती तृतीया एकवचनमें प्रा० भा० यू० ***आ** का ही प्रयोग होता था, यथा **सं० सुकृत्या अवीरता** में जहाँ ये तृतीयान्त हैं। [**अ**] या का प्रयोग सर्वनाम स्त्रीलिंगोंमें होता था, धीरे-धीरे **तया, यया, कयाके** सादृश्यपर यह संज्ञाओंमें भी प्रयुक्त होने लगा, **सं० रमया, लतया**। चतुर्थी, षष्ठी [पंचमी] तथा सप्तमीके एकवचनोंमें संस्कृतमें द्व्यक्षर [disyllabic] विभक्त्यन्त पाये जाते हैं। इन सभीमें **आय्** रूप समान पाया जाता है। इस प्रकार संस्कृतमे क्रमशः **-आयै,-आयाः,-आयाम्** [**सं० लतायै, लतायाः, लतायाम्**] है। अन्य भा० यू० भाषाओंमे इनके समानान्तर विभक्तिचिह्न द्व्यक्षर न होकर एकाक्षर है। वस्तुतः आ० भा० यू०में ***आय्** नहीं पाया जाता था और यह भारत-ईरानी वर्गमे ही आकर आकारान्त स्त्रीलिग शब्दोंमें प्रयुक्त होने लगा था। किन्तु अवेस्तामे संस्कृतके समानान्तर रूप देखे जा सकते है,**-अयाइ**,[ayāi],**-अया,-अया** [ayā] जिनमें 'अ'का ह्रस्व रूप तृतीया एकवचनके चिह्न 'अया'के सादृश्य-पर माना जा सकता है। प्रा० भा० यू०में *आय्वाला रूप नहीं था, भारत-ईरानीमें आकर यह इकारान्त या **-या** अन्तवाले शब्दोंके सादृश्यके आधार-पर चल पड़ा होगा। इस आधारपर **आयै, आयाः, आयां** को **रुच्यै, रुच्याः, रुच्याम् या देव्यै, देव्याः, देव्याम्** जैसे रूपोंके आधारपर माना जा सकता है। प्रा० भा० यू० भाषामें चतुर्थी तथा सप्तमी दोनोंकी विभक्ति ***-इ**, थी, इस प्रकार आकारान्त शब्दोंमें दोनों विभक्तियोंमें ***-आइ** अन्त वाले रूप बनते थे। धीरे-धीरे सप्तम्यन्तको चतुर्थ्यन्तसे भिन्न बतानेके लिए 'आइ' के बादमें भारत-ईरानीमें 'आ' जोड़ दिया गया इस प्रकार ***आया** रूप बना। संस्कृतमें आकर इसमें **अम्** जोड़ दिया गया [**आयां = *आ + *इ + आ + अम्**]। इसी '**आयाम्**'के सादृश्यपर चतुर्थी तथा पंचमी-षष्ठी-मे भी दोनों भाषाओंमें 'आकारान्त' रूपोंमे '**आय्**'का समावेश हो गया।[1]

१. Wackernagel: Altindische Grammatik Vol. iii P.43 §16 (c)

संबोधनके एकवचनमें संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमें ही आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें 'ए' पाया जाता है [**सं० रमे, लते**]। यह विशेषता अन्य भा० यू० भाषाओंमें नहीं पाई जाती। अवेस्तामें इसके **आ** एवं ए दोनों प्रकारके रूप मिलते हैं। **अवेस्ता, रजिस्ते** [razisˇte] [**संस्कृत *रजिष्टे**], **अवेस्ता, पोउरुरुशिश्ता** [pourarusˇisˇta] [**संस्कृत *पुरुरुचिष्टे**][1]। संबोधनके इस ए विभक्तिचिह्नका विकास अस्पष्ट है। अन्य भा० यू० भाषाओंमें आकारान्त शब्दोंका संबोधन एकवचन रूप **अ** से युक्त होता है। यथा ग्रीक भाषाके **नुम्फे** [numphe] [**प्रा० रूप नुम्फा**], [**मिलाइए; अँगरेजी** [nymph] जिसका अर्थ 'अप्सरा' है] का संबोधनमें **नुम्फ** [numpha] रूप होता है।

संस्कृत तथा अवस्तामें इकारान्त शब्दोंके सप्तमी एकवचनमें 'औ' विभक्त्यन्त पाया जाता है, यथा **सं० कवौ,** हरौ। यह औ वस्तुतः ऊकारान्त शब्दोंके भानौ, **गुरौ** आदि रूपोंके सादृश्यपर पाया जाता है। मूल भारत-यूरोपीय विभक्तिचिह्न ***आइ** था। वेदमें भी यह विभक्त्यन्त **अग्ना-यी** के रूपमें पाया जाता है। किन्तु इस उदाहरणके अतिरिक्त इकारान्तके सप्तम्यै-कवचनान्त रूप उकारान्त शब्दोंके औ के सादृश्यपर ही संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमें पाये जाते हैं। अवेस्तामें यह **औ** न होकर **आँ** [**a**ˇ] हो गया है। संस्कृतमें तृतीया एकवचनके इकारान्त शब्दोंके रूपोंमें प्रायः '[**इ**] **या**, **आ** तथा '**इना**' विभक्त्यन्त पाये जाते है, यथा **मत्या, जगता, कविना** में। किन्तु कभी-कभी इन रूपोंमें केवल **ई** ही पाया जाता है, यथा **वैदिक सं० अचित्ती** [**लौ० सं० अचित्या**]। यह विशेषता वैदिक संस्कृतमें ही पाई जाती है। अवेस्तामें तो '**हशा**' [hasˇa] [**सं० सख्या**] को छोड़कर बाक़ी सभी तृतीयैकवचनान्त रूपोमें यहाँ 'ई' पाया जाता है। इसी

१. संस्कृतमें रजिष्टे या पुरुरुचिष्टे जैसे पद नहीं मिलते, इसलिए ये पद तारकचिह्नित किये गये हैं। अवेस्ताके आधारपर यदि संस्कृतमें कोई रूप मिलता, तो ऐसा होता।

प्रकार उकारान्त शब्दोंके इस विभक्तिके रूपोंमें अवेस्तामें **ख्रथ्वा** [xraϑwā], [**मि० सं० क्रत्वा;** जो संस्कृत **क्रतु** शब्दका तृतीया एकवचन है; वैदिक संस्कृतमे यह **क्रत्वा** रूप मिलता है; लौकिक संस्कृतमें यह रूप नहीं मिलता, यहाँ वह **क्रतुना** हो गया है ।], को छोड़कर प्राय: 'ऊ' वाले रूप ही पाये जाते है; यथा **अवेस्ता मइन्यू** [mainyū] [**सं० मन्युना**] ।

यहाँ तक हमने संस्कृत तथा अवेस्ताकी समानताओंपर ध्यान दिया । अब थोड़ा उन ध्वन्यात्मक भेदोंपर दृष्टिपात कर लें, जो संस्कृत तथा अवेस्तामें पाये जाते है । इन ध्वन्यात्मक विशेषताओंमे विशेष महत्त्व व्यञ्जनध्वनियोंके पारस्परिक भेदका है । अतः यहाँ हम उन्हींका संक्षिप्त संकेत करेंगे ।

समस्त भारत यूरोपीय भाषाओंमें केवल संस्कृत तथा तज्जन्य भारतीय भाषाओंने ही प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोंके चारों रूपोंकी रक्षा की है । इनमें अघोष अल्पप्राण, अघोष महाप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण चारों प्रकारके रूप पाये जाते है, जिनके उदाहरण क्रमशः क, ख, ग, घ है । अवेस्ता तथा फारसी वर्गकी भाषाओंमें यह बात नहीं पाई जाती, वहाँ महाप्राण रूपोंमें परिवर्तन हो गया है । अघोष महाप्राण ख, थ, फ वहाँ सोष्म ख़, थ़, फ़ हो गये है । सघोष महाप्राण घ, ध, भका महाप्राणत्व वहाँ सर्वथा लुप्त हो गया है; इनके स्थानपर ग, द, ब रूप पाये जाते है ।[1] यथा,

संस्कृत	अवेस्ता
शफ	सफ़ [safa]
यथा	यथ़ा [yaϑa]
सखा	हख़ [haxa]
भूमि	बूमि [bumi]

१. Bloch: L'Indo-Aryen pp. 50-51.

धेनु	दएनु [dacnu]
घर्म	गर्म [garm]
हन्ति	जइन्ति [zaıntı]

संस्कृत पदादि स अवेस्तामे ह पाया जाता है। संस्कृत पदादि श अवेस्तामे स होता है। संस्कृत ष अवेस्तामे श पाया जाता है। संस्कृत पदादि ह वहाँ ज हो जाता है।

संस्कृत	अवेस्ता
सप्त, सिन्धु	हप्त [hapta], हिन्दु [hındu]
शरत् [–द्]	सर्अद [sarəda]
जोष–जोष्टृ	जओश [zaos̆a]
हस्त	जस्त [ısta]
	[आ० फ़ा० दस्त]

ये समस्त भाषाशास्त्रीय तथ्य इस बातकी पुष्टि करते हैं कि संस्कृत तथा अवेस्ता वस्तुत भारत-यूरोपीय परिवारमे एक ऐसा युगल है, जिसे हम भारत-ईरानी वर्गके नामसे एक ही शाखा मान सकते है। इस संबन्धमे सबसे बडी बात ध्यानमे रखनेकी यह है कि संस्कृत या अवेस्ता शब्दसे हमारा तात्पर्य इन भाषाओके एक ही रूपसे नही है। जब हम संस्कृत या अवेस्ता शब्दका प्रयोग करते है, तो हमारा तात्पर्य उन समस्त विभाषाओ या बोलियो-से है जो संस्कृत या अवेस्ता कालमे भारत तथा ईरानके विभिन्न उपवर्गोंके द्वारा बोली जाती थी। यह प्रयोग ठीक उसी तरहसे किया जा रहा है, जिस प्रकार केवल 'प्राकृत' शब्दसे हमारा तात्पर्य प्राकृतके एक रूपसे न होकर पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी सभी भेदोसे है, अथवा जिस प्रकार 'हिन्दी' शब्दके प्रयोगमे खडी बोली, व्रज, बागडू, कन्नौजी, बुन्देली [यहाँ तक कि राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी आदि भी] आदिका भी समावेश हो जाता है। वैदिक कालमे संस्कृत भाषाके बोलनेवाले भी कई वर्गोंमे विभक्त थे तथा इन विभिन्न वर्गोंमे कुछ निजी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक विशेषताएँ

रही होंगी, यद्यपि ये विशेषताएँ अत्यधिक नगण्य थीं। पर इन विशेषताओं-का पता ऋग्वेदके मन्त्रभाग तथा अन्य वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त वैकल्पिक रूपोंसे लगता है। याद रखिए, वेद किसी एक मानवकी कृति न होकर विभिन्न वर्गोंके ब्राह्मणवर्ग [ऋषिवर्ग] की रचनाएँ हैं। यदि 'रचना' शब्द जरा बुरा लगे, तो मैं कहूँगा कि ये मन्त्र विभिन्न वर्गोंके ऋषियोंके द्वारा प्रत्यक्ष किये गये हैं। अतः तत्तत् वर्गकी विभाषाकी ध्वन्यात्मक तथा पद-रचनात्मक विशेषताएँ इनमें आ गई हैं। साथ ही कई मन्त्र भाग सीमान्त प्रदेशमें रचे गये हैं, तो कई कुरुपाञ्चालमें, तो कई अन्तर्वेदमें। इसी तरह मंत्रोंमें कालभेद भी पाया जाता है। ठीक यही बात अवेस्ताकी गाथाओंके विषयमें कही जा सकती है, जिनमें भी विभिन्न वैभाषिक विशेषताएँ स्पष्ट हैं। अवेस्ताकी गाथाएँ एक ही कालकी नहीं हैं, ठीक उसी तरह जैसे वैदिक मंत्र भी एक ही कालकी रचना नहीं हैं। इस संबंधमें यह ध्यान देना आवश्यक है कि प्राचीनतम अवेस्ता भाषा प्राचीनतम संस्कृतसे भी अधिक 'आर्ष' [archaic] है। अवेस्ताकी प्राचीन गाथाओंमें वर्तमानकालके उत्तम पुरुष एक वचनमें आ [ā] तिङ् विभक्ति पाई जाती है, जो प्रा० भा० यू० वर्तमान उत्तमपुरुष ए० व० विभक्ति *ओ से विकसित है। जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रा० भा० यू० में वर्तमानके उत्तमपुरुष एकवचनके चिह्न *ओ तथा *मि दोनों थे। संस्कृतमें केवल मि ही पाया जाता है। ग्रीकमें ओ तथा मि दोनों पाये जाते हैं। अवेस्तामें भी [संस्कृतकी भाँति] बादकी गाथाओंमें केवल मि रूप ही पाया जाने लगा है।

सं० दधामि, अवेस्ता ददामि [dadāmi] **ग्रो० तिथेमि** [tithemi]
सं० भरामि, अवे० बरमि [barami] **ग्री० फेरो** [fero]

इस 'आर्ष' प्रयोगके अतिरिक्त गाथाकी विभाषामें एक और "आर्ष" [archaic] प्रयोग पाया जाता है, जो प्राचीनतम संस्कृतमें इतना अधिक नहीं पाया जाता। भारत-ईरानी वर्गमें 'सघोष महाप्राण + अघोष' संयुक्त ध्वनियाँ 'सघोष + सघोष महाप्राण' पाई जाती हैं। यह नियम जर्मन विद्वान्

बार्थोलोमेके नामपर "बार्थोलोमेका नियम" कहलाता है। बार्थोलोमेने अवेस्ताकी भाषापर महान् कार्य किया है। बार्थोलोमेके इस नियमके अनुसार गाथाकी विभाषामे अत्यधिक आर्ष प्रयोग पाये जाते है, जबकि संस्कृतमे आर्ष [प्राचीन] तथा बाद केदोनो प्रकारके रूप नही पाये जाते। आदिम भारतयूरोपीय भाषामे शब्दोके मूल रूपोमे आदि तथा अन्तकी ध्वनियाँ महाप्राण पाई जा सकती है, किन्तु सस्कृतमे दोनो स्थानोपर प्राय. महाप्राण ध्वनियाँ नही पाई जाती।[1] ऐसी दशामे संस्कृतमे अन्तकी ध्वनिकी महाप्राणता प्राय लुप्त हो जाती है। यह लोप अधिकतर 'स' ध्वनिके योगमे पाया जाता है। किन्तु इस विषयके संस्कृतमे कई अपवाद भी पाये जाते है। यथा संस्कृतके √दह् [*√घघ्य् *dhaghy–] के सामान्य भूतमे **दक्ष–**[*घक्ष नही] रूप पाया जाता है। इसी प्रकार संस्कृत √दुह् [प्रा० भा० यू० *√घुघ्य् [*dhughy–] के सामान्य भूतमें "**दुक्ष–** [घुक्ष–नही] रूप पाया जाता है। यह प्राणताका लोप एक प्रकारकी समस्या-सा है। इसीलिए पदपाठमे, ऐसी दशामें 'द' के स्थानपर 'ध' का प्रयोग पाया जाता है। इसी प्रकार √भस् तथा √घस् से व्युत्पन्न "**बप्स–**" तथा "**जक्ष–**" भी ऐसी ही समस्या है, जिनमे महाप्राणता सर्वथा नही पाई जाती। इस बातसे स्पष्ट है कि महाप्राण तथा स के योगका पूर्ववर्ती महाप्राण ध्वनिपर वैसा ही प्रभाव पाया जाता है, जैसा कि केवल परवर्ती महाप्राणका। किन्तु यह नियम उस समय कार्यशील था जब स-ध्वनिके योगसे मूल रूपोके अन्तमे पाई जानेवाली सघोष महाप्राण ध्वनि अघोष अल्पप्राण [**क्स, त्स, प्स**] नही हुई थी। अत यह मानना अनुचित न होगा कि "**सघोष महाप्राण + स**"[2] मे ऊष्मध्वनि भी सघोष हो

१. देखिए परिच्छेद ५.

२. ध्यान रखिए "स" [s] अघोष ध्वनि है, तथा इसका सघोष रूप "ज़" [z] है।

गई थी, तथा बार्थोलोमके मतानुसार ऊष्म तथा महाप्राणतामें वर्णविपर्यय [metathesis] भी हो गया था। यथा—

"घ् + स", "ध् + स" "भ् + स" ध्वनियाँ क्रमशः

"ग्ज़्ह", 'द्ज़्ह", ब्ज़्ह", [gzh, dzh, bzh]

हो गई थीं।[1] गाथाकी विभाषामें हमें ये "आर्ष" रूप स्पष्ट मिलते हैं, यथा,

अवे० दिब्ज़इदयाइ [diwzaidyāi] [ब्ज़ ∠ ब्ज़ ∠ ब्ज़्ह ∠ भ् + स]

अवे० अओग्ज़ा [aogza] [ग्ज़ ∠ ग्ज़्ह ∠ घ् + स]

परवर्ती अवेस्तामें आकर अघोष ध्वनियोंके रूप अवश्य पाये जाते है, यथा—

अवे० हंग्अर्अफ़्शाने [hangərəϕšane] [फ़्श ∠ भ् + स]

अवे० दख़्श [daxša] [ख़्श ∠ घ् + स]

इसके अतिरिक्त अवेस्ताकी प्राचीनतम गाथाओंमें एक और भी आर्ष प्रयोग पाया जाता है। प्रा० भा० यू० की एक विशेषता यह भी थी कि नपुंसकके बहुवचन कर्ताके साथ एकवचन क्रियाका प्रयोग किया जाता था। वस्तुतः इसे स्त्रीलिंगके एकवचनके समकक्ष माना जाता है। नपुंसकलिंगके बहुवचनका वैकल्पिक 'आकारान्त' रूप ऋग्वेदमे भी पाया जाता है, यथा **भुवनानि विश्वा** जहाँ **विश्वा** वस्तुतः **विश्वानि** का वैकल्पिक रूप है। ग्रीकमें भी इसे एकवचन मानकर एकवचन क्रियाका प्रयोग पाया जाता है। अवेस्ताकी प्राचीनतम गाथाओंमें इसका आर्ष प्रयोग बहुत पाया जाता है, यद्यपि परवर्ती गाथाओंमें यह प्रयोग कम हो गया है। ऋग्वेदमें इस प्रकारके प्रयोग बहुत कम पाये जाते हैं।

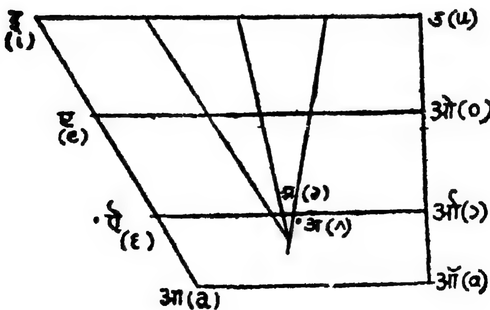
इन सब विशेषताओंको देखनेसे ज्ञात होता है कि संस्कृत तथा अवेस्ता परस्पर कितनी अधिक निकट है तथा भाषाशास्त्र ही नहीं वैदिक साहित्यका विद्यार्थी भी अपने अध्ययनमें अवेस्ताको नहीं छोड़ सकता। अवेस्ताकी

१. Wackernagel : Altindische Grammatik [Lautlehre] Vol. I. pp. 271 and following § 236.

गाथाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे संस्कृत भाषाकी कई भाषावैज्ञानिक समस्याएँ, तथा वैदिक साहित्यके कई आर्ष प्रयोगोंकी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। इस प्रकारके तुलनात्मक अध्ययनने कई महत्त्वपूर्ण तथा मजेदार गवेषणाएँ की हैं। यही अध्ययन हमें बताता है कि संस्कृत धातु √ब्रू का प्राचीन भारत-ईरानी रूप म्रू था, जिसका म्रव् [mraw] रूप अवेस्तामें पाया जाता है। संस्कृत तथा अवेस्ता दोनों प्रा० भा० यू० की वे जुड़वाँ बेटियाँ हैं, जिनकी प्रकृति जाननेके लिए, एककी भी प्रकृति तथा आकृति जाननेके लिए, दूसरीकी प्रकृति व आकृतिकी जानकारी भाषावैज्ञानिकके लिए जरूरी हो जाती है।

संस्कृत ध्वनियाँ तथा स्वर

किसी भी भाषाकी ध्वनियोको सर्वप्रथम दो प्रकारकी माना जा सकता है —स्वर तथा व्यञ्जन। स्वरोके उच्चारणमे वायु मुखसे इस प्रकार निकलता है कि मुखके अंतर्गत उसका अवरोध नही होता। ये ध्वनियाँ जिह्वा तथा ओठोकी विभिन्न स्थितियोके अनुसार विभिन्न रूपमे उच्चरित होती है। जिह्वाको उठाया जा सकता है, नीचा किया जा सकता है, आगे बढाया जा सकता है, पीछे हटाया जा सकता है तथा सामान्य अवस्थामे पडी रक्खा जा सकता है; ओठोको गोलाकार बनाया जा सकता है, पीछे हटाया जा सकता है, अथवा अपनी मामान्य स्थितिमे रक्खा जा मकता है। कभी-कभी स्वरके उच्चारणके समय नासिका-विवर भी खुला रक्खा जा सकता है, और इस दशामे सानुनासिक स्वरका उच्चारण होता है, यथा 'तांश्चक्रे' मे, द्वितीय ध्वनि **'आ'** का उच्चारण सानुनासिक [सानुस्वार] ही है। जिह्वाकी विभिन्न स्थितियोके अनुसार हम इन स्वर ध्वनियोको पश्च, अग्र तथा केन्द्रीय इन तीन कोटियोंमे विभक्त कर देते है। जिह्वाकी इन स्थितियोके आधारपर मानस्वरोंकी उच्चारण स्थितिको हम इस चतुर्भुजसे व्यक्त कर सकते है।



इस चतुर्भुजकी **इ आ** रेखाके **स्वर इ, ए, ऎ,** आ अग्र स्वर हैं, इनके उच्चारणमे जिह्वा आगेकी तरफ़ बढ़ती है। **इ** में जिह्वाकी स्थिति उच्चतम रहती है, **आ** मे निम्नतम। इसी प्रकार पश्च ध्वनियोंमें जिह्वा पीछे सटी रहती है; वस्तुतः उसका पिछला भाग कोमल तालुकी ओर उठता है। केन्द्रीय स्वर '**अ**' [ə] के समय जिह्वा सामान्य स्थितिमे पड़ी रहती है। केन्द्रीय स्वरकी पश्च-प्रकृति **अ** [ʌ] के समय ओठोंकी चंचलता भी पाई जाती है, जो '**अ**' [ə] के उच्चारणमे नहीं पाई जाती। **ऎ, ऒ** ध्वनियाँ विवृत हैं, इनके उच्चारणमें मुख विवृत रहता है तथा जिह्वा **आ या ऑके** उच्चारणकी अपेक्षा कुछ ऊपर उठी हुई रहती है। **ए, ओके** उच्चारणमे जिह्वा और अधिक उठी रहती है, तथा मुख उतना विवृत नहीं रहता। स्वरोंका अक्षर संघटना [syllabic function] मे प्रमुख हाथ होता है। कभी-कभी दो स्वर भी एक साथ मिलकर अक्षरसंघटनाका कार्य करते हैं। इन्हे ध्वनियुग्म [dipthong] कहा जाता है। संस्कृतकी **ऐ [आइ], औ [आउ]** ध्वनियां ध्वनियुग्म हैं।

प्राचीन भारतीय ध्वनिशास्त्रियोंने ध्वनियोंका वर्गीकरण प्रयत्न, स्थान तथा करणकी दृष्टिसे किया हैं। स्थान तथा करणको आधुनिक ध्वनि-विज्ञानकी परिभाषामे हम 'पॉइण्ट आव् आर्टिकुलेशन' या 'प्लेस आव् आर्टिकुलेशन' तथा करणको 'आर्टिकुलेटर' कहते है। द्वयोष्ठय तथा दन्तोष्ठ्य ध्वनियोंको छोड़कर प्रायः सभी ध्वनियोंमें करण जिह्वाका कोई-न-कोई भाग होता है, स्थान उसके द्वारा स्पृष्ट अन्तर्मुखका अंगविशेष। प्राचीन भारतीय आचार्योंने **अ, आको** कण्ठ्य; **इ, ई,** ए, ऐको तालव्य, तथा **उ ऊ, ओ, औ** को ओष्ठ्य माना है। **ऋ, ॠ** तथा **ऌ** को उन्होंने जिह्वामूलीय माना है।[1] कात्यायन प्रातिशाख्यके मतानुसार ऌ दन्त्य है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टिसे ऋ, ॠ, ऌ वस्तुतः र्, ल्के अक्षर संघटनाकारी रूप हैं, स्वतन्त्र स्वर नहीं। ध्वनिशास्त्री अन्य स्वरोंका वर्गीकरण जिह्वाकी स्थितिके अनुसार करना विशेष ठीक समझता है।

व्यंजन ध्वनियोंको हम दो कोटियोंमें विभक्त करते है–स्पर्श [stops], तथा निरन्तर [continuants]। स्पर्श ध्वनिके उच्चारणमे एक क्षणके लिए मुखके अन्दर वायुका अवरोध हो जाता है, तदनन्तर ध्वनि मुक्त की जाती है। यथा **प** के उच्चारणमें, ओठोंको एक-दूसरेसे सटानेसे वायुका अवरोध होता है, ततः पश्चात् ओठोंको खोलनेपर ध्वनि सुनाई देती है। निरन्तर व्यञ्जनोमे स्पर्श ध्वनियोंकी भाँति वायुका पूर्ण अवरोध नहीं हो पाता, फलतः इनका उच्चारण करते समय वायु मुखसे निकलता रहता है। श, स, ष आदि ध्वनियाँ निरन्तर है। भारतीय वैयाकरणोके मतानुसार **क** से **म** तककी ध्वनियाँ स्पर्श है–**कादयो मान्ताः स्पर्शाः**। किन्तु आधुनिक ध्वनिशास्त्री अनुनासिक ध्वनियोको 'निरन्तर' माननेके पक्षमे है। व्यंजनोंका दूसरे ढंगका भेद स्वरतन्त्रियों [vocal chords]के कम्पनके आधारपर किया जाता है। सघोष ध्वनियों, यथा **ग, ज, ड, द, ब** आदिके उच्चारणमे स्वर-तन्त्रियोंमे कम्पन होता है जो नाद या घोषको व्यक्त करता है; अघोषध्वनियों, यथा **क, च, ट, त, प** आदिके, उच्चारणमे स्वरतन्त्रियोंमें कम्पन नहीं होता, फलतः नाद उत्पन्न नही होता। इसके अतिरिक्त प्राणताके आधारपर स्पर्श ध्वनियों-को अल्पप्राण तथा महाप्राण रूपमें भी विभक्त किया जाता है। स्थानभेदकी दृष्टिसे इन व्यंजन ध्वनियोंका वर्गीकरण यों किया जाता है :—

१. **कवर्ग** ध्वनियोंको संस्कृत वैयाकरणोंने कण्ठ्य कहा है। प्रातिशाख्योंमे इनका स्थान जिह्वामूल माना गया है।[1] कवर्गके उच्चारणमे जिह्वाका मूल

---

१. कण्ठ्योऽकारः प्रथमपञ्चमौ च····ऋकारऌकारावथ षष्ठ ऊष्मा, जिह्वामूलीयाः प्रथमश्चवर्गः [ऋक् प्रा० प्रथम पटल, १८]; [ऋ. प्रा. प. १९–२०] साथ ही–अहविसर्जनीयाः कण्ठे [शुक्लयजुः प्रा० १·७१] इचशेयास्तालौ [१·६६], उवोपोपध्मा ओष्ठे [१·७०],ऋत्वकको जिह्वामूले [१·६५], ऌलसिता दन्ते।

ऋ ् कको जिह्वामूले [शु० य० प्रा० १. ६५] "जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः [ऋक् प्रा० १. १८]

कोमल तालु [velum] को छूता है। आधुनिक ध्वनिशास्त्री इन ध्वनियोको कोमलतालुजन्य [velar] कहना अधिक संगत समझते है।

२. चवर्ग ध्वनियोंको तालव्य माना जाता है।[1] इनके उच्चारणमें जिह्वा मध्यके द्वारा कठोर तालुके दोनों छोरोंका स्पर्श किया जाता है। संस्कृतकी ये ध्वनियाँ शुद्ध तालव्य ध्वनियाँ थीं, पर आजकी हमारी भाषाओंकी ये ध्वनियाँ सोष्म स्पर्श है, इन्हे ध्वनिवैज्ञानिक शब्दावलीमे हम सोष्म स्पर्श [affricates] कहेंगे। इस बातका संकेत डॉ० चाटुर्ज्याने अपनी 'बंगाली फोनिटिक रीडर' में किया है। ब्रज, हिन्दी तथा अवधीकी च, छ, ज, झ, ध्वनियाँ तालव्य न होकर सोष्म स्पर्श है।[2]

३. टवर्ग ध्वनियांको मूर्धन्य कहा जाता है।[3] किन्तु मूर्धन्य नाम ठीक नही जान पडता। आधुनिक ध्वनिशास्त्री इस वर्गकी ध्वनियोके लिए 'रिट्रोफ्लेक्स' [retroflex] शब्दका प्रयोग करते है। इस वर्गकी ध्वनियोके उच्चारणमें जिह्वाका अग्र भाग उलटकर कठोर तालुके किसी भी अशको छूता हैं। जिह्वाके इस प्रतिवेष्टितत्त्वका संकेत प्रातिशाख्योमे भी मिलता है।[4]

१. इचशेयास्तालौ [शु. य. प्रा. १. ६६], तालव्यावेकारचकारवर्गौ [ऋ. प्रा. १. १९]

२. Dr. Saksena. Evolution of Awadhi p. 31

३. षटौ मूर्धनि [शु. य. प्रा. १. ६७]; मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ [ऋक् प्रा. १. १९]

४. जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे [तैत्तरीय प्रा. २. ३७]; मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम् [अथर्वप्राति. १. २२], मूर्धन्यः प्रतिवेष्ट्यायम् [वाजसनेय प्रा. १. ७८] साथ ही देखिए—Daniel Johns : An Outline Of English Phonetics P. 119

इसी आधारपर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इन ध्वनियोको **"प्रतिवेष्टित"** [Retroflex] कहना ठीक होगा।

४. ळ, ळ्ह ध्वनियाँ उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित [flapped retroflex] है। इनके उच्चारणमे जिह्वाका अग्र भाग उलट कर झटकेके साथ जैसे किसी चीज़को फेंकता, वापस लौटता है। ये दोनों ध्वनियाँ वैदिक संस्कृतमें ही पाई जाती है। हिन्दी, की 'ड़' ध्वनि भी उत्क्षिप्त ही है। इसीका सानुनासिक उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित रूप हिन्दी 'ण' ध्वनि है।

५. **तवर्ग** ध्वनियाँ दन्त्य है।[1] इनके उच्चारणमे जिह्वा ऊपरके दाँतोंको अपने नुकीले भागसे छूती है।

६. **पवर्ग** ध्वनियाँ द्वयोष्ठ्य है। इनके उच्चारणमे स्थान तथा करण दोनो ही ओठ रहते है।

७. **अनुनासिक** [ङ, ञ, ण, न, म]. ध्वनियाँ अपने वर्गके साथ ही साथ अनुनासिक भी है। इनके उच्चारणके समय वायुका कुछ अंश नासिका विवरसे भी निःसृत होता है। 'न' का स्थान वैयाकरणोने दन्त ही माना है, किन्तु इसका वास्तविक स्थान वर्त्स [teeth-ridge] माना जाता है।

८. **अन्तःस्थ ध्वनियाँ** [य, व]—संस्कृत वैयाकरण य, व, र, ल को अन्तःस्थ मानते है, किन्तु आजका ध्वनिशास्त्री र, ल को अन्तःस्थ नही मानता। **य** को प्रातिशाख्यो व शिक्षाओमे [देखिए फुटनोट[1], पूर्ववर्ती पृष्ठ] तालव्य माना गया है। आधुनिक ध्वनिशास्त्रियामेसे कुछ **य** को तालव्य मानते है, कुछ वर्त्स्य। **व** द्वयोष्ठ्य ध्वनि है। इन्हीका अक्षरसंघटनाकारी रूप **'इ'**, **'उ'** माना जाता है।

९. र, ल. ध्वनियाँ द्रवित या [liquid] कहलाती है। प्रथम ध्वनि लुंठित [rolled] है, द्वितीय पार्श्विक [latrel]। प्राचीन भारतीय वैयाकरणोके मतानुसार प्रथम मूर्धन्य है, द्वितीय दन्त्य। र के उच्चारणमे

१. **लृलसिता दन्ते**—[शु. य. प्रा. १. ६६]

जीभकी नोक वर्त्सका स्पर्श एक ही क्षण दो तीन बार करती है। प्राचीन प्रातिशाख्योंमें इसका संकेत मिलता है। वे 'र' का स्थान दन्तमूल मानते हैं:—रो दन्तमूले [शु. य. प्रा. १. ५८], रेफं वर्त्स्यमेके [ऋ. प्रा. १. २०]।

१०. श, ष, स ध्वनियाँ क्रमशः तालव्य, प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] तथा दन्त्य सोष्म ध्वनियाँ हैं। इनके उच्चारण करते समय जिह्वाके दोनों ओर कुछ भाग खुला रह जाता है, जिससे मुखकी वायु बाहर निकलकर 'स्-स्' जैसी ध्वनि उत्पन्न करती है। इसीलिए इन्हे सोष्म कहा जाता है।

११. ह, ह़ ध्वनियाँ क्रमशः सघोष तथा अघोष प्राण ध्वनि है। भारतीय विद्वानोंमेंसे कुछने ह को कण्ठ्य [Glutteral] माना है, कुछने उरःस्य [pulmonic]। अघोष प्राणध्वनि [ह़] विसर्गके रूपमें संस्कृतमें पाई जाती है। आजकी भारतीय आर्य भाषाओंमे राजस्थानी तथा गुजरातीकी कुछ बोलियोंमे यह अघोष प्राणध्वनि पाई जाती है। महाप्राण ध्वनियोंमें अघोष महाप्राण ध्वनियोंमें अघोष प्राणध्वनि होती है, सघोष महाप्राण ध्वनियोंमें सघोष प्राणध्वनि।[1] यथा, ख = क् + ह़; छ = च् + ह़; घ = ग् + ह, झ = ज् + ह।

१२. ᳵक, ᳶप, व संस्कृतमें तीन ध्वनियाँ और भी पाई जाती हैं:— जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा दन्तोष्ठ्य [dentc–labiall] 'व'। जिह्वा-

१. प्राणता [aspiration] के लिए प्रातिशाख्योंमें 'ऊष्मा' शब्दका प्रयोग मिलता है, महाप्राणध्वनियोंको वहाँ 'सोष्म' ध्वनियाँ कहा जाता है। ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टिमें यह ठीक नहीं। ऊष्मा [friction] तथा प्राणता [aspiration] भिन्न-भिन्न ध्वन्यात्मक तत्त्व हैं। महाप्राणके लिए 'सोष्म' शब्दके प्रयोगके लिए देखिए—"द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः" [शु. य. प्रा. १.५४], तथा 'वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ, युग्मौ सोष्माणावनुनासिकोऽन्त्यः। [ऋ. प्रा. १. १३]

मूलीय ्कका उच्चारण 'ख' सा होता है, यथा अन्त ्करण [अन्त [ख्] करण]; उपध्मानीय दन्तोष्ठ्य ध्वनि है, इसके उच्चारणमें अधरोष्ठ ऊपरके दाँतोंका हलका-सा स्पर्श करता है, इसका उच्चारण 'फ़' सा होता है, यथा अन्त ्पुर [अन्त [फ़्] पुर]। दन्तोष्ठ्य 'व्व' इसी 'फ़' का सघोष रूप है। अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिशास्त्रीय संकेतलिपिमें इनके लिए क्रमशः ɸ, β चिह्नोंका प्रयोग होता है। 'व्व' का उच्चारण संस्कृतमें अलगसे ध्वनि [phoneme] न होकर द्वयोष्ठ्य 'व' का ही ध्वन्यंग [allophone] माना जाना चाहिए। इसका उच्चारण भी केवल वैदिक संस्कृतमें पाया जाता है, जहाँ पदादि 'व' [w] को 'व्व' [β] पढ़नेकी प्रथा है। शिक्षाओंमें इसका संकेत मिलता है :—गुरुर्व्वकारो विज्ञेयः पदादौ पठितो भवेत् [माध्यन्दिनी शिक्षा २. ६]।

संस्कृत ध्वनियोंका यह वर्गीकरण निम्न मानचित्रसे जाना जा सकता है :—

	स्पर्श				निरन्तर			
स्थान	अल्पप्राण		महाप्राण				अनुनासिक	
	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष
कण्ठ्य या कोमलतालुजन्य	क	ग	ख	घ	ह̥	ह	....	ङ
तालव्य	च	ज	छ	झ	श	य	....	ञ
प्रतिवेष्टित या मूर्धन्य	ट	ड	ठ	ढ	ष	....	....	ण
दन्त्य	त	द	थ	ध	स	ल	....	न
द्वयोष्ठ्य	प	ब	फ	भ	....	व	....	म
वर्त्स्य	....		....	....	....	र		[न]
दन्तोष्ठ्य	....	....	....	....	[फ़]	[व्व]		

संस्कृतके अंतर्गत अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ओ ऐकिक स्वर ध्वनियाँ, तथा ऐ, औ ध्वनियुग्म हैं। इनके अतिरिक्त 'र' तथा 'ल' के अक्षर संघटनाकारीरूप ऋ, ॠ, ऌ का भी ग्रहण संस्कृत स्वरोंमें किया जा सकता है, जहाँ ये स्वरका कार्य करते हैं। संस्कृतमें पाँच अनुनासिक ध्वनियाँ हैं :— ङ, ञ, ण, न, म। पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे संस्कृतमें तीन ही अनुनासिक ध्वनियाँ [nasal phonemes] मानी जा सकती हैं :—ण, न, म; तथा ङ, ञ वस्तुतः न के ही ध्वन्यंग [allophones] हैं। वाकेरनागेलने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "अल्तिन्दिश्के ग्रामातीक" [प्राचीन-भारतीयकी व्याकरण] में 'ङ' को संस्कृतमें अलग ध्वनि माना है, किन्तु हम इस मतसे संतुष्ट नहीं।[1] ब्लॉखने अवश्य ही 'न', 'म' तथा 'ण' ये तीन अनुनासिक ध्वनियाँ संस्कृतमें मानी हैं।[2] कुछ विद्वानोंके मतानुसार टवर्गीय स्पृष्ट ध्वनियों तथा 'ष' को सस्कृतको अलगसे ध्वनि न मानकर तवर्ग तथा स का नतिभाव[3] [Prosody of retroflexion] मानना ठीक होगा, पर हम इस मतसे सहमत नहीं क्योंकि संस्कृतकी टवर्ग ध्वनियाँ वस्तुत. दन्त्योंका नतिभाव न होकर तालव्य ध्वनियोंका विकास है।

संस्कृत-स्वर-ध्वनियोंका विकास—

संस्कृतकी स्वर-संपत्ति भारत-ईरानी स्वरोंके अत्यधिक निकट है। इस भाषामें ह्रस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ, ऋ [ऌ केवल एक ही संस्कृत धातु क्लृप् में मिलता है, जिसका रूप अवेस्तामें 'कॅरॅप्' [kərəp] है], पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त एकाक्षरीभूत ध्वनियुग्म ए, ओ तथा

1. Wackernagel: Altındısche Grammatik [Lautlehre] V. I p .2. §2.

२. Bloch: L'Indo-Aryen. P. 71.

३. एषा नतिर्दन्त्यमूर्धन्यभावः[ऋक् प्रा० ५.६१]; दन्त्यस्य मूर्धन्यापत्तिर्नतिः [वाजसनेयी प्रा० १. ४२]

ऐ, औ भी पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त ह्रस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ के सानुनासिक रूप भी पाये जाते हैं, जिसे प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रंथोंमें "रक्त"[1] संज्ञा दी गई है।

अ—संस्कृत अ का विकास प्रा० भा० यू० *अ, *ए, *ओ तथा अक्षरघटनाकारी स्वरीभूत अनुनासिक *न्, *म् से हुआ है। उदाहरणार्थ,

सं० अजति, अवेस्ता अजइति [azaiti], ग्रीक अगेइ [agei] ∠ *अगेइ [*agei]

„ अस्ति „ अस्तिय् [astiy], ग्रीक एस्ति [esti] < *एस्ति [*esti]

„ पति. „ पइतिश् [paitis̆] ग्रीक पोसिस् [posis] ∠ *पोतिस् [*potis]

„ दश „ दस [dasa], ग्रीक देक [deka] ∠ *देक्म् [*dekm̥]

„ ततः[2] „ .... ग्रीक ततोस् [tatos] ∠ *त्न्तोस् [*tn̥tōs]

आ—संस्कृत आ का विकास इन्हींके दीर्घरूपसे हुआ है। आदिम भा० यू० आ, ए, ओ तथा स्वरीभूत न्, म् के दीर्घरूपसे आ का विकास हुआ है। यथा,

सं० मातृ [मातर्] अवे० मातर् [mātar] ग्रीक मातेर् [mater] ∠ *मातेर् [*māter]

सं० मा „ मा [ma] ग्रीक मे [me] ∠ *मे [me]

---

१. रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः [ऋक् प्रा० १. १७]

२. तनु विस्तारे इति धातोः क्तप्रत्ययः।

सं० गाम् ,, गम् [gam] ग्रीक बोन् [Bōn]
∠ *ग्वोम् [gwōm]

सं० जातः अवे ज़ातो [zato] ग्रीक ग्नोतोस् [gnōtos] ∠ *ग्नृतोस् [*gn̥tos]

,, क्षाः ,, ज़ [za] ,, ख्थोन् [khthōn], ∠ *√घ्स्म् [*ghsm̥—]

इ, उ [ई, ऊ]—संस्कृत ह्रस्व तथा दीर्घ इ, उ का विकास कई मूलरूपोंसे हुआ है। [१] प्राचीन भा० यू० इ, उ [ई, ऊ] संस्कृतमे इसी रूपमे पाये जाते हैं, यथा,

सं० इहि [*इधि] अवेस्ता इदी [idī] ग्रीक इथि [ithi], ∠ *इधि [idhi]

,, उप ,, उप [upa] ,, उपो [upo] ∠ *उप [upa]

,, जीव पारसी ज़ीव [zīwa], लैटिन उईऊस् [uius]
∠ *ग्वीवस् [*gwīwos]

,, भ्रूः ,, ब्रू [abrū], ग्रीक ओफ़्रूस् [ophrūs]
∠ ओभ्रूस् [*obhrūs]

[२] संस्कृत 'इ' कई स्थानोपर प्रा० भा० यू० अ [ə] से विकसित हुआ है। यथा,

सं० पितृ [पितर्] अवे० पितर् [pitar] ग्रीक पतेर [pater]
∠ *प्अतेर [pəter]

,, दुहिता [दुहितृ] ,, दुग्दा [duɣda] ,, थुगातेर [thugater]
∠ *दुघ्अतेर [dughəter]

[३] संस्कृत इ, उ जहाँ इर्, उर् के रूपमे पाये जाते है, वहाँ प्रा० भा० यू० *ऋ [r̥] से विकसित है । यथा—

स० गुरु, अवेस्ता गोउरु [gouru], ग्रीक बरुस् [barus] ∠ *गृउस् [*gr̥us]

,, गिरि ,, गइरि [gairi] ,, ∠ *गृरि [गृर्‌अ] [*gr̥ri]
[*gr̥rə]

ऋ, ॠ, ऌ —संस्कृत ऋ, ॠ, ऌ शुद्ध स्वर न होकर र्, ल् के स्वरीभूत रूप है । ऋक्प्रातिशाख्यके टीकाकार उव्वटके मतानुसार 'ऋ' को चार पादोमे विभक्त किया जा सकता है । इनमेसे प्रथम तथा अन्तिम पाद स्वरका तथा मध्यके दो पाद व्यंजनके है । इसे हम यो व्यक्त कर सकते है –

ऋ = $\frac{\text{अ}}{४}+\frac{\text{र}}{२}+\frac{\text{अ}}{४}$ इसीका दीर्घ रूप ॠ है । इसी प्रकार ऌ को $\frac{\text{अ}}{४}+\frac{\text{ल}}{२}+\frac{\text{अ}}{४}$ माना जा सकता है । ऋ तथा ऌ दोनोका अवेस्तामे अर्‌अ [ərə] के रूपमे विकास हुआ है । ये सभी प्रा० भा० यू० *ऋ [r̥] *ऌ [l̥] से विकसित हुए है । संस्कृतका 'ऌ' जो केवल 'क्लृप्' मे पाया जाता है, सम्भवत: प्रा० भा० यू० *ऋ [*r̥] से विकसित हुआ है । प्रा० भा० यू० *r̥, *l̥ दोनों ही संस्कृतमे ऋ के रूपमे विकसित हुए हैं ।

सं० √मृड्— ∠ *मृज़्द् [*mr̥zd]

,, दृढ ∠ *दृज़्ध [*dr̥zdha]

,, वृद्ध [परि–], ∠* वृज़्ध [wrzdha]

,, पृथु अवे० पृअरृअथु [pərəthu] ∠ *पृथु [prthu]

संस्कृत दीर्घ ॠ को संस्कृत इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके द्वितीया तथा षष्ठी बहुवचन 'हरीन्-हरीणाम्', 'भानून्-भानूनाम्' के सादृश्य पर ऋकारान्त शब्दोंमें बनाया गया रूप मानते हैं।[1] वस्तुतः दीर्घ ॠ केवल इन्ही दो विभक्तियोंके बहुवचन रूपोंमें [ऋकारान्त शब्दोंमें] पाया जाता है, यथा पितॄन्, श्रोतॄन्; पितॄणाम्, श्रोतॄणाम्; मातॄः; स्वसॄणाम्। अतः इसे प्रा० भा० यू० दीर्घ *ॠ [r̄] से विकसित नहीं माना जा सकता।

ए, ओ– संस्कृत की ए, ओ ध्वनियाँ क्रमशः प्रा० भा० यू० *अइ, *एइ, *ओइ, तथा *अउ, *एउ, *ओउ से विकसित हुई हैं। ये दोनों मूलतः सन्ध्यक्षर हैं। इनके विकासके उदाहरण रूपमें ये रक्खे जा सकते हैं :—

सं० अश्वे, ग्रीक हेप्पोइ [heppoi] ∠ *एक्वोइ [ekʷoe]

,, भवेत [मि० ग्रीक. फेरोइतो, [pheroito] ∠ *भेवोइतो [bhew-oito]।

संस्कृत भाषामे ही अइ [अय्], तथा अउ [अव्], ए तथा ओ के रूपमें परिवर्तित होते मिलते हैं :—मघवन्-मघोनः, भगवान्-भगोस्।

ऐ, औ—संस्कृत ऐ, औ ध्वनियुग्मोंका विकास प्रा० भा० यू० सन्ध्यक्षरों [ध्वनियुग्मों] से हुआ है, जिनमे प्रथम स्वरध्वनि दीर्घ *आ, *ए, *ओ [ā ē. ō] रही है। ऐ, औ संस्कृतमें भी आय् तथा आव् के रूपमे परिवर्तित होते देखे जाते हैं। यथा, गौः, गावः, नौ, नौभिः, नावं,

१. Bloch: L'Indo-Aryen. P. 30.

द्यौः, द्यावा। इनके प्रा० भा० यू० से उत्पन्न विकासके लिए ये उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

सं० **अरैक्षम्**, ग्री० ऐलेइप्स [eleipsa] ∠ *लेय्क्व् [* leyk^w–]
,, नौः ,, नाउस् [naus] ∠ *नाव्स् [naw-s]
द्यौः ,, जेउस् [प्राचीन ग्री० जेउस्] [zeus] ∠ *द्येव्स्
[dyew-s]

शुद्ध स्वरोंके अतिरिक्त संस्कृतमें स्वरोंके सानुनासिक रूप भी पाये जाते हैं। वैदिक तथा लौकिक दोनों संस्कृतमें अधिकतर सानुनासिक स्वर दीर्घ पाये जाते हैं, **आँ, ईँ**, ऊँ, किन्तु ह्रस्व स्वरोंके साथ भी सानुनासिकता होती है। वेदमें पदान्त **आ** जो न् से पूर्व होता था, दूसरे पदके आदिमें स्वर ध्वनि आनेपर सानुनासिक हो जाता था, साथ ही वह प्लुत भी हो जाता था। जैसे **लोकाँऽऽअकल्पयन्, अमिनन्ताँऽऽएवैः**। वैदिक तथा लौकिक संस्कृतमें दीर्घ **आ, ई, ऊ** तीनों पदान्त न् से पूर्व होनेपर तथा ऐसे अन्य पदसे संहित होनेपर, जिसके आदिमें चवर्गीय, टवर्गीय तथा तवर्गीय ध्वनि हो, अनुनासिक हो जाते हैं, यथा **अहीँश्च सर्वान्, पशूँस्तांश्चक्रे**। कुछ ध्वनिशास्त्रियोंके मतानुसार ह्रस्व स्वर भी सानुनासिक होते हैं। यह रूप वहाँ पाया जाता है, जहाँ परवर्ती ध्वनि ऊष्म या 'ह' है। **अंश** [**अंश**], **सिंह** [सिंह], **किंशुक** [**किंशुक**], **पुंसक** [**पुंसक**] मे क्रमशः सानुनासिक **अ, इ, उ** ध्वनियाँ हैं। पाणिनिने भी ह्रस्व तथा दीर्घ 'अ' 'इ' 'उ' के वाक्यके अन्तमें होनेपर अनुनासिकीकरण माना है।

संस्कृत व्यञ्जन ध्वनियोंका विकास—प्रा० भा० यू० व्यञ्जन ध्वनियोंका पूर्ण विकास संस्कृतमें पाया जाता है। व्यञ्जनोंकी दृष्टिसे संस्कृत किस प्रकार भारत-ईरानी शाखाका पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है, यह हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें बता चुके हैं। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमे

बता आये हैं प्रा० भा० यू०में तीन प्रकारकी कण्ठ्य ध्वनियाँ थी। संस्कृत-की कवर्ग ध्वनियाँ प्राय प्रा० भा० यू० शुद्ध कण्ठ्य तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोसे विकसित हुई है।

क :—प्रा० भा० यू० शुद्ध कण्ठ्य '**क**' तथा कण्ठोष्ठ्य '**क्व**' पश्चस्वर अथवा व्यंजन ध्वनिसे पूर्व होनेपर संस्कृतमे क ही बने रहे है। वैसे अग्र स्वरसे पूर्व होनेपर वे **च** के रूपमे विकसित हुए हैं।

सं० **क्रवि**. ग्रीक **क्रेय** [**व**] **स्** [kre[w] as] ∠ ***क्रेव्अस्** [krewəs]

,, **क्रूर**: लैतिन **क्रुओर** [Cruor] [रक्त], रूसी **क्रोव्य** [Krovy]

∠ ***क्रुवोस्** [Kruwos]

,, **क्वोस्** [quos], ग्रीक **पा** [qc–] ∠ ***क्वोस्** [K^wos]

ख :—संस्कृत **ख** ध्वनि प्रा० भा० यू० ***ख**, ***ख्व** से विकसित मानी जा सकती है, किन्तु हमारे मतसे संस्कृत ***ख** शुद्ध कण्ठ्य ***ख** का ही विकसित रूप है। स्टर्टेवण्टके मतानुसार प्रा० भा० यू० ***ख** शुद्ध कण्ठ्य ***क** तथा भा० हित्ताइत अघोष कण्ठनालिक ध्वनि, ', × का पल्लवित रूप माना जा सकता है। प्रा० भा० यू० ***ख** अवेस्तामे कभी ह तथा कभी ख पाया जाता है। इसे प्रा० भा० यू० ***स्ख** का भी विकसित रूप माना जा सकता है।

सं० **खादति** ∠ ***स्खादोति** [skhadotı]

सं० **नख**, ग्रीक **ओनुख्** [onukh]

मख," **मखोमाइ** [makhomaı] [युद्ध] ∠ ***मखोस्** [makhos]

ग :—संस्कृत ग प्रा० भा० यू० ***ग** तथा ***ग्व** से निकला है; ठीक उसी तरह जैसे संस्कृत **क** प्रा० भा० यू० ***क** तथा ***क्व** से।

सं० **उग्र** ∠ ***उग्र** [ugra]

सं० गौः, ग्रीक बोउस् [Bous] ∠ *ग्वोव्स् [g^{w}ōws]

घ :—संस्कृत घ प्रा० भा० यू० *घ तथा *घ्व से विकसित हुआ है, यह प्रा० भा० यू० *घ तथा *घ्व कहीं कहीं संस्कृतमें आकर ह के रूपमें भी विकसित हुआ है। अतः संस्कृत ह प्रा० भा० यू० *ह जैसी ध्वनिसे विकसित नहीं हुआ है।

वैदिक सं० द्रोग्ध ∠ *ध्रोउघो [dhrougho]

संस्कृत घन, रूसी ग्नत्य [gnaty] ∠ *घ्वोनो [gh^{w}ono]

तुलनात्मक भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे संस्कृतमें दो तरहकी तालव्य ध्वनियाँ पाई जाती है; एक वे हैं जो संस्कृतमें प्रा० भा० यू० तालव्य ध्वनियों—*क्य, *ख्य, *ग्य, *घ्य, से विकसित होकर आई है, दूसरी वे चवर्गीय ध्वनियाँ जो अन्य दो प्रकारके प्रा० भा० यू० कण्ठय ध्वनियोंसे विकसित हुई हैं। ये तालव्य ध्वनियाँ वस्तुतः उन ध्वनियोंसे विकसित हुई हैं, जो स्वयं मूलतः तालव्य नहीं थीं, किन्तु परवर्ती अग्रस्वर [ए, इ आदि] के कारण ईषत्तालव्य रूपमे उच्चारित होती थीं। उदाहरणार्थ प्रा० भा० यू० *क्वे [k^{w}e] में प्रथम [व्यंजन] ध्वनि तालव्य न होकर कण्ठोष्ठय है, किन्तु यह प्रा० भा० यू० कण्ठोष्ठय ध्वनि संस्कृतमें 'च' हो गई है, और विकसित शब्द 'च' [और] हो गया है। अतः स्पष्ट है कि प्रा० भा० यू० कण्ठय तथा कण्ठयोष्ठय ध्वनियाँ ही अग्रस्वरके परवर्ती होनेपर संस्कृतमें च हो गई हैं, जब कि प्रा० भा० यू० तालव्य क्य संस्कृतमें श के रूपमें विकसित हुआ है। इसी संबंधमें यह भी कह दिया जाय कि संस्कृत छ ध्वनि भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत च ध्वनिका महाप्राण रूप न होकर संस्कृत श ध्वनिका महाप्राण रूप है।[१] अर्थात् संस्कृत छ का विकास प्रा० भा० यू० *स्क *स्ख

१. Wackernagel; Altindische Grammatik [Lautlehre] vol. I, PP. 227–8. §200.

से न होकर *स्य से हुआ है। यद्यपि प्रातिशाख्योंमें तथा परवर्ती व्याकरण ग्रन्थोंमें भी इसे 'च' का महाप्राण माना है, किन्तु संस्कृत 'छ' के विकासके विषयमें भाषाशास्त्रीय तथ्य इससे भिन्न है। इसीलिए प्रायः ऐसा देखा जाता है कि संस्कृतमें श, छ में परिवर्तित हो जाता है, जैसे संधिमें,—तत् + शय्या = तच्छय्या, पत् [त्] + शः = पच्छः। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत श तथा छ क्रमशः प्रा० भा० यू० *क्य, *स्य से विकसित हुए हैं।

श :—संस्कृतमें प्रा० भा० यू० *क्य, श बना है, पर ग्रीक तथा लैतिनमें **क** ही रहा है; यथा—

संस्कृत√श्रु, ग्रीक क्लुओ [kluō], लैतिन क्लुएओ [clueo] ∠ *क्लु- [k̂lu-]

" दर्श " देदोर्के [dedorke] ∠ *देदोर्क्ये [dedorke]

छ :—संस्कृत 'छ' 'श' का महाप्राण है; किन्तु जैसा कि हम देखेंगे इसका विकास प्रा० भा० यू० शुद्ध *स्य से न होकर *स्ख्य से हुआ है। उदाहरणार्थ संस्कृतके **'छाया'** शब्दको लीजिए, जिसका समानान्तर ग्रीक शब्द **'स्किआ'** [skia] है। हम देखते हैं कि संधिमें 'छाया' का यह 'छ' 'च्' से युक्त हो जाता है, यथा **शिव + छाया = शिवच्छाया**। यह 'च्' बताता है कि वास्तविक संस्कृत शब्द *च्छाया रहा होगा जो उच्चारण सौकर्यकी दृष्टिसे **'छाया'** बन गया। यह च्छ प्रा० भा० यू० *स्ख्य का विकास है। यद्यपि पदादिमें संस्कृतमें यह 'च्छ' उच्चरित नहीं होता, तथापि पदमध्यमें यह पुनः अपने स्वभावको प्राप्त हो जाता है, जैसे शिवच्छायामें। धीरे-धीरे 'च्छ' तथा 'छ' में कोई भेद नहीं माना जाने लगा। वैदिक संहिताओंकी लिपिमें 'च्छ' को 'छ' से लिपीकृत किया गया है। काठक शाखाकी संहितामें इसीके लिए 'श्छ' का चिह्न पाया जाता है। संस्कृत **गच्छति** में भी यही च्छ है, जो गछति [कुछ लोगोंके मतानुसार] लिखा जा सकता है।

संस्कृत गच्छति, ग्रीक बस्को [baskō] [मैं जाता हूँ ∠ *ग्वृम्स्ख्यति [gʷm̥skhati]

,, पृच्छति, प्रा० हाईजर्मन फ्रोस्कोंन [forskon] ∠ *पृस्ख्यति [pr̥skhati]

च :—संस्कृत च ध्वनि उन प्रा० भा० यू० *क तथा *क्व से विकसित हुई हैं, जिनके परे कोई अग्रस्वर था। संस्कृतमें ही कई धातुओं तथा शब्दोंमें 'क' तथा 'च' का विपर्यय देखा जाता है, जैसे सं० √शुच् [शुक्] धातुसे शुक्र तथा शुचि दोनों शब्द निष्पन्न होते हैं।

संस्कृत चकार ∠ *केकोरे [kekōre]।

,, चचक्ष ∠ *केकोक्से [kekokse]।

,, चित्, ग्रीक तिस् [tis] ∠ *क्वि [kʷi]।

ज :—संस्कृत ज प्रा० भा० यू० *ग तथा *ग्व से विकसित है, जो अग्रस्वरसे पूर्व थे। संस्कृतमें ग तथा ज का विपर्यय देखा जा सकता है, स्रक् [स्रग्], स्रजौ, स्रजः।

सं० ओजस्, लै० ओगस् [ogas] ∠ *अउगस् [augas]।

,, जीव, प्रा० स्लाववोनिक ज़्हीव्प [zhivpa] ∠ *ग्वीवो [ग्वीवास्] [gʷiwos]।

,, जगाम ∠ ग्वेग्वोमे [gʷegʷome]।

झ :—'झ' को संस्कृतमें 'ज' का महाप्राण माना जाता है, पर भाषाशास्त्रीय तथ्य भिन्न है। अग्रस्वरके पूर्ववर्ती प्रा० भा० यू० 'घ' 'घ्य' संस्कृतमें आकर 'ह' के रूपमे विकसित हुए हैं। पश्च स्वरों या अन्य ध्वनियोंके पूर्व वे 'घ' ही बने रहे हैं। अतः जिस प्रकार घ, ग का महाप्राण है, उसी प्रकार भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ह, ज की महाप्राण ध्वनि है। संस्कृतकी

'झ' ध्वनि शुद्ध भारोपीय शब्दोंमे नही पाई जाती। अधिकतर इस ध्वनिवाले शब्द या तो बाहरसे संस्कृतमे आये है, या अनुकरणात्मक शब्द है, यथा **झटिति, झणझणायित, झांकृतनिर्झराणाम्** मे।

ह :—संस्कृतमे दो प्रकारकी 'ह' ध्वनि पाई जाती है, एक सघोष दूसरी अघोष। भारतीय विद्वानोंको इस बातका पूरा पता था, यद्यपि अघोष 'ह' के लिए कोई विशेष लिपि संकेत न होकर, केवल विसर्ग पाई जाती है। पाणिनिने या उनके पूर्ववर्ती किसी वैयाकरणने वर्णसमाम्नायमे[1] दो बार 'ह' का प्रयोग किया है—हयवरट्, हल्। इनमे प्रथम सूत्रका 'ह' सघोष है, द्वितीय वाला 'अघोष'। यहाँ हमे सघोष 'ह' के विकासपर ही संकेत करना है कि वह प्रा० भा० यू० *घ, *घ्य, *घ्वसे विकसित हुआ है।

सं० द्रुह्यति ∠ *√ध्रेव्घ [√ध्रोव्घ] [*ध्रव्घ्यति *dhrewghyti]

,, हन्ति ∠ *√घ्वन् [घ्न्न् [घ्नेन्, घ्नोन्] *घ्वन्ति [ghʷn̥ti] [ग्रीक, थेइनो [theino] [मैं मारता हूँ]

,, वहति, अवे० वज़इति [wazaiti], लै० उएहित [uehit] ∠ *वॅघेति [*wəgheti]

प्रा० भा० यू० मे प्रतिवेष्टित ध्वनियाँ [मूर्धन्य ध्वनियाँ] थी ही नही, किन्तु संस्कृतमें 'ट, ठ, ड, ढ, ण' ये प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] स्पर्श ध्वनियाँ पाई जाती है। ये ध्वनियाँ कहाँसे आईं? अधिकतर ऐसी धारणा चल पड़ी है कि ये ध्वनियाँ द्रविड भाषाओंकी ध्वनिसम्पत्तिका प्रभाव है; किन्तु वे

---

१ विद्वानोंका इस विषयमें ऐकमत्य नहीं है कि वर्णसमाम्नायकी रचना पाणिनिने की थी, या उनसे पूर्ववर्ती वैयाकरण [शिव या माहेश्वर ?] ने।

ध्वनियाँ कौन सी थीं, जो इस रूपमें विकसित हुईं ? अध्ययन करनेपर पता चलता है कि संस्कृतकी इन प्रतिवेष्टित ध्वनियोंमें कई प्रकारकी ध्वनियाँ घुल-मिल गई हैं। संस्कृतकी अधिकांश 'टवर्गीय' ध्वनियाँ संस्कृत में प्राकृतका [उलटा] प्रभाव है। संस्कृतमें, ऋग्वेदमे ही, रेफके प्रभावसे परवर्ती दन्त्यका नतिभाव पाया जाता है, यथा '**विकट**', '**उत्कट**' का '**कट**' वस्तुतः '**कृत**' से विकसित हुआ है, इनका मूल रूप **विकृत**, **उत्कृत** हैं। कभी कभी तो यह रेफ संस्कृतमें ही स्पष्ट रूपसे वर्तमान होता है, किन्तु कभी कभी यह ऐतिहासिक विकासमें लुप्त हो गया होता है, यथा **सं० कटु**, लिथुआनियन **कर्तुस्** [kartus]। यहाँ हम लिथुआनियनके आधारपर यह कह सकते हैं कि संस्कृतका वास्तविक रूप ***कर्तु** था, तथा यद्यपि ऐतिहासिक विकासमें रेफ लुप्त हो गया, तथापि '**त**' का नतिभाव '**ट**' उसीके कारण है। यह रेफ [र्] अन्य भारतयूरोपीय भाषाओंमे **ल** रूपमें भी हो सकता है। उदाहरणके लिए संस्कृत **जठर** का सम्बन्ध गॉथिक **किल्पेइ** [kilpei] से है। इसी आधारपर रूसी विद्वान् फ़ोर्तुनातोफ़ [Fortunatov] ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि प्रायः संस्कृत प्रतिवेष्टित प्रा० भा० यू० **ल + दन्त्य** से विकसित हैं। किन्तु यह सिद्धान्त इसलिए आदृत न हो सका कि इसके कई अपवाद देखनेमें आते है। संस्कृत **जठर** की मूर्धन्य ध्वनि रेफके ही कारण हो सकती है, जो संस्कृत शब्द **जर्तु**, **जरती** आदिमें स्पष्ट रूपसे विद्यमान है। संस्कृत प्रतिवेष्टित सदा ही प्रा० भा० यू० ***र** या ***ल** से प्रभावित 'दन्त्य' ध्वनिसे विकसित हुए हैं, यही बात नहीं है। संस्कृत **श** ध्वनिका भी प्रतिवेष्टित विकास पाया जाता है, जो प्रा० भा० यू० ***क्य** से विकसित है, यथा संस्कृत शब्द **पश्** तथा **विश्** के तृतीयाचतुर्थी ब० व० में **पड्भिः**, **विड्भ्यः** रूप पाये जाते हैं। किन्तु यह कहना भी सत्य न होगा कि समस्त 'शान्त' शब्दोंमें 'भ' के पूर्व प्रतिवेष्टितत्व पाया ही जाता है; इसके विरुद्ध प्रमाण **दृग्भिः**, **दिग्भ्यः** हैं, जो **दृश्** तथा **दिश्** के रूप हैं। यहाँ इस समस्याको सुलझाना सरल नहीं है कि क्या नतिभाव ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे ठीक है, तथा 'ग्' वाले रूप ध्वनि-

नियमके अपवाद हैं, अथवा यह बात विपरीत रूपमें है। तथापि, वाकेर-नागेलके मतानुसार इन स्थानोंपर नतिभाव [मूर्धन्यता] को ही नियतरूपी मानना होगा, क्योंकि ऐसा न माननेपर कण्ठ्य ध्वनिके साथ पाई जानेवाली नतिको, जैसे विक्षु = विक् + षु; ह्रक्षु = ह्रक् + षु में—स्पष्ट करनेमें अशक्तता होगी।[1] इसी प्रकार अन्य प्रा० भा० यू० तालव्य ध्वनियों 'क्य' 'ग्य' 'घ्य' ने भी अपनी-अपनी प्रतिवेष्टित ध्वनियोंको विकसित किया है। जैसा कि हम अनुपदमें देखेंगे ये तालव्य ध्वनियाँ संस्कृत प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] ध्वनियोंके विकासमें महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं।[2]

ट :—संस्कृतकी ट ध्वनि एक ओर प्रा० भा० यू० *त का विकसित रूप है, जो कभी रफसे युक्त था, तो दूसरी ओर कभी प्रा० भा० यू० *क्य [सं० श] तथा कभी *ग्य, *घ्य [सं० ज, ह] से युक्त था। उदाहरणके लिए सं० कटु ∠ *कर्तुस् [kartus]; सं० वष्टि [वश्—ति], मृष्ट [मृज्—त] राष्ट्र [राज्—त्र] को ले सकते हैं। संस्कृतके सामान्य भूत लुङ्के अयाट् [∠—याज्—त], अवाट् [∠—वाह्—त] में, जो √यज् तथा √वह् धातुके रूप हैं, प्रा० भा० यू० *ग्य, *घ्य हैं, जो संस्कृतमें क्रमशः ज तथा ह हो गया है। सतं वर्गकी अन्य भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे इस बातकी पुष्टि होती है कि ये ध्वनियाँ धातुमें मूलतः स्पर्श व्यञ्जन न होकर सघोष ऊष्म थीं, यथा अवेस्ता यज़इति [yazaiti] [सं० यजति], प्रा० चर्च स्लावोनिक वेज़ [wez] [सं० √वह्]।

ठ :—संस्कृत ठ इसी प्रकार रेफ, श, ज तथा ह के योगसे *थ का विकसित रूप है। यथा, जठर, गॉथिक किल्पेइ [kilpei] के आधारपर

---

१. Wackernagel : Altindische Grammatik [Lautlehre] Vol. I pp 173-5 § 149.

२. Bloch: L'Indo-Aryen p. 53

प्रा० भा० यू० √*ग्वृ [ग् ऋ] [$g^w\mathring{r}$; $g\mathring{r}$] धातुसे *ग्वृ-थो [$g^w\mathring{r}$-tho] जैसे रूपकी कल्पना की जा सकती है।

ड [ळ] :—कभी-कभी प्रा० भा० यू० दन्त्योंके नतिभावमें प्रा० भा० यू० सघोष ऊष्म *ज [*z] का प्रमुख हाथ देखा जाता है। यह वहाँ होता है, जहाँ ज के योगमें पाई जानेवाली दन्त्य ध्वनि सघोष [द, ध] है। यह नतिभाव प्रायः वहाँ होता है, जहाँ प्रथम पूर्ववर्ती स्वर अ या आ नहीं है। इस प्रकारके परिवर्तनमें कोई नई बात नहीं है, क्योंकि अ तथा आ से भिन्न स्वर होनेपर प्रा० भा० यू० *ज [z] का विकास *ज+[ʒ] के रूपमें हो जाता था। यह विकास ठीक उसी तरह होता था जैसे सघोष 'स' ध्वनि अ तथा आ से इतर स्वर ध्वनिके पूर्ववर्ती होनेपर ष हो जाती है। जैसे, **वेवेषु, हरिषु, गोषु** में, जब कि **पयःसु, रमासु** में स ध्वनि अपरिवर्तित रहती है। जिस प्रकार यह ष किसी दन्त्यका नतिभाव कर देता है, ठीक वैसे ही यह ज+[ʒ] भी नतिभावका कारण बनता है। इन दोनों दशाओंमें भेद यही है कि ष ध्वनि संस्कृतमें लुप्त नहीं होती, जब कि ज+लुप्त हो जाती है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि संस्कृतकी ध्वनियों [phonology] में ज [z], ज+[ʒ] ये ध्वनियाँ हैं ही नहीं। संस्कृत 'ळ' ध्वनि जो वेदमें पाई जाती है, स्वरमध्यगत 'ड' का विकास है। संस्कृत दूळभ को *दुर्दभ का रूप मान सकते हैं।

संस्कृत *दूळभ [दूलभ] ∠ *दुज़्+दभ [duʒ—dabh] ∠ *दुज्-दभ [duz–dadh]

,, नीड √*निज्+द [niʒ—d] √*नि—सृद्—अ [ni—sd–a]

ढ :—संस्कृत ड की भाँति ढ के विकासमें *ज+का विशेष हाथ है। इसे हम ज्+ +ध का विकसित रूप मानते हैं, यथा—

संस्कृत **अस्तोढ्वम्** [वैदिक रूप][1] [√ स्तु] ∠ ***अ–स्तोज़् + — ध्वम्** [a—stoz—dhwam] ∠ ***अ—स्तोष्—ध्वम्** [a—stos-dhwam]

किन्तु ध्यान दीजिए **अ** या **आ** ध्वनिके पूर्व होनेपर **ढ** नहीं होगा, यथा **भाषध्वे**। वाकेरनागेलने इसीके **अविड्ढि**[2] [√ अव्से सामान्यभूते लुङ्], तथा **द्विड्ढि** [√ द्विष्से लोट्का रूप] दिये हैं।

संस्कृतकी दन्त्य तथा द्वयोष्ठ्य ध्वनियाँ प्रा० भा० यू० दन्त्य तथा द्वयोठ्य ध्वनियोंसे सीधे विकसित हुई है।

त :—संस्कृत **त** प्रा० भा० यू० ***त** का अपरिवर्तित रूप है, **पितृ** ∠ ***पअतेर**।

थ :—संस्कृत **थ** प्रा० भा० यू० ***थ** का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत **रथ**, अवेस्ता **रथ** [raθa], ग्रीक **हॅरोथॅास्** [ᵉrothos] ∠ ***रॅाथॅास्** [rothos]।

सं०√ **ग्रन्थ** [**ग्रथ्**], **ग्रॅान्थॅास्** [gronthos] [हथौड़ा] **गुर्ग्रथॅास्** [gur-grathos] [डलिया]

∠ ***ग्रॅान्थॅास्**, ***ग्रॅाथॅास्** | *√ **ग्रॅान्थ्**, **ग्रॅाथ्**] [*gronthos, grothos] [*√ gronth, groth]

द :—संस्कृत **द** ध्वनि प्रा० भा० यू० ***द** का अपरिवर्तित रूप है। जैसे, सस्कृत **ददाति**, ग्रीक **दॅदोति** [dedōti] ∠ ***दॅदोति** [dedōti]

---

१. दे० मेकडोनल: वैदिक ग्रामर पृ० ४३०।

२. वाकेरनागेल : अल्तिन्डिश्के ग्रामातीक. भाग १. § १५० (बी). पृ० १७६।

थ :—संस्कृत थ ध्वनि प्रा०भा०यू० *थ का अपरिवर्तित रूप है, जैसे, सं० **दधार**, ग्रीक **तेथेतइ** [tethetai] ∠ *धेधोरे [dhedhore]

प्रा० भा० यू० **ध** भी प्रा० भा० यू० घ, **भ** की भाँति अग्रस्वरसे पूर्व होनेपर संस्कृतमें आकर ह् हो जाता है। इसके उदाहरणके रूपमें हम संस्कृत **हित** को ले सकते हैं, जो √ धा **धातु** से क्त [**धा + क्त**] प्रत्यय जोड कर बना है। यहाँ **ध** का ह् हो गया है। पाणिनिने स्वयं भी इस भाषाशास्त्रीय तथ्यको '**दधातेर्हि:**' इस सूत्रके द्वारा स्वीकार किया है। ग्रीकमें यह प्रा० भा० यू० *ध, '**थ**' [th] हो जाता है।

प :—संस्कृत प ध्वनि प्रा०भा०यू० *प का अपरिवर्तित रूप है, यथा, **पिता** ∠ *पअतेर [pəter], सं० पत्नी, ग्रीक पोत्निआ, ∠ *पोत्नी

फ :—संस्कृत फ प्रा० भा० यू० *फ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत **फल**, ग्रीक **फुल्लोन** [phullon] [पत्र] ∠ *फल्लो–
[*phallo–]

ब :—संस्कृत **ब** प्रा० भा० यू० *ब का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत **बर्हि**, अवेस्ता **बर्अजिश्** [barəziš] ∠ *बरघिस्
[barghis]

भ :—संस्कृत भ प्रा० भा० यू० *भ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत **भरति**, अवेस्ता **बरइति** [baraiti], ग्रीक **भेरेसि** [bheresi]
∠ *भेरेति [bhereti]

प्रा० भा० यू० *भ वैदिक संस्कृतमें ह् के रूपमें भी विकसित दिखाई देता है। √ **ग्रभ्**–√ **ग्रह्** जैसे वैकल्पिक रूप वेदमें पाये जाते हैं, पर यह विशेषता विभाषागत मानी जा सकती है।

ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे संस्कृतमें **ण, न, म** ये तीन ही अनुनासिक ध्वनियाँ मानी जा सकती हैं। **ङ** तथा **ञ** स्वतन्त्र ध्वनियाँ न होकर **न** के ही

ध्वन्यंग हैं। न ध्वनि कवर्गीय ध्वनिके परवर्ती होनेपर ङ तथा चवर्गीय ध्वनिके परवर्ती होनेपर ञ हो जाती है। उदाहरणके लिए हम **यङ्-कामयते, शञ्च मे,** को ले सकते हैं। कभी-कभी **क—ग** ध्वनियाँ उनसे परे न या म ध्वनि होनेपर ङका रूप धारण कर लेती हैं, यथा **वाङ्-मय, दिङ्-नाग** में। किन्तु यहाँ ङ को स्वतन्त्र ध्वनि न मानकर **क—ग** ध्वनियोंका ही सन्ध्यात्मक [prosodic] रूप मानना ठीक है। कुछ विद्वान् **ण** को स्वतंत्र ध्वनि माननेके पक्षमें नहीं हैं। ज्यूल ब्लाख इसे स्वतन्त्र ध्वनि माननेपर ज़ोर देते हुए लिखते हैं:—किन्तु [**ङ, ञ, ण** मेंसे] अकेला मूर्धन्य [**ण**] ही स्वतन्त्र ध्वनि है तथा स्वरमध्यगत रूपमें प्रकट होता है। यह या तो उस स्वरके बाद होता है, जो प्रागैतिहासिक रूपमें **ऋ** था, या वह स्वयं **र** या **ष** का परवर्ती है। यह एक स्वतन्त्र ध्वनि है, किन्तु इसकी स्वयंकी स्थिति सीमित है। यह ध्वनि पदादिमें नहीं पाई जाती। नव्य भारतीय भाषाओंमें इसका अत्यधिक विस्तार पाया जाता है।[1]

ङ, ञ :—ये दोनों अनुनासिक 'न' के ही ध्वन्यंग हैं। कभी-कभी ऐसे स्थानोंपर भी जहाँ 'कवर्गीय' ध्वनिका ऐतिहासिक कारणोंसे विकल्पसे लोप हो गया होता है, 'ङ' ध्वन्यंग पाया जाता है, यथा **युङ्ते, युङ्धि** वस्तुतः **युङ्क्ते, युङ्ग्धि** के ही रूप हैं।

ण :—यह वह **न** ध्वनि है, जो **ऋ, र, ष** के प्रभावसे ण हो गई है, अथवा परवर्ती टवर्गीय ध्वनिके कारण **ण** हो गई है। उदाहरणके लिए इन शब्दोंको ले लें—**वर्ण, नृणाम्, कृपण, क्षोभण, निघण्टु, मण्डयति।**

न :—संस्कृत **न** प्रा० भा० यू० ***न** का अपरिवर्तित रूप है, यथा संस्कृत **मनस्**, ग्रीक **मॅनॅास्** [menos] ∠ ***मॅनॅास्** [menos]

म :—संस्कृत **म** प्रा० भा० यू० ***म** का अपरिवर्तित रूप है, यथा

१. Bloch : L'Indo-Aryen P. 71.

संस्कृत मातृ [मातर्], ग्रीक मातेर् [māter], लैटिन मातेर् [māter]
∠ *मातेर् [*māter]

,, नामन्, लैटिन नोमेन् [nōmen] ∠ नोमेन् [nōmen]

अन्तःस्थ ध्वनियोको लेनेके पूर्व सुविधाकी दृष्टिसे हम सोष्म ध्वनियोंको पहले ले लेते है। ये ध्वनियाँ तीन है —श, ष, स। श का अध्ययन हम कर चुके हैं, अत. यहाँ ष तथा स को ही लेगे। इनके साथ 'ह्'के उस रूपको भी लेगे, जो अघोष 'ह्' है।

ष :—संस्कृत 'ष' प्रा० भा० यू० स अथवा भारतईरानी श का ही विकसित रूप है। जहाँ ये ध्वनियाँ ऋ, र तथा टवर्ग के योगमे साथ हो इ, उ, ए, ओ तथा कण्ठ्य ध्वनिकी परवर्ती होती हैं, ष हो जाती है। वैसे ड के विकासमे हम बता चुके है कि ष वस्तुत. स [अघोष ऊष्म ध्वनि] का ही प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] रूप है, जो अ, आ से भिन्न स्वरसे परवर्ती होनेपर ष हो जाता है।

स :—संस्कृत स प्रा० भा० यू० *सका अपरिवर्तित रूप है, यथा—

संस्कृत अस्ति, ग्रीक एस्ति [esti], लैटिन एस्त [est] ∠ *एस्ति [esti]

ह् :—यहाँ हम ह् के अघोष रूपको लेगे। अघोष ह् का उच्चारण संस्कृतमे सदा पदान्तमे पाया जाता है। इसे संस्कृतमे विसर्ग कहते है। रामः, हरिः में यही अघोष ह् है। संस्कृतमे विसर्गके उच्चारणकी एक विशेषता है कि वह पूर्ववर्ती स्वर ध्वनिसे युक्त होकर उच्चरित होता है। रामः, हरिः का वास्तविक उच्चारण [रामह, हरिहि] होता है। यह अघोष ह् प्रा० भा० यू० पदान्त *स् या *र् मे विकसित हुआ है।

संस्कृत अन्तःस्थोंका विकास :—प्रा० भा० यू० भाषाकालसे ही इस परिवारकी भाषाओंमे अन्तःस्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करते देखे जाते हैं। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमे बता आये हैं, प्रा० भा० यू० में **य, व, र, ल** के अतिरिक्त **न, म** भी अन्तःस्थ थे। अन्तःस्थोंने भारतयूरोपीय भाषाओं-की उस विशेषतामे प्रमुख कार्य किया है, जो अपश्रुति कहलाती है। वैसे वैज्ञानिक दृष्टिसे अन्तःस्थोंका विचार हमें स्वरध्वनियोंके साथ ही करना चाहिए था, किन्तु सुविधाकी दृष्टिसे हमने ऐसा नहीं किया है। हम देखते है कि संस्कृत **य, व, र, ल** प्रा० भा० यू० ***य, *व, *र, *ल** से विकसित हुए है, किन्तु फिर भी प्रत्येक प्रा० भा० यू० ***र** तथा प्रत्येक प्रा० भा० यू० ***ल** संस्कृतमे क्रमशः र तथा लके रूपमे विकसित हुए हैं, यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा। प्रतिवेष्टित ध्वनियोंके विकासकी भाँति वैदिक संस्कृतकी दूसरी विशेषता प्रा० भा० यू० ***र, *ल** का विकास है। ऋग्वेदमे र, ल ध्वनियोंका अध्ययन करनेपर पता चलता है कि ऋग्वेद कालमे ही कई विभाषाओंमे इनका विकास परस्पर एक दूसरेके लिए पाया जाता है। प्रत्येक प्रा० भा० यू० ***ल** अवेस्तामें **र** हो गया है, और ऋग्वेदमें भी यह प्रायः र ही पाया जाता है, वहाँ **ल** बहुत कम पाया जाता है। यह मानना गलत न होगा कि भारत-ईरानी शाखामें आकर प्रा० भा० यू० ***ल, र** हो गया है। जहाँ ग्रीक आदिमे **ल** पाया जाता है, वहाँ यदि इस शाखामें **र** है, तो वह इसी वैभाषिक विशेषताके कारण। उदाहरणके लिए संस्कृत √**रक्ष्**, ग्रीक **अलेक्सो** [alekso], सं० **रिच्**, लैतिन **लिक्वो** [linquo] सं० **गर्भ**, ग्रीक **देल्फोस्** [delbhos] को ले सकते हैं। किन्तु भारत-ईरानी शाखामे ऐसी भी विभाषा रही होगी, जिसमें प्रा० भा० यू० ***ल** अपरिवर्तित रहा होगा, यथा सं० **लोक**, लै० **लुकुस** [lucus], सं० **श्लोक**, ग्रीक **क्लुओ** [kluo]। वैसे संस्कृतमें ऐसे भी शब्द मिलते है, जिनमें प्रा० भा० यू० ***र, ल** हो गया है,

यथा सं० क्लोश लिथुआ० क्रौक्ति [kroukti] सं० लुम्प्, लैतिन रुम्पो [rumpo]। इन कारणोंसे यह स्पष्ट है कि संस्कृतका र, ल का विकास खिचड़ी-सा रहा है। ये ध्वनियाँ केवल मूल शब्दों [धातु तथा प्रातिपदिकों] में ही परिवर्तित न होकर प्रत्ययों तकमें परिवर्तित हो जाती हैं, यथा, सं० शुक्–ल, [शुक्ल] शुक्–र [शुक्र], सं० भद्र ∠ *भद्–ल; भद्–र [भद्र]। इसीलिए प्रत्याहार सूत्रोंमें पाणिनिने बताया है कि उनके व्याकरणमें र से र का ही नहीं ल का भी ग्रहण होता है। बादके संस्कृत विद्वानोंने भी 'र, ल' में अभेद माना है, यमक तथा श्लेष अलंकारमें इनका अभेद वाला प्रयोग बहुत पाया जाता है [रलयोरभेदः]। संस्कृत य, व प्रा० भा० यू० *य, *व से विकसित हुए हैं, यथा,

सं० युगम्, ग्रीक ज़ुगोन् [zugon] लै० ज़ुगुम् [zugum],
गॉथिक ज़ुक् [zuk], प्रा० अंग्रेज़ी ज़्योक [zyok],
आ० अंग्रेज़ी योक [yoke], जर्मन त्सोख़[zoch],
रूसी इगो [igo] ∠ *युगाम् [yugom]

सं० अश्व, ग्रीक हेप्पोस् [heppos], लिथु० अश्व [ašva]

∠ *एक्वोस् [ekśʷos]

सं० अविः ग्रीक ओउइस् [ouis], लैतिन ओविस् [ovis],
प्रा० आयरिश ओइ, [ōi], गॉथिक अवि-स्त्र [awi-str]

प्रा० अं० [ēowe, ēown] [अं० ewe] लिथु० अविस् [avis],
प्रा० स्लावोनिक, ओव्यत्सा [ovy-tsa], रूसी ओव्त्सा
[ovtsa] ∠ *ओवि [owi]

जैसा कि हम बता चुके हैं इन्हीं चार अन्तःस्थ ध्वनियोंके स्वररूप इ, उ, ऋ, ऌ हैं। संस्कृतके सन्धि तथा सम्प्रसारणके नियमोंसे यह स्पष्ट है कि ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे इनमें विशेष भेद नहीं हैं—दधि + अत्र [दध्यत्र],

मधु + अरिः [मध्वरिः], इयेष, उवाच आदि उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है। इन छः अन्तःस्थों [यदि न्, म्, को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो, जो प्रा० भा० यू० में अन्तःस्थ थे, किन्तु संस्कृतमें नहीं] में से **य, व** का विकास संस्कृतमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। **य** तो कभी-कभी दो स्वरोंमें सन्धि न होने देनेके लिए भी प्रयुक्त होता है, यथा **रमया, धिया** में। यहाँ **रमा** तथा **धी** प्रातिपदिक हैं, जिनमें तृतीया एकवचनकी सुप् विभक्ति **आ** [**टा**] जोड़ी गई है। ध्यान देनेपर पता चलेगा कि **रमा + आ, धी + आ** से क्रमशः ***रमा, *ध्या** रूप बननेकी सम्भावना है, साथ ही एक गड़बड़ी यह भी होती है कि प्रातिपदिकका अक्षर-भार तथा विभक्ति रूपका अक्षर-भार [syllabic weight] एक-सा बना रहता है। अतः एक ओर इस सन्धिको रोकनेके लिए दूसरी ओर द्वयक्षर प्रातिपदिक [**रमा**] को त्र्यक्षर विभक्तिरूप तथा एकाक्षर प्रातिपादिक [**धी**] को द्वयक्षर विभक्ति रूप बनानेके लिए '**य**' का प्रयोग किया गया है। पर यह ध्यान देना होगा संस्कृतमें यह '**य**' श्रुति [glide] न होकर शुद्ध ध्वन्यात्मक तत्त्व [phonological element] है।

इसी सम्बन्धमें दो शब्द संस्कृतमें पाई जानेवाली अपश्रुतिके विषयमें कह दिये जायँ। 'अपश्रुति' से हमारा तात्पर्य स्वर ध्वनियों तथा स्वर ध्वनियुग्मोंके उस परिवर्तनसे है, जो मूल भारोपीय भाषामें होता था। ये स्वर सम्बन्धी परिवर्तन, मुख्यरूपेण शब्दके उदात्तादि स्वरकी प्रकृति तथा स्थानसे सम्बद्ध थे, तथा गुण सम्बन्धी एवं मात्रा सम्बन्धी हो सकते थे। संस्कृत भाषाके छात्रके लिए इनमेंसे मात्रिक अपश्रुति विशेष महत्त्वकारिणी है, किन्तु यहाँ गौणी अपश्रुतिपर भी कुछ कह देना आवश्यक होगा। गौणी अपश्रुतिमें प्रा० भा० यू० **अ, ऎ, ऒ** के ह्रस्व तथा दीर्घ रूप परस्पर परिवर्तित होते थे। अर्थात् इस प्रकारकी अपश्रुतिमें एक स्वर-ध्वनि सर्वथा भिन्न ध्वनि बन जाती थी। प्रा० भा० यू० मे तथा ग्रीक आदि भाषाओंमें जहाँ प्रा० भा० यू० स्वर शुद्ध रूपमें वर्तमान हैं, ऎ व **ऒ** के ह्रस्व तथा

दीर्घरूपो एवं **अ** तथा **ओ** के ह्रस्व तथा दीर्घरूपोमे परस्पर परिवर्तन पाया जाता है, यथा ग्रीक **फेरो** [phero] **फोरोस्** [phoros], लैतिन **तेगो** [tego], **तोग** [toga]। इस सम्बन्धमे यह भी ध्यान दे लेना आवश्यक होगा कि यह गौणी अपश्रुति **अ** तथा **ए** एवं उनके दीर्घ रूपोके परिवर्तनके सम्बन्धमे नही पाई जाती। जैसा कि हम देख चुके है, संस्कृतमे ये तीनो प्रकारके स्वर **अ** तथा उनके दीर्घरूप **आ** के रूपमे विकसित हुए है, अत यहाँ गौणी अपश्रुतिका कोई अवकाश ही नही रहा है। सस्कृतकी दृष्टिसे मात्रिक अपश्रुतिका ही महत्त्व है, जिसका विवेचन हम द्वितीय परिच्छेदमे कर चुके है।

जैसा कि स्पष्ट है, प्रा० भा० यू० मूल स्वर **ए** तथा **ओ** ही थे। यही नही, यहाँ तक कहा जा सकता है कि वास्तविक मूल स्वर केवल **ए** था, जो प्रा० भा० यू० मे स्वर सम्बन्धिनी [accentual] विशेषताके कारण **ओ** भी हो जाता था। तीसरा मूल स्वर **अ** था, जिसे यद्यपि **ए**, **ओ** से तात्त्विक दृष्टिसे सम्बद्ध नही मान सकते, किन्तु यह स्वर प्रा० भा० यू० मे बहुत कम पाया जाता था। **ए** तथा **ओ** आदिम मूल स्वर रहे होगे यह एक शारीरवैज्ञानिक तथ्य है, क्योकि ये स्वर कमसे कम शक्तिके द्वारा उच्चरित हो सकते है। इनके उच्चारणमे प्राय उच्चारणके स्थान तथा करण उदासीनसे रहते है तथा उनमे कोई विशेष सन्निकर्ष [articulation] नही पाया जाता। **अ** के उच्चारणमे स्थान तथा करणमे कतिपय सकुचितत्व या शक्ति अवश्य पाई जाती है, तथा **इ**, **उ** के उच्चारणमे अत्यधिक शक्तिका व्यय होता है। यही कारण है कि उच्चारण-सौकर्यकी दृष्टिसे **इ**, **उ** मूलस्वर **ए**, **ओ** बन जाते थे। ये मूल स्वर जब अन्त स्थोसे युक्त होते थे, तो मूल ध्वनियुग्मोका रूप धारण कर लेते थे यथा ***एय्**, ***एव्**, ***एर्**, ***एल्**, ***एन्**,* ***एम्**, [इसी प्रकार ***ओय्** आदि ध्वनियुग्म भी रहे होगे]। **इ**, **उ** जैसी ध्वनियाँ भी इन्ही ध्वनियुग्मोका विकसित रूप है।

प्रा० भा० यू० में *इय् *उव् जैसे ध्वनियुग्म सर्वथा नहीं थे, यह बात ध्यानमें रखनेकी है।

चूँकि यह परिच्छेद केवल ध्वनियोंके ऐतिहासिक विकासपर ही न होकर उनके उच्चारणसे भी सम्बद्ध है, कुछ शब्द वैदिक संस्कृतकी उच्चारण सम्बन्धिनी विशेषताओंपर कह दिये जायँ। जहाँ तक अन्य ध्वनियोंका प्रश्न है, प्रातिशाख्य तथा शिक्षाग्रन्थोंमे इनका उच्चारण ठीक वही संकेतित किया गया है, जो लौकिक संस्कृतमे पाया जाता है। किन्तु **य**, **व**, **ष** तथा **अनुस्वार**के उच्चारणमे वैदिक कालमें कुछ भेद था। इन विशेषताओं-का संकेत यद्यपि प्रातिशाख्योंमें नहीं मिलता, तथापि शिक्षाओंमें तथा आज भी उच्चरित किये गये वेद मन्त्रोंमें ये विशेषताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। वैदिक कालमे ये विशेषताएँ वैभाषिक रही होंगी। अधिकतर ये विशेष-ताएँ यजुर्वेदके उच्चारणमें पाई जाती हैं, तथा इस प्रवृत्तिका प्रभाव ऋग्वेदके उच्चारणपर भी पड़ा है।[1] लौकिक संस्कृतमे आकर ये विशेषताएँ लुप्त हो गई, किन्तु इनमेसे कुछ विशेषताओंको प्राकृत तथा देशी विभाषाओंने ग्रहण कर लिया। शिक्षा ग्रन्थोंके मतानुसार असंयुक्त **'यकार'** का उच्चारण पदादिमे रहनेपर **'ज'** होता था। पदमध्यमें भी **'य**, **ऋ**, **र**, **ण**, **ह** से युक्त होनेपर वह **ज** उच्चरित होता था:—

> **पदादौ विद्यमानस्य ह्यसँय्युक्तस्य यस्य च।**
> **आदेशो हि जकारः स्यात् युक्तः सन् हरणेन तु॥**
> **रेफेनाथ हकारेण युक्तस्य सर्वथा भवेत्।**
> **यकारर्कारयुक्तस्य जकारः सर्वथा भवेत्॥**

[माध्यन्दिनोशिक्षा २.३.-५]

---

१. देखिए, मेरा निबन्ध "यजुर्वेदके मन्त्रोंका उच्चारण" [शोध-पत्रिका २००६]

यजुर्वेदके उच्चारणमे [ऋग्वेदमें भी] **यद्भूतं यच्च भाव्यम्** का उच्चारण **"जद्भूतं यच्च भाविय्म्म"** होता है। इसी प्रकार **सूर्य्य आत्मा जगत-स्तस्थुषश्च** का उच्चारण **सूर्ज्ज आत्मा जगतस्तस्थुखश्च** होता है। इसी प्रकार पदादि '**व**' का उच्चारण भी वहाँ एक विशेषता रखता है। माध्यन्दिनी शिक्षाकारके मतानुसार इसका उच्चारण '**गुरु**' होता है।

गुरुर्व्वकारो विज्ञेयः पदादौ पठितो भवेत् ॥ [वही २–६] माध्यन्दिनी शिक्षाकारका तात्पर्य '**गुरु**' शब्दसे यहाँ **व** के दन्तोष्ठ्य रूप [**व्व**, β] मे है। संस्कृत वैयाकरणोने **व** को दन्तोष्ठ्य माना है—[**वकारस्य दन्तोष्ठ्यम्**]। व का दो तरहका उच्चारण यजुर्वेदमे पाया जाता है, पदादिमे **व्व** [β], पदमध्यमें **व** [w][1] शुक्ल यजुर्वेदी आज भी पदादि **व** का उच्चारण दन्तोष्ठ्य [dento-labial] करते है, यथा **ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः** का याजुष उच्चारण **ततो ब्विराडजायत ब्विराजो अधिपूरुखः** होता है। किन्तु पदमध्यमे **य**, **व** का उच्चारण **ज**, **ब** नही होता, यथा **तस्माज्जाता अजावयः** के उच्चारणमे, जो इसी तरह उच्चरित होता है।

'**ष**' का उच्चारण '**ट**' वर्गीय ध्वनिसे अयुक्त होनेपर **ख** होता है। माध्यन्दिनीशिक्षा तथा केशवीशिक्षामे इस विशेषताका उल्लेख मिलता है।

षकारस्य खकारः स्याट्टुकयोगे तु नो भवेत् ॥

[माध्य० शि० २–१]

षः खष्टुमृते च ॥ [केशवीशिक्षा ३]

उदाहरणके लिए **सहस्रशीर्षा पुरुषः** का उच्चारण **सहस्रशीर्खा पुरुखः** किया जाता है। किन्तु **"अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्"** मे **टुकयोग** है इसलिए यहाँ **ष** का उचारण **ख** नहीं होता। यजुर्वेदकी चौथी उच्चारण विशेषता, जिसे ऋग्वेदने भी अपना लिया है, अनुस्वारके उस उच्चारणसे सम्बद्ध है, जब उसकी परवर्ती ध्वनि सोष्म [श, ष, स] या प्राणध्वनि [ह] हो। ऐसी

१. देखिए, वही निबन्ध।

स्थितिमें अनुस्वारका उच्चारण 'गुम्' होता है। यथा **अंशुना** का उच्चारण **अग्गुंशुना** होता है, तथा **पुरुष एवेदं सर्वं** का उच्चारण **पुरुष एवेदग्गुं सर्वं** होता है। ये विशेषताएँ वैदिक कालकी ही कुछ विभाषागत विशेषताएँ रही होंगी। इनमे पदादि **य** का **ज** होना, तथा **ष** का **ख** होना तो प्राकृतमें भी पाया जाता है। कई संस्कृतके पण्डित आज भी लौकिक संस्कृतके पदादि **य** का **ज** तथा **ष** का **ख** उच्चारण करते देखे जाते है। पदादि संस्कृत **य** का उच्चारण कई मैथिल तथा बंगाली पण्डित **ज** करते हैं।

संस्कृत ध्वनियोंकी सन्ध्यात्मक विशेषता [Prosodic features]:—

ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे स्वर तथा व्यञ्जन ध्वनियोंकी उस विशेषताका भी बड़ा महत्त्व है, जिसे हम पारिभाषिक पदका प्रयोग करते हुए "सन्ध्यात्मकता" [prosody] कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत हम उस विशेषताको लेते हैं, जो व्याकरण ग्रन्थोंमें अच्संधि, हल्संधि तथा विसर्गसंधिके नामसे प्रसिद्ध है। किस प्रकार स्वर ध्वनियाँ तथा व्यञ्जन ध्वनियाँ परस्पर मिलकर पद, वाक्यांश तथा वाक्यमे एक नये रूपमे परिवर्तित हो जाती हैं, इसका विस्तारसे विवेचन संस्कृत व्याकरणके सन्धि प्रकरणके अन्तर्गत देखा जा सकता है। यहाँपर हम कुछ महत्त्वपूर्ण विषयोंपर सकेत मात्र करेंगे, क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ व्याकरणको दृष्टिमे रखकर नहीं लिखा गया है।

[१] पाणिनिका '**इको यणचि**' सूत्र इस बातकी पुष्टि करता है कि **इ, उ, ऋ, लृ** तथा **य्, व्, र्, ल्** में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, तथा परवर्ती ध्वनिके स्वर होनेपर इनका स्वरूप पुनः व्यञ्जनत्वको प्राप्त कर लेता है, **दध्यानय, मध्वरिः, धात्रंशः, लाकृतिः।**

[२] पाणिनिका '**एचोऽयवायावः**' सूत्र इस बातकी पुष्टि करता है कि **ए, ओ, ऐ, औ** क्रमशः **अय्, अव्, आय्, आव्** ये ध्वनियुग्म ही हैं। तभी संधिमें ये पुनः वास्तविक रूपको प्राप्त कर लेते हैं **हरये, विष्णवे, नायकः, पावकः।**

[३] भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे अ तथा आ, इ तथा ई, उ तथा ऊ मे कोई ध्वन्यात्मक भेद नही। इसी बातका सकेत **'अकः सवर्णे दीर्घः'** सूत्र करता है। इनमे जो भेद है, वह ध्वन्यात्मक [phonematic] न होकर सख्यात्मक [prosodic] तथा मात्रात्मक [qualitative] है।

[४] सस्कृत **'श'** का **'छ'** से घनिष्ठ सबध है, यह सकेत पाणिनिके सूत्र **'शश्छोऽटि'** से मिलता है।

[५] स्वर ध्वनिकी पूर्ववर्ती अघोष स्पर्श ध्वनि भी सधिमे सघोष हो जाती है। ध्यान रखिए सघोष ध्वनिके सम्पर्कमे आकर अघोष भी सघोष हो जाती है। इसी तरह अघोष स्पर्श ध्वनिसे परे सघोष स्पर्श ध्वनि होनेपर भी अघोष सवर्गीय सघोष ध्वनि बन जाती है। **दिक् + इन्द्रः [दिगिन्द्र], दिक् + गज [दिग्गजः], दिग्डिण्डिमः।**

[६] इसी तरह अघोष या सघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनिसे परे अनुनासिक स्पर्श ध्वनि होनेपर वह ध्वनि सवर्ग अनुनासिक हो जाती है। **दिक् + नागः [दिङ्नागः], षट् + नगर्यः [षण्णगर्यः]।**

[७] रेफ, ष या मूर्धन्य ध्वनियोके सम्पर्कमे आकर दन्त्य ध्वनिया भी प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] हो जाती हैं।

[८] हम देख चुके है, सस्कृत **ह** का विकास मूलत *घ तथा *ध से हुआ है। अत सधिमे इसका यह मूल रूप पुन आ जाता है। यदि **ह** से पूर्व कण्ठ्य ध्वनि होती है ता वह घ हो जाता है, यदि **ह** से पूर्व दन्त्य ध्वनि होती है तो यह **ध** हो जाता है। **वाक् + हरिः[वाग्घरिः], तत् + हरिः [तद्धरिः]**; साथ ही यदि पूर्ववर्ती ध्वनि अघोष है, तो ह के सघोषत्वके कारण वह भी सघोष हो जाती है।

[९] अजन्त पुल्लिग शब्दोके द्वितीया बहुवचनके रूपोके "आन्" वाले पदोके बाद चवर्ग या तवर्ग ध्वनियोके आनेपर क्रमश **'स्'** या 'श्' का आगम हो जाता है, तथा अनुनासिक स्पर्श ध्वनि 'न्' पूर्ववर्ती स्वरको सानुनासिक बनाकर स्वय लुप्त हो जाती है। **तान् + तान् = तांस्तान्,**

अहीन् + च [सर्वान्] = अहीँश्च [सर्वान्]। इससे इस कल्पनाकी पुष्टि होती है कि प्रा० भा० यू० द्वितीया विभक्ति चिह्न *ओन्स् [ons] था।

[१०] यद्यपि विसर्गका उच्चारण अघोष 'ह्' होता है, तथापि इसका सम्बन्ध 'ह्' से न होकर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे स से है। यह स् रेफ [र्] से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। सम्भवतः इसीलिए पाणिनिने विसर्गको 'रु' संज्ञा दी है। यह विसर्ग परवर्ती स्पर्श ध्वनिके अनुसार उसका सस्थानीय रूप धारण कर लेता है। कण्ठ्य ध्वनियोंके पूर्व यह जिह्वामूलीय हो जाता है, ओष्ठ्य ध्वनियोंके पूर्व उपध्मानीय हो जाता है [जिन्हे हम क्रमशः वज्राकार विसर्ग [×] और गजकुम्भाकृति विसर्ग [ ] भी कहते हैं]: दन्त्य ध्वनियोंके पूर्व यह विसर्ग स् रूपमे, तालव्य ध्वनियोंके पूर्व श् रूपमे, तथा प्रतिवेष्टित ध्वनियोंके पूर्व ष् रूपमे पाया जाता है। उदाहरणके रूपमे हम तत × किम्, पुनः पुनः, ततस्ते, ततश्चक्रे, धनुष्टंकारः को ले सकते हैं।

[११] अ, आ, ई, ऊ से भिन्न स्वर ध्वनिसे परे होनेपर तथा बादमें किसी स्वर, सघोष स्पर्श या 'य' के होनेपर विसग 'र' हो जाता है। यह विशेषता "हरियथैकः" इस उदाहरणमे देखी जा सकती है। भा० यू० परिवारकी अन्य भाषाओमे 'स्' के र् के रूपमे परिवर्तित होनेकी स्थिति लैतिनमे देखी जाती है। लैतिनमे स्वरमध्यगत [intervocalic] स्, र् हो जाता है। उदाहरणके लिए लैतिन फ्लोस् [flos] शब्दका षष्ठी बहुवचन रूप फ्लोरिस [floris> *flosis] बनता है। यह ध्वनिशास्त्रीय तथ्य इस बातका संकेत करता है कि 'स्' तथा 'र्' का परस्पर कोई सम्बन्ध माना जा सकता है। ग्रीककी भी कई विभाषाओमे यह स् ध्वनि स्वरमध्यगत होनेपर र् हो गई थी।[१] वस्तुतः स्वरमध्यगत स् पहले सघोष ज़ बना होगा, तदनन्तर यह र् बना होगा। इसका विकास यों रहा होगा।

१. Atkinson : Greek Language p. 45.
also see Buck : Comparative Greek and Latin Grammar pp. 132-32.

VSV⟶VZV⟶VRV.

[यहाँ V स्वरका, S अघोष दन्त्य सोष्मध्वनिका, Z सघोष दन्त्य सोष्म ध्वनिका, R रेफका चिह्न है।] अघोष दन्त्य सोष्म ध्वनि स्वर या अन्य सघोष ध्वनिके प्रभावके कारण सघोष बन जाती है, तथा रेफ उसी सघोषत्वका प्रतीक है। इस तरह ऊपर दिये गये उदाहरणकी संध्यात्मक सरणि यों मान सकते हैं।

हरिस् यथैकः [हरिः यथैकः] ⟶ हरिज़् यथैकः ⟶ हरिर् यथैकः [हरिर्यथैकः] इस प्रकार हमें यहाँ *हरिज़् जैसे रूपकी कल्पना करनी पडती है।

इसीके दूसरे उदाहरण हम ये दे सकते है :—**गौः + गच्छति–गौर्गच्छति, तंः + भूतम् = तंर्भूतम्, मुनेः = मनः = मुनेर्मनः, शत्रुः + हरति = शत्रुर्हरति, गौः + आगच्छति = गौरागच्छति** आदि।

[१२] विसर्गका एक तीसरे प्रकारका विकास और पाया जाता है। विसर्गके पूर्व दीर्घ स्वर ध्वनि **आ, ई, ऊ** के होनेपर तथा परे सघोष ध्वनि होनेपर उसका लोप हो जाता है। विसर्गके पूर्व ह्रस्व स्वर ध्वनि तथा परे रेफ होनेपर ह्रस्व स्वर ध्वनि दीर्घ बन जाती है तथा विसर्गका लोप हो जाता है। [**ढ्लोपे पूर्वस्य च दीर्घोऽणः**], यथा **हरी रम्यः [हरिः + रम्यः], शम्भू राजते [शम्भुः + राजते]**। इनका ध्वनिशास्त्रीय कारण यह बताया जा सकता है कि यहाँ भी 'विसर्ग' [स्] पहले ज़् [z] बनकर फिर लुप्त हुआ, संस्कृतमें ज़् [z] जैसी ध्वनिका अभाव है अत. विसर्ग [स्] के सघोष रूपका लोप हो जाता है। पर जहाँ इस लोपसे अक्षर-भार [syllabic weight] में गडबड़ होती है, वहाँ पहले ह्रस्व स्वरको दीर्घ बनाकर अक्षर-भारकी कमी पूरी की जाती है। यदि विसर्गके पूर्वका अक्षर स्वतः दीर्घ है तो अक्षर-भारकी गड़बडीका प्रश्न ही नहीं उठता, वहाँ लोप होनेसे कोई कमी नही होती, अतः न नवीन ध्वनिके संनिवेशका ही प्रश्न उठता है, न उन स्वरध्वनियोके दीर्घीकरणका ही। इसे हम यों स्पष्ट कर सकते हैं।

[१]—$\bar{V}$S + C[B]— = —$\bar{V}$C [B][1]—[इमा गताः, एता गच्छन्ति]

[२]—$\bar{V}$S + V = —$\bar{V}$ V—[इमा आगताः; इमा अत्र]

[३]—$\bar{V}$S + R [H]— = —$\bar{V}$ R [H]—[इमा राजन्ते, इमा हरन्ति]

[१३] विसर्ग सन्धिका एक तीसरा प्रकार वह होता है जहाँ विसर्ग [स्] से पूर्व तथा परे दोनों ओर अ ध्वनि हो। ऐसे स्थलोंपर दोनों स्वर तथा मध्यगत विसर्ग ओ का रूप धारण कर लेते हैं। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यह माना जा सकता है कि यहाँ भी स् [:] पहले सघोष 'ज़' [z] होता है। फिर उसका लोप कर उसकी पूर्ति 'व्' [w] पूरकके द्वारा की जाती है। हम इसे यों बता सकते हैं :—रामः + अयम् = *राम [ज़्] + अयम् = राम [w] ऽयम् [राम [उ] ऽयम्] = रामोऽयम्। भाव यह है 'व्' श्रुतिका स्वरगत पूरक रूप [closure] अक्षर-भार [syllabic weight] को क़ायम रखनेमें सहायता करता है। साथ ही यह 'व्' *रामायम्' जैसे रूपको बननेसे भी रोकता है, जो अ + अ वाली सन्धिमें पाया जाता है।

[१४] सन्धि प्रकरणमें संस्कृतमें ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जो सन्धिगत रूप धारण नहीं करते। इन्हींको प्रगृह्य पारिभाषिक संज्ञा दी गई है। अजन्त शब्दोंके द्विवचन रूपोंमें तथा क्रियाके द्वि० व० रूपोंमें ई, ऊ, ए, वाले रूप प्रगृह्य हैं। इसी तरह अमी, इ, अहो, आ भी प्रगृह्य हैं। इनके उदाहरण ये हैं :—इ इन्द्र, कवी इह, आ एवम्; साधू आगच्छतः, अमी अश्वाः, विद्ये इष्टे, याचेते अर्थम्, अहो अपेहि। प्रगृह्य रूप जैसेके-तैसे बने रहते हैं उनमें संहिता स्थितिमें कोई विकार नहीं होता।

---

१. $\bar{V}$ = दीर्घ स्वर [आ, ई, ऊ]; S = विसर्ग, स्; C [B] = सघोष व्यंजन V = स्वर; R = रेफ; H = प्राणध्वनि, ह।

विसर्ग संधिके प्रकरणमे कुछ ऐसे भी शब्द है, जिनके विसर्गका व्यंजनके परे रहनेपर सदा लोप पाया जाता है, जैसे भोः, एषः, सः के संधिगत रूपोमे—**भो नैषध, स ददर्श, एष गच्छति।**

इस प्रकार हम देखते है कि संधिम ध्वनिशास्त्र बडा महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, किस प्रकार एक ध्वनि दूसरे प्रकारकी ध्वनिके साथ आकर अपना रूप बदल देती है। एक साथ दो विभिन्न प्रकृतिकी ध्वनियोके उच्चारणमे वक्ताको असुविधा होती है। वह उनका उच्चारण विभिन्न रूपमे तभी कर सकता है, जब कि दोनो ध्वनियोका उच्चारण एक साथ न कर क्षण-भरके लिए बीचमे ठहर जाय। यदि वह एक साथ अविच्छिन्न प्रवाहमे इनका उच्चारण करेगा, तो ये ध्वनियाँ परस्पर प्रभावित अवश्य होगी। इस संबंधमे हम देखते है कि एक साथ अघोष तथा सघोष ध्वनिका उच्चारण करनेमे वक्ताको असुविधा होती है। यह एक ध्वनिशास्त्रीय तथ्य है कि प्रथम ध्वनिके अघोष होनेपर तथा द्वितीय ध्वनिके सघोष होनेपर वह भी उसी वर्गकी सघोष ध्वनि हो जायगी। **यथा दिक् + गजः [दिग्गजः], वाक् + दण्डः [वाग्दण्डः]** मे हम देखते है कि एक साथ उच्चारणके कारण प्रथम पदके अंतकी अघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनि परवर्ती सघोष ध्वनिके कारण सघोष हो जाती ह। इसी प्रकार परवर्ती ध्वनिके अनुनासिक होनेपर पूर्ववर्ती अघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनि सवर्गीय अनुनासिक हो जाती है, यह भी हम देख चुके है। इन्हे हम **सघोषीकरण** [prosody of voicing] तथा **अनुनासिकीकरण** [prosody of nasalization] कहेगे। यदि इन पदोका उच्चारण संहिता [sentence] के रूपमे न किया जाय और पद स्वतन्त्र-उच्चरित किये जायँ तो ये 'सन्ध्यात्मकताएँ' नही रहेगी। हम तीन उदाहरण ले लें, **दिक् + गज [दिग्गजः], तत् + मतम् [तन्मतम्], तत् + ढक्का [तड्ढक्का]।** इनका संहितागत उच्चारण कोष्ठकवाला होगा। एक श्वासमें उच्चरित किये जानेपर, हमारा उच्चारण कोष्ठकवाला ही होगा, चाहे हम उसे बचानेका कितना ही प्रयास क्यो न करे। किन्तु यदि प्रत्येकका स्वतन्त्र

उच्चारण करेंगे तो सन्धिका प्रश्न ही उपस्थित नही होता, तथा **दिक्** कह-कर कुछ देर बाद **गजः** कहा जाय, तो 'क्' के उच्चारणमे कोई विकृति नही आयेगी।

संस्कृतमे जहाँ विसर्ग सन्धिमे विसर्गका लोप हो जाता है, वहाँ विसर्गके स्थानपर एक क्षणिक विराम-सा पाया जाता है। सन्धिमे इस क्षणिक विरामका भी बड़ा महत्त्व है। जहाँ उपधावर्ती स्वर ध्वनिके बादका विसर्ग लुप्त हो गया है, तथा अपर पदके आदिमे स्वर ध्वनि है तो पुन. सन्धि न होने देनेके लिए उच्चारण कर्ता बीचमे कुछ रुककर उच्चारण करता है। यहाँ वह त्वरितगतिका आश्रय इसलिए नही लेता कि एक श्वासमे उच्चारण करनेपर स्वरध्वनियोमे फिर-से दूसरी संधि होनेकी संभावना है। यह क्षणिक विराम सस्कृतमे कोई ध्वन्यात्मक तत्व [phonematic element] न होकर केवल सन्ध्यात्मक तत्त्व [prosodic element] है। संभवतः यह एक कण्ठनालिक स्पर्श [glottal stop] है, जैसा कि अरबी भाषामे 'हमज़ा' का उच्चारण होता है। इस उच्चारण सम्बन्धी विशेषता-को इस उदाहरणसे स्पष्ट कर दें।

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमंगलः ॥ [**रुद्रसूक्त**] का उच्चारण "**असौ जस्ताम्रो** ? **अरुण** ? **उत बभ्रुः सुमंगलः** होता है। यहाँ हम देखते है कि **ताम्रो + अरुण; अरुण + उत** मे संधि न होने देनेके लिए बीचमे क्षणिक विराम पाया जाता है, जिसके लिए हमने ऊपरके उच्चारणमे ? चिह्नका प्रयोग किया है। वैदिक संस्कृतमे ए तथा **ओ** से परे **अ** के होनेपर **अ** का लोप नही होता। लौकिक संस्कृतमे यह लुप्त हो जाता है. तथा वैदिक **ताम्रो अरुण** लौकिक संस्कृतमे **ताम्रोऽरुण** हो जायगा। द्रुतगतिसे उच्चारण करनेपर **अरुण उत** का उच्चारण ***अरुणोत** हो जायगा, इसे बचानेके लिए ही यह विराम पाया जाता है। विसर्गका लोप होनेपर या ए, **ओ** का लोप होनेपर भी यह क्षणिक विराम लौकिक संस्कृतके उच्चारणमे भी पाया जाता है। हम एक उदाहरण ले लें—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः", यहाँ रम्याः + इति तथा विविक्ताः + इति में विसर्गका लोप हो गया है, तथा उच्चारण करते समय पाठक 'रम्या' के बाद आधे क्षण-भर ठहर कर 'इ' का उच्चारण करता है। यदि यह विराम न होगा तो वाक्योच्चारणका सन्ध्यात्मक रूप *रम्येति, *विविक्तेति हो जायगा। यह रूप एक ओर व्याकरणात्मक रूपको गड़बड़ा देगा, क्योंकि यहाँ दोनों द्वितीया बहुवचनान्त रूप हैं, दूसरी ओर वर्णिक छन्द भी गड़बडा जायगा, जहाँ चतुरक्षर-समुदाय त्र्यक्षर [trisyllable] तथा पञ्चाक्षर समुदाय चतुरक्षर हो जायगा। इसीको रोकनेके लिए इस 'कण्ठनालिक' विरामका प्रयोग होगा।

एक बार संधि होनेपर पुनः संधि न होने देनेके लिए इस विरामके अतिरिक्त अन्य साधनका भी प्रयोग पाया जाता है। यह है बीचमें य् या व् श्रुतिके पूरकका प्रयोग[1]। इस स्थानपर ये शुद्ध ध्वनि तत्त्व न होकर सन्ध्यात्मक तत्त्व ही होते हैं। संस्कृतके संधिप्रकरणमें हम देखते हैं कि जहाँ अच्संधिमें एक बार पूर्ववर्ती पदके अन्तकी ए, ओ ध्वनिका लोप हो जाता है, वहाँ संहितागत रूप दो तरहके पाये जाते हैं, एक विराम युक्त रूप, दूसरा श्रुतिगत रूप। यथा,

हरे + इह = हर + इह < हर इह [१] / य् / हर इह = हरयिह [२]

विष्णो + इह = विष्ण + इह < विष्ण इह [१] / व् / विष्ण इह = विष्णविह [२]

यहाँ हम स्पष्टतः दो तरहके रूप देखते हैं। य्, व् श्रुतिहीन रूपोंका उच्चारण हर ? इह; विष्ण ? इह करना होगा। द्रुत-उच्चारणमें य्, व् श्रुति का प्रयोग इसलिए होता है कि कहीं *हरेह, *विष्णोह रूप न बन

---

१ देखिए,—मेरा लेख, अन्तःस्थ ध्वनियाँ [शोधपत्रिका २००६]

जायँ, तभी अग्र स्वरके संबंधमें य् तथा पश्च स्वरके संबंधमें व् का प्रयोग करनेपर हरयिह, विष्णविह रूप बनेंगे।

यहाँ इन य्, व् श्रुतियोंपर दो शब्द और कह दिये जायँ। वैसे तो यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि य्, व् का श्रुतिविभाजन परवर्ती ध्वनिके रंग [colour] पर आधृत है, यथा ओष्ठ्य, कण्ठ्य तथा प्रतिवेष्टित ध्वनियोंको गहरी [या गाढ़-रंजित] [dark] तथा तालव्य और दन्त्य ध्वनियोंको हलकी [या ईषद्रंजित] [light] माना जाता है। व् श्रुतिको गाढरंजित [dark] ध्वनियोंसे संबद्ध माना जा सकता है, तथा य् श्रुतिको ईषद्रंजित [light] ध्वनियोंसे। किन्तु यह सिद्धान्त सब जगह ठीक नहीं बैठता। इसके पहले हम यह देख लें कि श्रुति-तत्त्व मोटे तौरपर कहाँ-कहाँ हो सकता है :—[१] जहाँ ए, ओ का लोप हो गया है; यथा ऊपरवाला उदाहरण; [२] जहाँ 'स्' सघोष होकर 'ज़्' हो गया है, तदनन्तर 'ज़' संस्कृत ध्वन्यात्मक तत्त्व न होनेके कारण लुप्त हो गया है, पर संघ्यात्मक भार [prosodic weight] की रक्षाके लिए किसी तत्त्वकी आवश्यकता होती है, जो इस लोपकी कमी पूरी कर सके। हम देखते हैं कि कई स्थलोंपर जहाँ भारत ईरानी वर्गकी विशेषताके कारण 'ज़्' [z] ध्वनि अवेस्तामें पाई जाती है, उसके समानान्तर रूपोंमें संस्कृतमें य्, व् श्रुतियोंमेंसे अन्यतरका प्रयोग पाया जाता है। हम देख चुके हैं कि जहाँ कहीं स्वरके बाद विसर्ग या 'स्' होगा, वहाँ स्वरध्वनि या सघोष व्यञ्जनके परे होनेपर विसर्ग या स् सघोष रूप [ज़्, z] धारण कर लेता है। एकबार और हम उस सूत्रको याद कर लें।

$$-\alpha h + C\ [B] = -\alpha S + C\ [B] = -\alpha ZC\ [B]$$

अब जहाँ कहीं अवेस्तामें स्वरमध्यगत या सघोष ध्वनिमध्यगत स्, ज़् हो जाता है, संस्कृतमें वह लुप्त होकर $-\alpha^{[w]}C[B]$ या $-\alpha^{[y]}C[B]$ रूप बन जाता है। हम कुछ उदाहरण ले लें।

[१] एधि :—संस्कृतमें यह √अस् धातुका रूप है; इसे हम अस्+धि कहेंगे। अवेस्तामें इसका समानान्तर रूप ज़्दि [zdi] पाया जाता

है जिसका विकास प्रा० अवेस्ता रूप *अज़् + धि से मान सकते हैं। संस्कृतमें यह सरणि यों होगी, अस् + धि = *अज़् + धि = अ[O] + धि = अ इ [य्] धि = एधि। इस तरह हम देखते हैं स् पहले ज़् होता है, फिर उसका लोप हो जाता है, जहाँ हमने शून्य-व्यञ्जन [O] का संकेत किया है। तदनन्तर 'य्' श्रुतिका स्वर रूप 'इ' उच्चरित होता है और बादमे अ + इ मे संधि होकर ए हो जाता है। भाषावैज्ञानिकके मतमे एधि का रूप इस तरह निष्पन्न माना जा सकता है।

[२] सेदुः :—संस्कृतमे यह √सद् धातुके लिट् के प्र० पु० बहुवचनका रूप है। यहाँ √सद् धातुके दुर्बलरूप या शून्य रूप [zero grade] में सद् [sd] होगा। इस तरह सेदुः रूपकी निष्पत्ति यो होगी—

सद् [√सद्] + उः = स + स्द् + उः = *स + ज़् द् + उः = स + [O] द् + उः = स + य् द् + उः = स इ दुः = सेदुः हम देखते है √सद् के दुर्बल रूपमे उ : का लिट् विभक्ति चिह्न लगाकर यह रूप निष्पन्न होता है। दूसरे रूपमे लिट्के कारण 'स' का द्वित्व होता है, जो प्र० पु० ए० व० ससाद मे स्पष्ट है। तदनन्तर स्, ज़् बनकर लुप्त होता है, तथा उसकी कमी य् श्रुतिके द्वारा पूरी की जाती है।

[३] नेदिष्ट :—इसी तरह नेदिष्ट की व्युत्पत्ति भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे √न – सद् + ष्ट यों मानी जा सकती है। यहाँ भी 'सद्' वाली अघोष सोष्म ध्वनि सघोष सोष्म बनकर लुप्त होती है, तथा श्रुतिके प्रयोगसे नेदिष्ट रूप निष्पन्न होता है।

[४] यशोभिः—यहाँ व् श्रुतिवाला उदाहरण देना भी आवश्यक है। यशस् शब्दसे भिः सुप् विभक्ति चिह्न जोड़कर यशोभिः रूप निष्पन्न होता है। इस रूपको हम यों स्पष्ट कर सकते हैं।

यशस् + भिः = *यशज़् + भिः = यश [O] + भिः = यश व् + भिः = यश उ भिः = यशोभिः।

जिस तरह ऊपरके उदाहरणोंमें य् श्रुति इ बनकर सन्धिगत रूपोंमें ए पाई जाती है, वैसे यहाँ व् श्रुति उ बनकर सन्धिगत रूपोंमें ओ पाई जाती है। **सोऽहम्** [सः + अहम्] वाली ओ ध्वनिकी भी ऐसी ही कहानी है, जो वस्तुतः **सस्** [सः] + **अहम्** = **सज़्** + **अहम्** = **स व्** + **अहम्** = **स उ अहम्** = **सोऽहम्** है। इसमें भेद यही है कि यहाँ परवर्ती अ का लोप हो जाता है, जो लौकिक संस्कृतमे प्रायः 'अवग्रह' [ऽ] से सूचित किया जाता है।

वैसे ध्यानसे देखनेपर पता चलता है कि कोई-कोई भाषामें किसी विशेष श्रुतिके प्रति विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। लौकिक संस्कृतमें य् श्रुतिकी अपेक्षा व् श्रुतिका सन्ध्यात्मक रूप ओ अधिक देखा जाता है। शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीने इसी परम्पराको अपनाया है, वैसे वहाँ य् श्रुतिका अभाव नहीं है, तथा अपभ्रंशमें तो य् श्रुतिका स्वरमध्यगत प्रयोग परिनिष्ठित [standardised] हो गया है। मागधीमें य् श्रुतिके प्रति अभिनिवेश है। संस्कृत विसर्गके स्थानपर जहाँ शौरसेनी-महाराष्ट्री व् [उ] श्रुतिके ओ वाले रूपको अपनाती है, मागधी य् [इ] श्रुतिके ए वाले रूपको। हम अकारान्त शब्दके प्र० बहुवचनके रूप ले लें। **संस्कृत देवाः** के समानान्तर रूप **शौ० देवाओ** तथा **मागधी देवे** है।

श्रुतियोंका यह विचार केवल विसर्गके सम्बन्धमें किया गया है, अतः यहाँ प्राकृत तथा अपभ्रंश वाली पदमध्यगत श्रुतिका विवेचन करना अनावश्यक समझा गया है। हिन्दीकी पदमध्यगत श्रुति सम्बन्धी विशेषतापर कुछ प्रकाश हमने अन्यत्र डाला है।[1]

संस्कृत भाषामें स्वर [accent] :—

किसी भी भाषाके पदोंको अक्षरों [syllable] में विभक्त किया जा सकता है। ये पद एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर हो सकते हैं। अक्षर-संघटनाका यह विश्लेषण हम असमस्त [व्यस्त] पदोंके विषयमें करते हैं।

१. देखिए मेरा लेख : अन्तःस्थ ध्वनियाँ [शोधपत्रिका, २००६]

लौकिक संस्कृतमें समासांत पदोंमें तो बीसियों अक्षर पाये जाते हैं, जैसे कादम्बरीके समासान्त पदोंमें। पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे उनका महत्त्व नहीं, न वहाँ भाषाकी नैसर्गिकता ही है। अक्षरमें स्वर प्रमुख है, वह अक्षरका मेरुदण्ड है, अतः अक्षर, कोरा स्वर; स्वर तथा व्यञ्जन; व्यञ्जन [एक या दो] तथा स्वर, तथा व्यञ्जन [एक या दो] स्वर तथा व्यञ्जन [एक या दो]; इस तरह कई तरहका हो सकता है। यदि हम स्वरके लिए V तथा व्यंजनके लिए C चिह्नका प्रयोग करें, तो अक्षरके प्रकारोंको हम यों बता सकते हैं:—[१] V, [२] VC, [३] C [c] V, [४] C [c] VC [c].। इनके उदाहरण क्रमशः उ, आम्, सा [स्वा]; पाद् [स्पश्, स्पन्द] दिये जा सकते हैं। यह स्वर ध्वनि कभी ह्रस्व हो सकती है, कभी दीर्घ।

अक्षर ही वह तत्त्व है जिसके उच्चारणमें दो तरहकी स्वर-प्रकृति[1] पाई जाती है:—एक स्वरका आरोह [rising tone], दूसरा स्वरका अवरोह [falling tone]। इन्हींकी मिश्रित स्थिति वह होती है जहाँ उच्चारणकर्ता उच्च स्वर-स्थितिसे एकदम नीचेकी ओर उतरता है, जहाँ आरोहसे एकदम अवरोहकी ओर आता है, इसे ही ध्वनिशास्त्री "rising-falling tone" कहते हैं। हमारे यहाँ ये ही क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित कहलाते हैं। जैसा कि प्रातिशाख्योंमें बताया गया है:—

[१] उदात्त स्वरसम्पन्न अक्षरके उच्चारणमें गात्रोंकी शक्तिका आरोह [ऊर्ध्वगमन] होता है:—

[उच्चैरुदात्तः १।१०९]; आयामेनोर्ध्वगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते स उदात्तसंज्ञो भवति][2]

१. यहाँ 'स्वर' शब्दका अर्थ स्वरध्वनि न होकर गलेकी आवाजके उतार या चढ़ावसे है।

२. शुक्लयजुः प्रातिशाख्य [कात्यायन] १. १०९ तथा उस॰ ; उव्वट कृत भाष्य पृ॰ २३.

[२] अनुदात्त स्वरवाले अक्षरके उच्चारणमें गात्रोंकी शक्तिका मार्दव [अधोगमन] पाया जाता है ।

[नीचैरनुदात्तः १।१०९]; नीचं मार्दवेणाधोगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति][1].

[३] जहाँ एक बार उदात्त स्वरके कारण गात्रोंका आयाम [आरोह] हो, तदनन्तर अनुदात्तस्वरके कारण गात्रोंका मार्दव [अवरोह] हो, वहाँ दोनों तरहके प्रयत्नोंसे मिश्रित स्वर स्वरित कहलाता है ।

[उभयवान्स्वरितः । १।११०; उदात्तस्योर्ध्वगमनं गात्राणां प्रयत्न अनुदात्तस्याधोगमनं गात्राणां प्रयत्न ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां समाहारीभूताभ्यां स स्वरितसंज्ञो भवति][2]

[उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम् ।][3].

[४] स्वरितके बादके अनुदात्त स्वरोंको, जहाँ एक साथ गात्रोंका मार्दव पाया जाता है, अलगसे पारिभाषिक संज्ञा दी गई है । वे 'प्रचय' या 'एकश्रुति' कहलाते हैं ।

[स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः ॥][4]

उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितकी इस उच्चारण स्थितिको शौनकने ऋक्प्रातिशाख्यमें क्रमशः आयाम, विश्रम्भ तथा आक्षेप कहा है :—

[उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः । आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रयाः ॥][5].

१ वही तथा उसपर उव्वट कृत भाष्य १. १०९, पृ. २३ ।

२ वही, १. ११०. पृ. २३. ।

३ शौनकीय ऋक् प्रातिशाख्य, तृतीय पटल; ४ ।

४ शौ० ऋ० प्रा०, तृतीय पटल, ११ ।

५ वही, तृ० प० १ ।

एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षरके स्वर-विभाजनका क्रम अलग-अलग तरह का देखा जाता है। साथ ही इनका उच्चारण पदरूपमें अन्य होता है, संहिता रूपमें अन्य। इस बातको आजके ध्वनिवैज्ञानिकोंने पद-स्वर [word-intonation] तथा संहितास्वर [sentence intonation] के भेद को स्पष्ट कर स्वीकृत किया है। जहाँ तक एकाक्षरके स्वरका प्रश्न है, पद रूपमें उसका स्वर उदात्त भी माना जा सकता है, अनुदात्त भी, पर अधिकतर उसे अनुदात्त ही माना जाता है। वाक्यमे उसका स्वर बदल भी सकता है। वैसे वैदिक संस्कृतमे कई एकाक्षर [monosyllable] स्वर स्वतः उदात्त होते हैं, कई अनुदात्त। अन्य पदोंमे [द्व्यक्षरादि पदोंमे] प्रायः पूरे पदमे एक ही उदात्त स्वर पाया जाता है, बाकी स्वर अनुदात्त [और स्वरित] ही होंगे। एक ही प्रकारकी ध्वन्यात्मक [phonatic] या अक्षरात्मक [syllabic] संघटना [sequence] मे स्वर-भेदसे अर्थ-भेद हो सकता है। संस्कृतमे भी स्वर-भेदसे एक ही ध्वन्यात्मक संघटना [phonematic sequence] वाले पदोंका अर्थ-भेद देखा जाता है। यह अर्थ-भेद समासमे बहुत काम करता देखा जाता है, जहाँ मुख्य कारण स्वर-भेद [difference of accent] ही होता है। हम एक प्रसिद्ध उदाहरण को ले-लें—**इन्द्रशत्रुः**। जहाँ तक इस समस्त पदमे पदद्वयके व्यस्तरूपका प्रश्न है, हम उसपर विचार न कर इस समस्त पदके चतुरक्षर रूपपर ही विचार करेंगे। जैसा कि हम संकेत कर चुके है प्रायः प्रत्येक पदमे एक ही उदात्त स्वर हो सकता है [वैसे इस नियमके कुछ अपवाद भी हैं, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे], इस पदमे भी एक ही अक्षर उदात्त-स्वर सम्पन्न हो सकता है। व्यस्त पदोको लेनेपर हम देखेंगे कि **इन्द्र** तथा **शत्रुः** दोनों पदोंका प्रथमाक्षर उदात्त है, किन्तु समस्त पदमे यह उदात्त स्वर या तो पूर्व पदमे ही रह सकता है, या उत्तर पदमे ही। अब हमे यही देखना है कि **इन्द्रशत्रुः** में उदात्त स्वर किस अंशमे होगा। द्व्यक्षरों [disyllables] में उदात्तस्वर प्रायः प्रथमाक्षर [fir syllable]

पर पाया जाता है, किन्तु पदोके समस्त होनेपर कर्मधारय तथा तत्पुरुष समासमें उदात्त स्वर अंतिम अक्षर [final syllable] पर पाया जाता है; क्योंकि ध्यान दीजिटे कर्मधारय तथा तत्पुरुष समासमे उत्तर पद प्रधान होता है। जब कि बहुव्रोहिमे यह उदात्त स्वर प्रथम अक्षरपर ही बना रहता है, क्योंकि यहाँ अन्य पदार्थकी प्रधानता होती है। यदि स्वरके आरोह या आयाम-मार्दवको व्यक्त करनेके लिए हम आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंकी प्रणालीका आश्रय लें तो उसे यो व्यक्त करेंगे:—

[१] इन्द्रशत्रुः [बहुव्रीहि][1] .— — — —

[२] इन्द्रशत्रुः [तत्पुरुष][2] .— — — —

इस संबंधमे आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंका मत है कि उच्चतम स्वर [उदात्त] पदमे एक ही होता है, पर बाकी अनुदात्त स्वर सभी एक कोटिके नहीं होते तथा उनके स्वरमे भी सूक्ष्म भेद होता है, मोटे तौरपर वे सभी अनुदात्त कहलाते हैं।

प्रा० भा० यू० मे स्वरका महत्त्वपूर्ण स्थान था। वैदिक संस्कृतने प्रा० भा० यू० स्वरकी पूर्ण रक्षा की है। शुद्ध उच्चारणकी रक्षाकी इच्छासे भारतीय मनीषियोने उदात्त तथा अनुदात्त स्वरोका संकेत करनेके लिए चिह्न बनाये, साथ ही पद व संहिता गत स्वर-परिवर्तनका विवेचन किया। भारतकी भाँति ग्रीसमे भी ग्रीक भाषाके शुद्ध उच्चारणकी रक्षाके लिए हेलेनिक समयसे ही स्वरचिह्नोका प्रयोग आरम्भ हो गया था, जो अलेग्ज़ेड्रियन वैयाकरणोके हाथो परिष्कृत हुआ। प्राचीन ग्रीकमे तीन प्रकारके स्वर-चिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है—', `, ^ जो क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितके प्रतीक हैं। ग्रीकमे प्रायः अनुदात्त स्वरके अक्षरोको अचिह्नित

---

१. इन्द्रः शत्रुर्यस्य सः [जिसका शत्रु इन्द्र है]—बहुव्रीहि।

२. इन्द्रस्य शत्रुः [इन्द्रका शत्रु]—तत्पुरुष।

छोड़ दिया जाता था। वैदिक संस्कृतमें ठीक उलटी प्रणाली है कि यहाँ उदात्तको अचिह्नित छोड़ दिया जाता है। वैदिक संस्कृतमें तत्तत् वेदमें भिन्न-भिन्न प्रकारके चिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है। वेदोंमें ही नहीं, शाखाओं-तकमें यह भेद पाया जाता है। किन्तु ऋग्वेदकी प्रणाली प्रायः अन्य वेदोंमें भी आदृत हो गई है। अथर्ववेद, वाजसनेयी [यजुष्] संहिता, तैत्तरीय [यजुष्] संहिता, तथा तैत्तरीय ब्राह्मण स्वरसंकेतोंमें ऋग्वेदसे ही प्रभावित हैं। जहाँ तक सामवेदके स्वरचिह्नोंका प्रश्न है, वे गानसे संबद्ध होनेके कारण भिन्न प्रकारके हैं, उनमें स्वरके आरोहावरोहकी तारतमिक मात्राके नियामक संकेत १, २, ३, ४ भी पाये जाते हैं। यहाँ तो हमें ऋग्वेदके स्वर चिह्नोंका संकेत भर देना है। ऋग्वेदीय प्रणालीके अनुसार अनुदात्त स्वरको व्यक्त करनेके लिए अक्षरके नीचे पड़ी लकीर [–] का प्रयोग किया जाता है, किन्तु उदात्त स्वरवाले अक्षरपर कोई चिह्न नहीं होता। स्वरित स्वरवाले अक्षरके ऊपर खड़ी लकीर [।] अंकित की जाती है। उदाहरणके लिए हम त्र्यक्षर पद 'अग्निना' को ले लें। यहाँ प्रथम अक्षर 'अ' अनुदात्त है, अतः नीचे पड़ी लकीरसे चिह्नित किया गया है, द्वितीय अक्षर 'ग्नि' उदात्त है, अतः अचिह्नित छोड़ दिया गया है, तृतीय अक्षर ना पुनः अनुदात्त है, तथा उदात्तके बाद आनेके कारण स्वरित हो गया है, अतः ऊपर खड़ी लकीरसे चिह्नित किया गया है। इस प्रसंगमे हमारा प्रमुख लक्ष्य वैदिक संस्कृतके स्वरका विवेचन है, उसके चिह्नका विवेचन नहीं, अतः मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता आदिके चिह्नगत वैविध्यपर हम प्रकाश नहीं डालेंगे। यहाँ हम वैदिक स्वर-प्रक्रियाकी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ५-६ विशेष-ताओंका ही संकेत करेंगे। साथ ही हम वेदोंकी अलग-अलग शाखाओंके स्वर गत वैमत्यपर ध्यान न देंगे, क्योंकि यह विषय अलगसे गवेषणाका तथा स्वतन्त्र प्रबन्धका विषय हो सकता है।

प्रा० भा० यू० की स्वरप्रक्रियाका अध्ययन भी तुलनात्मक भाषा-शास्त्रका एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ग्रिम नियमके कई अपवादोंका स्पष्टी-

करण इसी प्रा० भा० यू० स्वरप्रक्रियाके आधारपर हो सका है। वर्नरने ग्रिम नियमके उपनियमकी अवतारणा करते हुए, जो भाषाशास्त्रमें वर्नरके उपनियम [Verner's Corollary] के नामसे प्रसिद्ध है, यह स्थापना की थी कि ग्रिमका नियम वहाँ लागू होता है, जहाँ मूलतः क्लैसिकल भाषाओंमे उदात्तस्वर सम्पन्न अक्षर [accented syllable] था तथा स्पर्श ध्वनि पदादिमें थी, ऐसा होनेपर क्लैसिकल [संस्कृत, लैतिन, ग्रीक] सघोष अल्प-प्राण, लो जर्मनमें महाप्राण [अथवा सोष्म ख, थ, फ़], तथा हाईजर्मनमे अघोष अल्पप्राण हो जाते हैं, इसी तरह क्लैसिकल अघोष अल्पप्राण, लो जर्मनमें सघोष अल्पप्राण, तथा हाईजर्मनमें महाप्राण [अथवा सोष्म ख, थ, फ] हो जाते है, तथा क्लैसिकल महाप्राण लो जर्मनमें अघोष अल्पप्राण तथा हाई जर्मनमें सघोष अल्पप्राण हो जाते हैं। वर्नरने बताया था कि कई स्थलोंमें ग्रिमका उक्त नियम पूरी तरह इसलिए लागू नहीं हो पाता कि वहाँ स्पर्श ध्वनि पदादिमें नहीं होती साथ ही वह अनुदात्त स्वरसम्पन्न अक्षर [unaccented syllable] मे होती है।

प्रा० भा० यू० की स्वरप्रक्रियाको जाननेके लिए संस्कृत जितनी सहा-यक सिद्ध हो सकती है, उतनी ग्रीक तथा लैतिन नही। ग्रीक तथा लैतिनमे स्वरके उदात्तत्वका नियामक तत्त्व प्रायः शब्दकी अक्षर संख्या होती है। ग्रीककी स्वरप्रक्रिया त्र्यक्षर-नियम [the law of three syllables] के द्वारा अनुबद्ध है। इसके अनुसार ग्रीकमें पदान्तसे पूर्वके तीसरे अक्षरसे अधिक पीछे उदात्त स्वरका प्रयोग नहीं होता। वैसे इसके कतिपय अपवाद भी देखे जाते है। लैतिनमें भी किसी हदतक त्र्यक्षर-नियमकी पाबन्दी की जाती है तथा कहीं भी उदात्त स्वर पदान्तसे पूर्वके तीसरे अक्षरसे अधिक पीछे नहीं पाया जाता, किन्तु फिर भी लैतिनकी स्वरप्रक्रिया ग्रीककी स्वरप्रक्रियासे भिन्न है। लैतिनमे उपधा अक्षरकी मात्रा स्वरका नियमन करती है, जब कि ग्रीकमें पदांत अक्षरकी मात्रा स्वरका नियमन करती है। संस्कृतमें इस तरहका कोई निश्चित नियम नहीं है. इसलिए भाषावैज्ञानिकोंने संस्कृत स्वरप्रक्रिया-

को 'स्वतन्त्र' [free] माना है। यहाँ ग्रीक या लैतिनकी तरह उदात्त स्वर किसी सीमामे संकुचित नहीं है, वह कहीं भी, किसी भी अक्षरमे हो सकता है। साथ ही ग्रीक या लैतिनकी तरह संस्कृत स्वरप्रक्रियाका नियामक तत्त्व न तो पदात अक्षरकी मात्रा [जैसा कि ग्रीकमे है] है, न उपधा अक्षरकी मात्रा ही [जैसा कि लैतिनमे है] किन्तु संस्कृत स्वरप्रक्रिया पदकी व्युत्पत्ति [उसमे प्रयुक्त प्रत्यय, विभक्ति आदि] तथा उसके वाक्यगत [संहितागत] प्रयोगपर निर्भर करती है।

[१] संस्कृतमे प्रायः प्रत्येक पदमे केवल एक ही उदात्त स्वर पाया जाता है। ठीक यही बात ग्रीकमे पाई जाती है। सं० ततः, ग्रीक ततोस् [tato's] सं० जानु, ग्रीक गोनु [go'nu]। पर कुछ ऐसे भी पद हैं, जिनमें वेदमे प्रमुख स्वर स्वरित पाया जाता है। किन्तु यह रूप प्रायः 'य' 'व' वाले संयुक्ताक्षरमे पाया जाता है, जो वस्तुतः 'इ' 'उ' के ही सन्ध्यात्मक [prosodic] रूप हैं। उदाहरणके लिए हम रथ्यम्, तन्वम् इन दो पदोंको ले लें। यहाँ यह विशेषता पाई जाती है कि अनुदात्तके एकदम बादमे स्वरित आ गया है, जो सदा उदात्तके बाद होता है। यह विशेषता इस बातका संकेत करती है कि इन द्व्यक्षर [disyllabic] पदोंका उच्चारण त्र्यक्षर [trisyllabic] होता था, तथा वहाँ द्वितीय अक्षर उदात्त स्वर युक्त था। वस्तुतः इनका उच्चारण रथियम्, तनुवम् होता है। विद्वानोंको पता है कि गायत्री मन्त्रके 'वरेण्यं' पदका उच्चारण भी

१. सुविधाकी दृष्टिसे ग्रीक शब्दोंके देवनागरी लिपीकरणमें मैंने वैदिक स्वर चिह्नोंका ही प्रयोग किया है।

'वरेणियं' होता है, तथा ऐसा करनेपर ही **तत्सवितुर्वरेण्यं** इस पदमें आठ अक्षर पूरे होते हैं।[1]

[२] समासान्त पदोंमें प्रायः एक ही उदात्त स्वर होता है, किन्तु उन द्वन्द्व समासोंमें जहाँ दोनों पदांश द्विवचनमें हैं, तथा उस तत्पुरुषमें, जहाँ पूर्वपद षष्ठ्यन्त है, दोनों पदांशोंमें उदात्त स्वर पाया जाता है; यथा **मित्रा-वरुणा, बृहस्पतिः**।[2]

[३] कुछ पद ऐसे भी हैं, जिसमे सभी अक्षर अनुदात्त होते हैं, तथा उदात्त स्वरका अभाव होता है। इनमें प्रमुख वे क्रिया पद हैं, जो वाक्यकी समापिका क्रियाएँ होते हैं।[3] यथा, **अग्निमीळे पुरोहितम्** में, जहाँ **'ईळे'** में कोई उदात्त स्वर नहीं है। यदि सम्बोधन वाला रूप वाक्य या पादके आदिमें नहीं होता, तो यह भी उदात्तस्वररहित [enclitic] होता है। सम्बोधनकी ऐसी ही विशेषता ग्रीकमें भी पाई जाती है[4]।

[४] समस्त पदोंमे प्रायः कर्मधारय तथा तत्पुरुषमें उदात्त अन्तिम अक्षरपर होता है, बहुव्रीहिमे प्रथमाक्षरपर; जैसे **राजपुत्रः** [तत्पुरुष], **राजपुत्रः** [बहुव्रीहि]।[5]

[५] संधिमें यदि प्रथम द्वितीय दोनों अक्षरोंमेसे कोई भी या दोनों उदात्त होते हैं, तो संधिज अक्षर उदात्त होता है। इस तथ्यका संकेत महाकवि कालिदासने भी इस उपमाके द्वारा किया था—**निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः**

१. गायत्री वर्णित वृत्त है तथा उसके प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर [वर्ण] होते हैं।

2. Macdonell : Vedic Grammar p. 452, rule 7.

3. Ibid. p. 454–5.

4. Atkinson : Greek Language p. 57.

5. Macdonell : Vedic Grammar p. 457-8.

स्वरानिव। उदाहरण, सुवस्वाथ [सुवस्व + अथ], नान्तरः [न + अन्तरः]।

[६] वाक्यमें अर्थात् संहितापाठमें भी ये स्वर एक दूसरेको प्रभावित करते हैं। उदात्तके बाद आनेवाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है, तथा वह खड़ी लकीरसे चिह्नित होता है, उसके बाद आनेवाले अनुदात्त एकश्रुति या प्रचय कहलाते हैं, और तब तक अचिह्नित छोड़ दिये जाते हैं, जब तक कोई उदात्त स्वर नहीं आता, किन्तु ज्यों ही कोई उदात्त स्वर आया उससे पूर्ववर्त्ती अक्षरको अनुदात्तके चिह्नसे चिह्नित कर दिया जाता है, यह इस बातका द्योतक है कि उच्चारण कर्ताको अपना स्वर ऊंचा करना है, इसी तरह स्वरित इस बातका चिह्न है कि उसे स्वर नीचा करना है। इस संबंधमें हम संहिता-पाठका एक उदाहरण ले लें—

१ येना सूर्यं ज्योतिषा बाधसे तमो

२. जगच्च विश्व मुदियर्षि भानुना ॥

१. – – – –
– – – – – – – – –

२. – – – –
– – – – – – – – –

किन्तु ये ही पद व्यस्त होनेपर पदपाठमें यों हो जायेंगे :—

येना। सूर्यं। ज्योतिषा। बाधसे। तमो।

जगत्। च। विश्वं। उत् इयर्षि। भानुना ॥

लौकिक संस्कृतमें आकर स्वर चिह्नका प्रयोग नहीं पाया जाता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वहां स्वर नहीं पाया जाता। वस्तुतः वहाँ

इन नियमोंकी पाबन्दी ढीली हो गई और आज इस सम्बन्धमें लौकिक संस्कृतमे कोई नियम नही है। वैसे पाणिनिने अपनी व्याकरणमे इसको ध्यानमे रखकर सूत्र बनाये है, पर स्वरोंकी अत्यधिक महत्ताको उन्होंने भी वैदिकी प्रक्रियामे ही माना था, ऐसा संकेत मिल सकता है। सम्भवतः इसीलिए भट्टोजिदीक्षितने सिद्धान्तकौमुदीमे स्वरवैदिकी प्रक्रियाका विचार विशेषतः वैदिक प्रयोगोके सम्बन्धमे ही किया है।

०

संस्कृत पद-रचना

[संज्ञा, विशेषण एवं सर्वनाम]

संस्कृतके पद[1] प्रा० भा० यू० पदोकी भाँति उन समस्त चिह्नोके द्योतक है, जिन्हे हम तीन भागोमे विभक्त कर सकते है। इनमेसे प्रथम अंश मुख्य भावका द्योतक है, जिसे हम मूल रूप [धातु या शब्द] कह सकते है। अन्य दो अंश प्रत्यय तथा विभक्ति-चिह्न है। इन चिह्नोमे कई प्रकारकी तात्त्विक प्रक्रियाएँ पाई जा सकती है, तथा प्रमुख रूपमे स्वर-परिवर्तन भी पाया जाता है। इनमे प्रत्ययका अस्तित्व हो सकता है, उसका अभाव भी हो सकता है। इन परिवर्तनोमेसे कतिपय मुख्य परिवर्तन ये है —

[१] अनुनासिकका नतिभाव[2] [retroflexion], यथा **यान**, किन्तु **प्रयाण**।

[२] स्पर्शध्वनियोका संयोजन, यथा, **ददाति**, **दत्त**, **देहि**, **विशः**, **विड्भिः**, **विक्षु**।

[३] प्राचीन भारत यूरोपीय कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोका संस्कृत पदरचनामे दो प्रकारका ध्वन्यात्मक विकास, यथा, **हन्ति**, **जिघ्नते**, **घनः**; **भजति**, **भागः**।

[४] प्रा० भा० यू० तालव्य 'क्य्' का संस्कृतमे आकर दो प्रकारका विकास, इस सम्बन्धमे संस्कृतके **कः**, **कस्य**, **किम्** जैसे रूप भारत-ईरानी वर्गमे **चित्** की अपेक्षा अधिक नवीन है। इस परिवर्तनका एक पद-रचनात्मक महत्त्व भी है, तथा यह परिवर्तन स्वर ध्वनिके आधारपर पाया जाता था।[3]

---

१. **सुब्-तिङन्तं पदम्**।

२. **दन्त्यस्य मूर्धन्यापत्तिर्नतिः**। [**शुक्लयजुःप्रातिशाख्य** १.४२]।

३. Bloch : L'Indo Aryen. P. 99.

भारतके प्राचीन निरुक्तकार यास्कने वैदिक शब्द "शेव" को "शिष्यते" से गृहीत [व्युत्पन्न] माना है। इस व्युत्पत्तिमें उन्होंने 'व' को एक प्रत्यय माना है, जो ष् के स्थानपर प्रयुक्त हुआ है। इसी उदाहरणमें दूसरी विशेषता मूलरूप शिष् के स्वरका गुणीभाव है। इस प्रकार शे तथा शि दोनों एक ही मूल [धातु] से जनित दो रूप हैं। अन्य स्थानोंपर उन्होंने स्वरध्वनिके लोपका भी उल्लेख किया है, जो सं० प्रत्तः[1] [√दा], सतः [√अस्], जग्मुः [√गम्] में स्पष्ट है। इसी प्रकार यास्कने गतम् [√गम्], राजा [राजन्] में व्यञ्जन ध्वनिके लोपका उल्लेख किया है। संस्कृत पृथुः तथा ऊतिः को उन्होंने √प्रथ् तथा √अव् से व्युत्पन्न माना है, जहाँ मूल स्वरध्वनि परिवर्तित हो गई है।[2] स्वर-ध्वनिके इस प्रकारके परिवर्तन प्रा० भा० यू० में भी पाये जाते हैं, जो हम 'अपश्रुति' के अन्तर्गत देख चुके हैं। भारतीय वैयाकरण इन स्वर-परिवर्तनोंको गुण

---

१. डुदाञ् दाने क्तः। अच उपसर्गात्त इति तादेशः—शब्दार्थचिन्तामणिः, भाग ३ पृ० २४२।

२. यास्क तथा बादके वैयाकरणोंने ५ प्रकारके निरुक्त माने हैं। इनमें प्रथम चार प्रकारके निरुक्तोंमें ध्वनिपरिवर्तन आते हैं। ये हैं:—वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार तथा वर्णनाश। वर्णागमका उदाहरण 'सुन्दर' दिया जा सकता है, जो सुनरसे बना है। यहाँ "द्" ध्वनिका आगम हो गया है। वर्णविपर्ययका 'सिंह' [हिनस्तीति सिंहः] है। वर्णविकार जैसे √भज् से भागः या षट् + दशसे षोडश; तथा वर्णनाश जैसे प्रत्तः, जग्मुः, गतम् आदिमें या पृषत् + उदरसे बने रूप पृषोदरमें।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥
वर्णागमो गवेन्द्रादौ सिंहे वर्णविपर्ययः।
षोडशादौ विकारः स्यात् वर्णनाशः पृषोदरे॥

तथा वृद्धि कहते हैं। हमें ऐसा पता चलता है कि प्रा० भा० यू० में मूलरूपों [धातु तथा शब्दों] में एक निश्चित व्यञ्जनसंघटना [consonantal sequence] तथा परिवर्तनशील स्वर [प्रायः एक ही परिवर्तनशील स्वर] पाये जाते होंगे। प्रा० भा० यू० में हम इनके ऐ, औ; ए, ओ अथवा "शून्य रूप [स्वराभाव,zero-vowel] को देख सकते हैं। भारत-ईरानी वर्गमें ये अ-आ के साथ सम्मिलित हो गये हैं, और इस प्रकार यहाँकी ध्वन्यात्मक प्रक्रियामें केवल एक ही प्रकारके मात्रिक परिवर्तनकी उपलब्धि होती है, जो अ—रूप, आ—रूप तथा शून्यरूप हैं, जिन्हे हम क्रमशः अर्—,आरः; ॠ—में देख सकते हैं। इसी संबंधमें यह भी जान लें कि र्, य्, व् के स्वरीभूत रूप ऋ, इ, उ की भाँति अनुनासिक न् म् वाले रूपोंमें भी यह अपश्रुत्यात्मक प्रवृत्ति पाई जाती थी। यदि हम भारतीय वैयाकरणोंकी पारिभाषिक शब्दावलीका प्रयोग करें, तो हम कह सकते हैं कि न् तथा म् वाले गुण रूप [भाषाशास्त्रीके मूल रूप], वृद्धिमें आन्, आम् तथा मूलरूप में [भाषाशास्त्रीके शून्य रूपमें] अ पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए, गम् तथा मन् धातुरूपोंमें वृद्धिरूप [भाषाशास्त्रीका दीर्घरूप] पाया जाता है। इसीके 'ग्म' [जग्मुः;]; 'म्न' [मम्नाते] रूपोंमें गुणरूप [भाषाशास्त्रीका मूल रूप], तथा गतः, मतः में मूल रूप [भाषाशास्त्रीका शून्यरूप] पाया जाता है। संस्कृतके इ, उ वाले मूल रूपोंके गुण रूपोंमें तथा वृद्धि रूपोंमें क्रमशः ए तथा ओ; एवं ऐ तथा औ ठीक वही कार्य करते हैं, जो संस्कृतके ऋ [र्] वाले मूल रूपोंमें अर् तथा आर् करते हैं।

इन सब प्रकारके रूपोंके विवेचनसे हमारा तात्पर्य यह है कि प्रा० भा० यू० शब्दोंकी भाँति संस्कृतके समान पदोंमें हम एक धातु [मूल, root] मान सकते हैं। यह धातु अथवा मूल रूप ही संस्कृतकी पदरचनाका मेरुदण्ड या "न्यूक्लियस" [nucleus] है। इसके पहले कि हम संस्कृतके इन मूलरूपोंपर दृष्टिपात करें, हमें प्रा० भा० यू० मूलरूपोंकी कुछ विशेषताओं-पर दृष्टिपात कर लेना होगा—

[१] प्रा० भा० यू० मूलरूपोंमें आरम्भ तथा अन्तमें सघोष महाप्राण ध्वनि पाई जा सकती है, किन्तु सघोष अल्पप्राण नहीं, इस प्रकार वहाँ *भेवृध् [*bhewdh] [सं० बुध्] जैसे रूपोंकी स्थिति मानी जा सकती है,* *बेवृद् [*bewd] जैसे रूपोंकी नहीं।

[२] जिन प्रा० भा० यू० मूल रूपोंकी प्रथम ध्वनि सघोष महाप्राण है, उनके अन्तमें अघोष ध्वनि नहीं पाई जा सकती। इस प्रकार *भेवृध् जैसे रूप हो सकते हैं, किन्तु *भेवृत् [*bhewt] जैसे रूप नहीं।

[३] प्रा० भा० यू० मूल रूपोंमें एक साथ ऐसी दो अन्तःस्थ ध्वनियाँ नहीं पाई जा सकतीं, जो व्यञ्जनका कार्य कर रही हों। अतः वहाँ *तेवृल्, *तेयृर्प्, *मोयृन् जैसे मूल रूप नहीं पाये जा सकते।

अब इन मूलरूपोंकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि संस्कृत वैयाकरणों-ने इन्हें धातुरूप [क्रियात्मक] माना है। किन्तु, जैसा कि हम देखते हैं, कई मूल रूप ऐसे हैं, जिन्हें हम धातुरूप नहीं मान सकते। उदाहरणके लिए 'पद्–' तथा 'मह्–' को ले सकते हैं। संस्कृत वैयाकरणोंने किसी धातुके कोई-न-कोई प्रत्यय जोड़कर सभी शब्दोंकी व्युत्पत्ति सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। उनके उणादि प्रत्यय इस चेष्टाके प्रमाण हैं। किन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टि-से हम इस तथ्यको अस्वीकार नहीं कर सकते कि प्रा० भा० यू० भाषाके कालमें उसके बोलनेवालोंमें संज्ञा, क्रिया तथा विशेषण जैसी व्याकरणात्मक भावनाका उदय नहीं हुआ था तथा उनके लिए इनका परस्पर भेद उतना स्पष्ट नहीं था, जितना कि सभ्यताके विकास तथा वृद्धिके कारण उनके बादके वंशजोंके लिए। इस प्रकारके तथ्यका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इस प्रकारके समस्त शब्द [क्रिया, संज्ञा, विशेषण आदि] एक ही धातुसे व्युत्पन्न हो सकते थे। वस्तुतः ये मूल रूप किसी निश्चित व्याकरणात्मक अर्थका बोध न करा कर एक सामान्य भावके बोधक

थे, जिसे हम क्रिया, संज्ञा जैसे संकुचित दायरेमें आबद्ध नहीं कर सकते। ये केवल प्रत्ययविहीन अथवा विकरण-विहीन [athematic] मूल रूप थे, जिनका प्रयोग विभिन्न प्रत्ययों अथवा विकरणोंको जोड़कर किसी भी भावके लिए किया जा सकता था। इन्हीं मूल रूपोंमें कृत् या तद्धित प्रत्यय; तथा सुप् या तिङ् विभक्ति प्रत्यय लगाकर पद-रचना होती है। इसके बाद विभिन्न पदों [धातुरूपभिन्न पदों] को भी नाना प्रकारके भावबोधनके लिए समस्त किया जा सकता है, तथा यह समासप्रक्रिया कहलाती है।

व्याकरणात्मक दृष्टिसे हम संस्कृतके शब्दोंको संज्ञा [नाम], क्रिया [आख्यात], अव्यय, संख्यावाचक शब्द, तथा सर्वनाम इनमें विभक्त कर सकते हैं। इस परिच्छेदमें हम नाम शब्दोंकी पदरचनापर प्रकाश डालेंगे। संस्कृतके संज्ञा-रूप अधिकतर हिन्द-ईरानी [भारत-ईरानी] वर्गसे ही विकसित हुए हैं। इनकी रचनामें प्रायः वे ही नियम तथा तत्त्व पाये जाते हैं, जो ईरानी तथा अन्य भारोपीय भाषाओंके नाम-शब्दों [substantives] में। नाम-शब्दोंको सर्वप्रथम हम व्यस्त तथा समस्त दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं। इनकी रचनामें प्रायः भिन्न प्रणाली पाई जाती है।

प्रातिपदिक या मूल शब्दः—व्यस्त शब्दोंकी पद-रचनामें हमें यह समझ लेना चाहिए कि इन मूल रूपों [प्रातिपदिकों] को हम दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं। एक वे मूल रूप, जिनकी पदनिर्मितिमें कोई प्रत्यय या विकरण नहीं लगता। दूसरे वे जिनके मूल रूप तथा अन्य प्रकारके सुप् तथा कृत् या तद्धित प्रत्ययके बीचमें कोई-न-कोई प्रत्यय या विकरण लगता है। इस प्रकारके प्रत्यय उन मूल रूपों [धातुओं] में भी लगते हैं, जिनमें क्रियारूप बनते हैं। इन्हीं प्रत्ययों या विकरणोंके आधारपर हम इन मूलरूपोंको सविकरण [thematic] तथा अविकरण [athematic] इन दो कोटियोंमें विभक्त कर देते हैं। यहाँ हम केवल नाम-शब्दोंका ही विचार कर रहे हैं, क्रियारूपोंकी रचनामें इन विकरणोंकी प्रक्रियाका उल्लेख

हम अगले परिच्छेदमें करेंगे। विकरणविहीन [अविकरण] मूलरूप संस्कृत तथा अन्य भारोपीय भाषाओंमें अत्यधिक पाये जाते हैं। अन्य यूरोपीय भाषाओंमें ये प्रायः लुप्त हो गये हैं। उदाहरणके लिए **द्यौ, क्षा, गौ [गो], भ्रू** के मूल रूपोंको ले सकते हैं, जिनसे प्रथमा विभक्ति एकवचनमें **द्यौः, क्षाः, गौः, भ्रूः** रूप बनते हैं। इनमें मूलरूप तथा 'सुप्' प्रत्यय [**'सु'**] [**प्रा० भा० यू० *स्**] के बीचमें किसी भी विकरणका प्रयोग नहीं हुआ है। इसी प्रकार **राज्** तथा **विश्** इन मूल रूपोंके **राट्-ड्** तथा **विट्-ड्** रूपों [प्रथमा एकवचन रूपों] में भी विकरण-विहीनता देखी जा सकती है। ये विकरणविहीन रूप उन मूल रूपोंसे भी बनाये जा सकते हैं, जिनमें द्वित्व पाया जाता है; यथा **हु** से **जुहु** तथा **दृह** से **ददृक्**। इस प्रकारके रूपोंमें एक विशेषता यह भी पाई जाती है कि **इ**, उ तथा **ऋ** अन्तवाले मूल रूपोंमें यह मूल रूप **'त्'** से युक्त पाया जाता है। यथा **मित्, स्तुत्, कृत्** तथा **दिद्युत्** में जो क्रमशः **मि, स्तु, कृ** तथा **द्यु** इन मूल रूपोंसे बने हैं। इस प्रकारके "**त्**" के प्रयोगकी उत्पत्तिका पता नहीं। ब्रुगमानके मतानुसार यह **'त्'**, '–तो'[*तो] प्रत्ययका ही अपश्रुत्यात्मक रूप है।

सविकरणात्मक मूलरूपोंमें अधिकतर **अ** विकरण प्रयुक्त होता है। तात्त्विक दृष्टिसे तो "थिमेटिक" 'अ' विकरण नहीं है, क्योंकि प्रायः सविकरण मूल रूपोंको भी अविकरण मूलरूपोंका ही विकसित रूप माना जाता है तथा भारतयूरोपीय भाषाओंमें प्रायः अविकरण मूलरूपोंको सविकरण बनानेकी प्रवृत्ति भी पाई जाती है। इस प्रकारके 'अ' विकरणका उदाहरण हम "$\sqrt{}$**भृ**" [**प्रा० भा० यू० *भेर्**, [*bher] को ले सकते हैं, जिसमें यह 'थिमेटिक' अ पाया जाता है, यथा **सं० भरति [भर्–अ–ति]; प्रा० भा० यू० *भेर्–ओ–ति** [*bher–o–ti] में। इसी प्रकार **वृ** तथा **शुच् [शुक्]** से बने **वर [वृ + अ]** तथा शोकमें भी यह 'अ' विकरण पाया जाता है। यह 'अ' विकरण प्रा० भा० यू० के द्वित्ववाले मूल रूपोंमें

प्रयुक्त होने लगा था, यथा, सं० चक्र, ग्री० कुक्लोस् [ku:klos]। संस्कृतमे आकर तो यह "अ" द्वित्व रूपोमे अत्यधिक प्रयुक्त होने लगा, यथा दरोव, वचर्व आदि रूपोंमें, जो दृ तथा वृ के रूप हैं। इसी 'अ' से संबद्ध एक प्रत्यय अस् [*ओस्, *os] भी है, जो सं० नभस् [ग्रीक नेफोस्, nephos] सं० श्रवस् [ग्री० केवोस्, kewos]मे पाया जाता है। इन विकरणोकी सबसे बड़ी विशेषता स्वरसे संबंध रखती है। यदि मूल रूपपर उदात्त स्वर [rising tone] होता है, तो भिन्न प्रकारके शब्दकी उत्पत्ति होती है, और यदि उदात्त स्वर विकरणपर पाया जाता है तो शब्द सर्वथा भिन्न प्रकारका होता है। उदाहरणके लिए √वृ [धातु, मूलरूप]से अ जोडकर वर रूप बनता है। यदि यह रूप "वर"[1] होगा तो इसका अर्थ "इच्छा" है, किन्तु "वर"[2] का अर्थ "वरण करनेवाला" होगा। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे एकको हम "व्रियते अनेन" मानेंगे, तो दूसरेको "वृणुत इति" मानेंगे। संस्कृतके शब्द "स्वयंवरा"[3] [दे० रघुवश—स्वयंवरा

१. 'वर.' में जो वृ + अ [वर् + अ] से बना है, उदात्त 'वर्' के 'अ' पर अथवा 'वर्' वाले अक्षर [syllable] पर है, तभी तो 'व' में उदात्त है, र में स्वरित [जो कि मूलत अनुदात्त है]। उदात्तका कोई चिह्न नहीं होता, अनुदात्तका चिह्न अक्षरके नीचे पड़ी लकीर [—] है, स्वरितका अक्षरके सिरपर खड़ी लकीर [|]। उदात्तके ठीक बादका अनुदात्त, यदि उसके बाद फिरसे कोई उदात्त स्वर नहीं है, तो स्वरित होता है। यह [rising tone] के एकदम बादवाला [falling tone] है।

२. वर में, जो भी वृ + अ [वर् + अ] से बना है, स्वर भिन्न है, यहाँ उदात्त स्वर 'अ' विकरणमें है 'वर्' का अक्षर अनुदात्त है।

३. स्वयं वृणुते इति सा स्वयंवरा।

क्लृप्तविवाहवेषा] में दूसरा रूप है, जब कि स्वयंवर[1] में पहला। स्वरके कारण इन अ–विकरणवाले रूपोंमें अर्थभेदके अन्य उदाहरण ये हैं :—

चोद 'अंकुश', चोद 'प्रेरित करनेवाला', शोक 'प्रकाश', शोक 'प्रकाशमान'।

प्रा० भा० यू० भाषामें ही मूलरूपोंके विकरणयुक्त [thematic] तथा विकरणविहीन [athematic] दोनों प्रकारके वैकल्पिक रूप पाये जाते थे। संस्कृतने कई नाम-रूपोंमें इस प्रकारके प्राचीन वैकल्पिक रूपोंके कुछ चिह्न सुरक्षित रक्खे हैं यथा, आपः, अपाम्; पादम्, पदः, भ्रूः, भ्रुवः, गौः, गाम्, गवाम्, श्वा, श्वानम्, शुनः, इन विभिन्न रूपोंमें। कुछ रूपोंमें ये चिह्न नष्ट हो गये हैं, यथा वाक्, वाचम्, वाचा में। वस्तुतः संस्कृत भाषाके शब्द-भाण्डारमें अधिक अंश नामरूप है, जिसमें मूल रूपोंसे विकरण [अन्तःप्रत्यय] सम्पृक्त रहता है। ये प्रत्यय अन्य प्रकारके भावोंको व्यक्त करते हैं, किन्तु इसमें वे अधिक तथा न्यून रूपमें एक साधारण भाव [सामान्य] का भी बोध कराते हैं। उदाहरणके लिए निष्ठा प्रत्यय तथा तुलनाबोधक [तरप्, तमप् आदि] प्रत्ययोंको लिया जा सकता है। कभी कभी नाम रूपोंसे पुनः नाम रूपोंकी उत्पत्ति होती है; इनमें कई रूपोंमें प्रथम अक्षरके स्वरमें वृद्धि पाई जाती है, यथा सौमनसम् [सुमनस् से], साप्तम् [सप्तसे], पार्थव [पृथुसे], भार्गव [भृगुसे]। इस प्रकारकी व्युत्पत्ति संस्कृत की एक प्रमुख विशेषता है।

प्रत्यय—संस्कृतके अधिकतर प्रत्यय [affixes] रूप तथा प्रयोग दोनों दृष्टियोंसे प्रा० भा० यू० तथा भारत-ईरानी प्रत्ययोंसे मिलते हैं। यहाँ हम संस्कृतके प्रमुख कृदन्त तथा तद्धित प्रत्ययोंपर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करेंगे।

---

१. स्वयं व्रियते अनेन [अत्र वा] इति स्वयंवरः।

संस्कृतका शतृ प्रत्यय,—"**अत्**" [**अन्त्**] प्रा० भा० यू० कृत् प्रत्यय ***एन्त**, ***ओन्त** [ent,ont] से विकसित हुआ है। इस प्रत्ययका प्रयोग वर्तमानके लिए होता है। इसके उदाहरण भरन्, पश्यन्, भवन् हैं,। इसी **अन्त्** का दुर्बल रूप "**अत्**" भी पाया जाता है, जो संस्कृत तथा ग्रीक दोनोमे मिलता है। यह दुर्बल रूप हम "सत्" [**सन्त्**], **हत्** [**हन्त्**], **भरत्** [**भरन्त्**] आदिमे देख सकते है। इसी कृदन्त प्रत्यय ***एन्त्** से तद्धित प्रत्यय–**वन्त** का विकास माना जाता है, जो ग्रीकमे भी **वेन्त** [went] रूपमे पाया जाता है। यह **वेन्त** [**वेत**] कभी-कभी **उस्** के रूपमें भी पाया जाता है। यह उ, **व** का ही दुर्बल रूप है। संस्कृत **पर्वन्**, **परुः** [**परुष्**], **धन्वन्**, धनुः [**धनुष्**] उदाहरण इस तथ्यके पोषक है। इसी प्रत्ययसे सबद्ध "**–वांस्**" है, जो वैयाकरणोंकी परिभाषामे "**क्वसु**" कहलाता है। इसके दुर्वल रूप "**–वस्**" तथा "**–उस्**" मे अनुनासिक तत्त्वका सर्वथा अभाव पाया जाता है। ग्रीकमे यह प्रत्यय अनुस्वारहीन ही पाया जाता है। **सं० विद्वान्, विद्वांसो, विदुषः, विद्वत्सु, ग्रीक** (**वे**) **एइद्** (**वो**) **ओस्**' [(w) eid (w) os]। सम्भव है, सस्कृतमे आकर इस प्रत्ययमे '**अन्त्**' [शतृ] के सादृश्यपर अनुस्वारका प्रयोग होने लग गया होगा।

संस्कृत प्रत्यय **ईयस्** तथा **इष्ठ** के समानान्तर प्रत्यय **ओ** [**–योस्**] [os-yes] तथा **इस्तो** [isto] ग्रीकमे पाये जाते है। सस्कृतके इन प्रत्ययोंका प्रा० भा० यू० ***योस्** (स० यस्) से विकसित माना जाता है। इस प्रत्ययके कई प्रकारके अपश्रुत्यात्मक रूप पाये जाते है, जिन्हें हम ***इस्**, ***येस्**, ***योस्** मान सकते है। सस्कृतमे भी इसका सबलरूप **ईयस्** तथा दुर्बलरूप **इष्ठ** दोनो पाये जाते है। **इष्ठ** वस्तुत **इस्** [**यस् का दुर्बलरूप**] तथा + **त** के सयोगसे बना होगा। इसे हम प्रा० भा० यू० ***इस्तो** [isto] से विकसित मान सकते हैं। संस्कृतके **स्वादीयस्** तथा **स्वादिष्ठ** में यही प्रत्यय है। संस्कृतके **क्वसु** की भाँति इसके दुर्बलरूपमे भी

अनुस्वारका समावेश हो गया है, जो संस्कृतकी ही विशेषता है, यथा **स्वादीयांसौ**।[1] इसी प्रत्ययके दुर्बलरूप–***इस्** मे ***ओन्स** जोड़कर प्रा० भा० यू० में ही एक नवीन प्रत्ययका विकास हो गया था। इस ***इसोन्स** से विकसित "**ष्ण**" रूप संस्कृतमे पाया जाता है, यथा **सं० तेजीयस्** [**तीक् + ईयस्, तेजस् + ईयस्**]; **तीक् + ष्ण** [**तीक्ष्ण**]। ये सभी प्रत्यय ठीक उसी तरह तुलनाबोधक है जैसे संस्कृतके तद्धित प्रत्यय "तरप्" तथा "तमप्", जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। कभी-कभी "ईयस्" के ये विभिन्न रूप एक साथ भी जोड़ दिये जाते थे; यथा '**तेक्ष्णिष्ठ**' [तैत्तरीय आरण्यक २.१३.१] में, जिसमें वस्तुतः एक साथ **ष्ण** तथा **इष्ठ** इन दो प्रत्ययों को जोड़ दिया गया है।

संस्कृतके "**–अन्**" तथा "**–मन्**" को प्रा० भा० यू० ***एन्** तथा ***मेन्**से विकसित माना जाता है। ये दोनो ग्रीकमे भी **ओन** तथा **म** के रूपमें पाये जाते हैं। उदाहरणके रूपमे संस्कृत **तक्षन्**, **ग्री० तेक्तोन** [tekton]; तथा **संस्कृत होम, ग्री० खेउम** [kheu-ma] को ले सकते हैं। संस्कृतमें इस **मन्** का **म** रूप भी पाया जाता है, जो संस्कृत **धर्मन्** नथा **धर्म** दोनों रूपोंसे स्पष्ट है। इस प्रत्ययसे बने हुए रूप प्रायः नपुंसक पाये जाते हैं तथा इनमें मूल रूपपर उदात्त स्वर पाया जाता है। किन्तु इनमेसे कुछमें प्रत्यय पर भी उदात्त स्वर पाया जाता है और ये रूप पुल्लिग होते हैं। उदाहरणके लिए **ब्रह्मन्** पुल्लिग है, किन्तु **ब्रह्मन्** नपुंसकलिंग।

संस्कृतके निष्ठा प्रत्यय **त**, **तवत्** [**क्त, क्तवतु**] वस्तुतः भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे दो प्रत्यय न होकर एक ही प्रत्ययके दो रूप हैं। ये दोनों ही प्रा०भा० यू० ***तो** से विकसित हुए हैं। ये भूतकालिक विशेषणके रूपमें प्रयुक्त होते हैं। यह **तो** ग्रीकमें भी पाया जाता है। संस्कृतमें **क्त** प्रत्ययवाला भूतकालिक

१. Bloch: L'Indo-Aryen. P.108.

विशेषण कर्मवाच्य [भाववाच्यमें भी] प्रयुक्त होता है; किन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे प्रा० भा० यू० में यह केवल कर्तृवाच्यमें प्रयुक्त होता होगा। इसमें उदात्त स्वर सदा प्रत्ययांशपर पाया जाता है। धीरे-धीरे यह प्रत्यय पहले नपुंसक हुआ तथा बादमें कर्मवाच्य [तथा भाववाच्य] मे प्रयुक्त होने लगा। 'त' के ये तीनों क्रमिक रूप हम सुतः [कर्तरि प्रयोग]; धूतं [नपुंसक लिग] तथा हुतः [कर्मवाच्य प्रयोग] में देख सकते हैं। *तो का ही कार्य करनेवाला एक और प्रा० भा० यू० प्रत्यय था, *नो। यह भी 'क्त' की भाँति संस्कृतमे आकर कर्मवाच्यसे संबद्ध हो गया। आगे जाकर यह 'न' वस्तुतः 'त' का ही रूप माना जाने लगा। पाणिनिने "रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः" इस सूत्रमें इस 'न' [*नो] को 'त' [*तो] का ही आदेश माना है। यह प्रत्यय पूर्ण, सम्पन्न आदिमें स्पष्ट है, किन्तु इसका वास्तविक रूप स्वप्न [स्वप् + न], दान [दा + न] में भी हम देख सकते हैं; जहाँ यह प्रयोग कर्मवाच्यमे नहीं है। ध्यान दीजिए, कर्मणि प्रयोगमें उदात्त स्वर प्रत्ययपर पाया जाता है, जब कि नाम शब्दोंमें यह उदात्त स्वर मूल रूप [धातु] पर पाया जाता है। इसीसे संबद्ध एक दूसरा प्रत्यय ति माना जा सकता है, जो ग्रीकमें सि के रूपमे पाया जाता है। संस्कृतका यह क्तिन् प्रत्यय गति, मति, प्रीति, ज्ञाति आदि स्त्रीलिंग रूपोंमें पाया जाता है। वस्तुतः यह 'ति,' 'त' का ही स्त्रीलिंग रूप रहा होगा। इस बातसे यह भी पुष्टि होती है कि ये सब त [तो] प्रत्ययके ही विभिन्नरूप रहे होंगे। एक दूसरे प्रत्यय 'तु' को भी इसीसे जोडा जा सकता है, किन्तु इस विषयमें ऐसा देखा जाता है कि जहाँ 'क्त,' क्तवत्, 'क्तिन्'के साथ धातु [मूलरूप] का दुर्बलरूप [weak form] पाया जाता है, वहाँ इसके साथ उसका सबलरूप [strong form] पाया जाता है। संस्कृतके तन्तुः, मन्तुः;

१. Bloch: L'Indo-Aryen. P. 110.

ततवत्, गतवत्, ततिः, गतिः में √तन् [तनु विस्तारे] तथा √गम् के दुर्बलरूप—त तथा ग—पाये जाते हैं; जब कि "तन्तु", "गन्तु" में इन्हीं धातुओंके सबलरूप देखे जा सकते हैं। इसी प्रत्ययसे संस्कृतके "तुं"[तुमुन्], तवे, तवै का विकास हुआ है। वैदिक संस्कृतमें ये सभी रूप पाये जाते हैं; किन्तु लौकिक संस्कृतमें केवल 'तुमुन्' ही पाया जाता है। इसके उदाहरण गन्तु, गन्तवे [वैदिकरूप], गन्तवै [वैदिकरूप] दिये जा सकते हैं।

संस्कृतके तर् [तृल्] को प्रा० भा० यू० *तेरो [tero] से विकसित माना जाता है। यह प्रत्यय संबंधियोके नामोंमे बहुत पाया जाता है। माता, पिता, भ्राता, दुहिता, जामाता आदि शब्दोंमें यही तृल् [तर्] प्रत्यय है। ग्रीकमे भी इसका विकास 'तेर' [tēr] के रूपमे हुआ है, जो हम पतेर [patēr], मातेर [matēr] आदि शब्दोमे देख सकते है। इन शब्दोंमे उदात्त स्वर प्रत्ययपर प्रायः पाया जाता है। इसी *तेरोका *त्रो रूप भी पाया जाता होगा, जो बादमे जाकर एक स्वतन्त्र प्रत्ययके रूपमें विकसित हो गया। इस प्रकार जहाँ संस्कृतमे तृल् [*तेरो] प्रत्यय क्रियाके कर्ताके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा, यह त्र [*त्रो] जो वस्तुतः *तेरोका ही दुर्बल रूप है, क्रियाके करणके अर्थमे प्रयुक्त होने लगा।[1] संस्कृत नेता [—तृ] तथा नेत्र; खनिता [—तृ] तथा खनित्र; मन्ता [—तृ] तथा मन्त्रमे हम इन दोनों प्रत्ययोंको देख सकते हैं। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रायः ये "त्र" प्रत्यय-वाले रूप नपुंसक हैं; 'मन्त्र' शब्द अवश्य इसका अपवाद है, क्योंकि यह पुल्लिग है। इस प्रत्ययवाले रूपोंमें उदात्त स्वर धात्वंशपर पाया जाता है।

तद्धित प्रत्ययोमें संस्कृतके तुलनाबोधक 'तरप्' तथा 'तमप्'के समानान्तर प्रत्यय तेरो [tero] तथा तुमुस् [tumus] क्रमशः ग्रीक तथा लैतिनमे पाये जाते हैं। संस्कृतमे इन 'तरप्' तथा 'तमप्'को अन्य प्रत्यय

---

१. Bloch : L'Indo-Aryen p. 110.

'ईयस्' तथा 'इष्ठ'से प्रायः अर्थकी दृष्टिसे भिन्न नहीं माना जाता, किन्तु मूलरूपमें इन दोनोंमें भेद रहा होगा। प्रथम तो ये गौण प्रत्यय हैं, वे प्रमुख प्रत्यय। दूसरे 'ईयस्' तथा 'इष्ठ' किसी कर्त्ताके आन्तरिक गुणकी उत्कर्षताको व्यक्त करते हैं, जब कि 'तरप्' दो वस्तुओंमेंसे एक वस्तुकी, तथा 'तमप्' अनेक वस्तुओंमेंसे एक वस्तुकी उत्कर्षता बताता है। तात्त्विक दृष्टिसे **"तर"** तथा **"तम"** अलगसे प्रत्यय न होकर **'त'** प्रत्यय [जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है] के साथ दूसरे प्रत्यय **"र"** तथा **"म"** को जोड़कर बनाये गये हैं। ये **र** तथा **म** प्रत्यय स्वतन्त्र प्रत्ययोंके रूपमें भी **अपर, प्रथम** जैसे शब्दोंमे देखे जा सकते हैं। इन प्रत्ययोका विशेष विवेचन विशेषणोंके प्रसंगमे देखिए।

संस्कृतका दूसरा प्रमुख प्रत्यय **मन्त** है, जिसका **वन्त** रूप भी पाया जाता है; यहाँ यह **मतुप्** कहलाता है। प्रा० भा० यू० मे इसका केवल ***वेन्त** रूप ही था, किन्तु भारत-ईरानी कालमे ही इसका **मन्त** रूप भी पाया जाने लगा। सम्भव है, **'मान'** [**सं० शानच्**] के सादृश्यपर यह रूप बना हो। इस तद्धित प्रत्ययका प्रयोग संबंधबोधक विशेपणके रूपमे पाया जाता है, संस्कृत **मगवन्, अवे० मग़वन्** [maɣwan], **सं० *पुत्र-वन्त** [**पुत्रवन्तौ**], **अवे० पुथ्रवन्त** [puθrawant], **सं० *मधुमन्त** [**मधुमन्तौ**], **अवे० मदुमन्त** [maδumant] मे यही प्रत्यय है।

संस्कृतके भावबोधक प्रत्यय **त्व** तथा **ता** को भी प्रा० भा० यू० से ही विकसित माना जाता है। इन्हींके **तात्, ताति** [**ता** से बने], **त्वन** [**त्व** से बना] रूप भी संस्कृतमें पाये जाते हैं। इस प्रकार हम वैदिक संस्कृतमे **देव** शब्दके भाववाचक रूपको **देवत्व, देवता, देवतात्, देवताति, देवत्वन** इन कई उदाहरणोंमें पा सकते हैं। संस्कृतके 'त्व' तथा 'त्वन'के समानान्तर **सुनो** [suno] प्रत्यय ग्रीकमें पाया जाता है। ये दोनों ही वस्तुतः ***तु** [**—अ—न**] से विकसित हुए हैं। संस्कृतके 'ता' 'तात्' 'ताति' संभव है, कृदन्त प्रत्यय 'त' से विकसित हुए हों।

समास-प्रक्रिया:-

संस्कृत पद-रचनाकी एक प्रमुख विशेषता समास-प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया प्रा० भा० यू० का ही विकास है, तथा ग्रीक, लैतिन, अवेस्ता आदि सभी भारतयूरोपीय भाषाओंमें पाई जाती है। जब हम संस्कृतकी समास-प्रक्रियाका उल्लेख करते हैं, तो हमारा तात्पर्य संस्कृतके उन समस्त रूपोंसे है, जो संस्कृतकी बोलचालकी भाषामे पाये जाते होंगे, तथा जिनका रूप वैदिक संस्कृत एवं बादकी लौकिक संस्कृतकी ही कई साहित्यिक कृतियोंमें पाया जाता है। इस सम्बन्धमें पहले यह समझ लें कि विश्वकी भाषाओंको हम सर्वप्रथम दो प्रकारकी मान सकते हैं—[१] सावयव तथा [२] निरवयव। निरवयव या व्यास-प्रधान भाषाओंमें प्रत्येक शब्द अलग होता है तथा ये शब्द निश्चित भावका बोध कराते हैं। चीनी आदि एकाक्षर परिवारकी भाषाएँ इसी कोटिकी है। सावयव भाषाओंको पुनः तीन वर्गोंमें विभक्त किया जाता है:—[१] समास प्रधान, [२] प्रत्ययप्रधान, [३] विभक्तिप्रधान। समास-प्रधान भाषाओंमे सारे शब्द समस्त होकर प्रयुक्त होते हैं तथा कभी-कभी तो पूरा-का-पूरा वाक्य ही समस्त पद-सा होता है। अमेरिकाके जंगली लोगोंकी भाषाएँ इस कोटिमें आती हैं। प्रत्ययप्रधान भाषाओंमें किसी भी शब्दका दूसरे शब्दसे संबंध बतानेके लिए प्रत्ययोंका प्रयोग किया जाता है। तुर्की तथा तमिल, तैलगू, आदि द्रविड़ परिवारकी भाषाएँ इस कोटिकी है। विभक्तिप्रधान भाषाओंमें किन्हीं दो शब्दोंके संबंधको विभक्तियोंके द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसे हम सस्कृतमें सुप् तथा तिङ् विभक्तियोंका प्रयोग करते है। समस्त भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाएँ इस विभक्तिप्रधान कोटिमें आयेंगी। वैसे इन भाषाओंमें प्रत्यय तथा समास-प्रक्रिया भी पाई जाती हैं, किन्तु ये इन भाषाओंकी प्रमुख विशेषताएँ नहीं हैं। उदाहरणके लिए, संस्कृतमें यह आवश्यक नहीं कि "राजपुत्रः" ही कहा जाय, यहाँ 'राज्ञः पुत्रः'से भी काम चल सकता है। वैदिक संस्कृत-में यह समास-प्रक्रिया प्रा० भा० यू० तथा ग्रीककी भाँति संकुचित तथा

सीमित, अतएव स्वाभाविक रही है। लौकिक संस्कृतके परवर्ती साहित्यमें आकर, दण्डी, बाण, माघ, श्रीहर्ष आदिमें प्रचुर समस्त पदावलीका प्रयोग पाया जाता है, किन्तु वह संस्कृत का वास्तविक रूप न होकर, कृत्रिम रूप है। वहाँ भी संस्कृत वैसे विभक्तिप्रधान ही है, क्योंकि समस्त पदोंके अन्तमे तो विभक्तिका प्रयोग होता ही है। शुद्ध समासप्रधान भाषाओं [यथा अमेरिकाकी जंगली भाषाएँ] मे ऐसी कोई विभक्तियाँ प्रयुक्त नही होती।

तो, संस्कृतमें दो या अधिक शब्दोंको समस्त पदके रूपमें प्रयुक्त करनेकी यह प्रणाली प्रा० भा० यू० से ही विकसित हुई है। यह समस्त पद, विभक्ति, स्वर तथा पदरचनाकी दृष्टिसे एक पदके रूपमे व्यवहृत होता है। जहाँ तक इन समस्त पदोंके कलेवरका प्रश्न है, संस्कृतमें ये पद ग्रीककी भाँति नातिदीर्घरूपमें ही पाये जाते हैं।[1] ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें तीन शब्दों से अधिक समस्त रूपवाले समासान्त पद नहीं पाये जाते। साथ ही ऐसे शब्द भी बहुत कम हैं; उदाहरणके लिए हम "पूर्व-काम-कृत्वन्" को ले सकते हैं। समस्त पदोंकी दो प्रमुख विशेषताएँ ये हैं कि इनमे [प्राय] उदात्त स्वर एक ही स्थानपर पाया जाता है, तथा प्रथम शब्दका प्रयोग निर्विभक्तिक रूपमें होता है। किन्तु इसके अपवाद भी पाये जाते हैं। यह अपवाद प्रायः द्वंद्व समासोंमें—देवताद्वंद्वोंमें—पाया जाता है, वैसे कुछ अन्य प्रकारके समस्त पदोंमें भी यह अपवाद देखा जा सकता है [देखिये परिच्छेद ४]। लिंगकी दृष्टिसे इन समस्त पदोंका लिंग प्रायः वही होता है, जोकि उत्तरपदका होता है, किन्तु नपुंसक रूप भी पाये जाते हैं। इन समासोंको सर्वप्रथम हम तीन कोटियोमें विभक्त करते हैं :—

[१] **उभयपदार्थ प्रधान**—इस कोटिके समासोमे प्रत्येक पद स्वतंत्र होता है, उदाहरणके लिए द्वन्द्व समास।

---

१. ध्यान रखिए लौकिक संस्कृतके परवर्ती काव्योंकी भाषा इस नियमके प्रतिकूल है, किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे उसका कोई महत्त्व नहीं है।

[२] **उत्तरपदार्थ प्रधान**—इस कोटिके समासोंमें उत्तरपद, प्रथम [पूर्व] पदकी अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है; उदाहरणके लिए तत्पुरुष तथा कर्मधारय।

[३] **अन्यपदार्थ प्रधान**—इस प्रकारके समासान्त पद किसी अन्य-पदको विशिष्ट करते हैं। ये विशेषण होते हैं, यथा बहुव्रीहि।

यहाँपर हम इन्हीं तीनों प्रकारके समासोंका विवेचन करेंगे। भाषा-शास्त्रीय दृष्टिसे 'द्विगु' तथा 'अव्ययीभाव' इन दो प्रकारके समासोंका विकास बादका है। द्विगु वस्तुतः कर्मधारयका ही एक रूप है,[1] जहाँ प्रथम पद संख्यावाचक होता है [यथा नवग्रह, सप्तर्षि], तथा अव्ययीभावको कर्म-धारय या बहुव्रीहिसे विकसित माना जा सकता है। अव्ययीभावमें पूर्वपद अव्यय पाया जाता है, यथा यथाशक्ति, उपकूलम्, उपकुम्भम्। इस प्रकार-के समासान्त पद ग्रीकमें भी पाये जाते हैं, यथा एप-अरोउरोस् [ep-aro-uros] [जिसका खेत मिल गया हो]; "अंखि-अलोस्" [ankhialos] [समुद्रतटके समीप, सं० उपकूलम्]।[2]

संस्कृतमें दो प्रकारके द्वन्द्व समास पाये जाते हैं। इनमें प्रथम कोटिके अन्तर्गत दोनों ही पद विशेषण होते हैं, यथा नीललोहित, ताम्रधूम्र, बभ्रु-पिङ्गल में। इस प्रकारके समास वैदिक संस्कृतमें पाये जाते हैं, किन्तु इनका प्रयोग कम ही पाया जाता है।[3] दूसरे प्रकारके द्वन्द्वोंमें दोनों ही पद संज्ञा होते हैं। इन्हें भी पुनः दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं; [१] देवताद्वन्द्व; [२] साधारणद्वन्द्व। देवताद्वन्द्वोंमें प्रायः दोनों पद द्विवचनमें प्रयुक्त होते हैं; तथा दोनों पदोंमें स्वतन्त्र रूपसे उदात्त स्वर पाया जाता है। उदाहरणके लिए हम "मित्रा-वरुणा", "सूर्या-चन्द्रमसा" को ले सकते

---

१. Wackernagel: Altindische Grammatik vol. II.P.305.
२. ibid. vol. II. P. 310.
३. Wackernagel: Altindische Grammatik P.171§74[B].

हैं। ऐसा जान पड़ता है, इस प्रकारके समासोंमें युग्म होनेके कारण दोनोंको द्विवचन मान लिया गया है। कभी-कभी ऐसे भी प्रयोग पाये जाते हैं, जहाँ ये पद समस्त न होनेपर भी द्विवचनमें प्रयुक्त होते हैं; यथा—

इन्द्रा नु पूषणा [ऋ. ६७, ५, ७१]; **इन्द्राग्नी** [६, ५९, ३];

विष्णू अगन् वरुणा [तै. आ. २.९.४.५]

वसु मंहि मित्रयो रा मेति प्रियं वरुणयोः [६.५१.१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समासमें देवताद्वन्द्वपद प्रायः सविभक्तिक रूपमें पाये जाते हैं। ऋग्वेदमें **'मित्रयो-र्वरुणयोः'** [ऋ. ७, ६६, १] जैसे समस्त पदोंकी उपलब्धि होती है, जहाँ पूर्व तथा उत्तर दोनों पद षष्ठी द्विवचनमें हैं।[1] इस प्रकारकी प्रवृत्ति हम अवेस्तामें भी पाते हैं, जैसे **'अहुरएब्य–मिथ्रएब्य'** [ahuraebya miθraebya], जो संस्कृतके **असुरेभ्यो–मित्रेभ्यः** के द्वारा अनूदित किया जा सकता है। बादमे जाकर धीरे-धीरे ऋग्वेदमें ही ये द्वन्द्व उस विकासकी ओर बढ़ते प्रतीत होते हैं, जो लौकिक संस्कृतमें पाया जाता है। ऋग्वेदमे ही कई स्थानोंपर बादमे **'सूर्या-चन्द्रमसा'** के प्रथम पद 'सूर्या' के 'र्या' वाले अक्षर [syllable] का उदात्त स्वर लुप्त हो गया है, तथा उसकी बादकी ऋचाओंमें **'इन्द्र-वायू'** [प्राचीनरूप **'इन्द्रा—वायू'**] जैसे रूप पाये जाने लगे हैं। इन्हीसे मिलते-जुलते द्वन्द्व वे हैं, जिनमें द्वन्द्व-पद बहुवचनमे पाया जाता है, यथा **अहो—रात्राणि** [अघमर्षणसूक्त], **अजावयः** [पुरुषसूक्त]। कुछ द्वन्द्व समाहृत होकर नपुंसकके रूपमें भी प्रयुक्त होते हैं, यथा—**इष्टा-पूर्तम्**, **कृता-कृतम्**, **केशश्मश्रु**।

१. ibid. P. 151-52§63 [C]

लौकिक संस्कृतमें जहाँ कहीं हम प्रथम पदमें द्विवचन देखते हैं, वे सब वैदिक कालीन द्वन्द्वोंके ही अवशेष हैं। संस्कृतमें बादमें आकर नवीन शब्दोंमें इनका सर्वथा लोप हो गया है, यथा **राम-लक्ष्मणौ** में। ये वैदिक कालीन द्वन्द्व कभी-कभी एक ही पदके द्विवचन रूपमें प्रयुक्त होते हैं, तथा इनके कुछ अवशिष्ट संस्कृतमे भी पाये जाते हैं। वेदमें **द्यावा, मित्रा** का प्रयोग **द्यावा-पृथिवी, मित्रा-वरुणा** के अर्थमें पाया जाता है। लौकिक संस्कृतमें भी हम **पितरौ** [जगतः पितरौ वन्दे]का प्रयोग **माता-पितरौ** के अर्थमें देखते है।

तत्पुरुष समासोंमें प्रथम पद किसी न किसी कारक [विभक्ति ?] का बोध कराता है। इसमे यदि प्रथम पद कर्म, करण, अपादान अथवा अधिकरणका बोध कराता है, तो प्रायः द्वितीय पद धातुज संज्ञा [verbal noun] होता है। किन्तु यदि यह प्रथम पद सम्प्रदान अथवा संबंधका बोध कराता है, तो वह केवल संज्ञा होता है। उदाहरणके लिए क्रमशः **गोघ्न, देवदत्त, पङ्कज** [गो-ज], **अहर्जात; विश्व-शम्भू** [**विश्वाय**....], **विश्पति, देव-किल्विष** को ले सकते हैं। कभी-कभी इनमेंसे प्रथम पदको विभक्तिका लोप नहीं होता। इस प्रकारके समास वैयाकरणोंकी परिभाषामें 'अलुक्' कहलाते हैं। **धनंजय; वाचास्तेन; वस्यवेक्रुक; दिवोज; ब्रह्मणस्पतिः, शुनःशेप, रथेष्ठा, सरसिज** में यही अलुक् प्रवृत्ति पाई जाती है।[1] इस प्रकारकी प्रवृत्ति अवेस्तामें भी पाई जाती है; यथा **वीरम्-जन्** [wirəm-zan] [**सं० *वीरंहन्**]। इस संबंधमे यह कह देना आवश्यक होगा कि तत्पुरुष समास ऋग्वेदमें कम ही पाये जाते हैं। प्राचीन ग्रीकमें भी इस प्रकारके समास कम ही हैं। अधिकतर ये समास **पद** तथा **पति** के संयोगमें पाये जाते थे, यथा ग्रीक **द-पेदोन** [dapedon], **देस्-पोतस्** [despotes] (**प्रा० रू० *देम्पोतेस्** [dem-potes]—मिलाइए **सं० दम्पतिः** [***दमस्पतिः**]।

१. ibid. pp. 246 and following, § 99.
२. ibid p. 241 § 97 (a)

वैदिक संस्कृतमें कर्मधारय समास, जिनमे पूर्वपद विशेषण होता है, इनमे भी कम पाये जाते हैं। प्राचीनतम उदाहरण एक-वीरः, चन्द्र-माः, महा-धनः है। कई कर्मधारयोंमें उपसर्ग भी प्रथम पदके रूपमे प्रयुक्त पाया जाता है, यथा प्रगपात्। कुछ उदाहरणोमे प्रथम पद धातुज अंश होता है यथा त्रसदस्यु, शिक्षा-नर, रवा-वसु, जिनमे वस्तुतः प्रथम पद लोट्के मध्यम पुरुष एकवचनका रूप है [शिक्षा तथा रवा मे पूर्व पदका अन्तिम स्वर अ दीर्घ हो गया है]।[1] लौकिक संस्कृतमे आकर ये कर्मधारय प्रचुरता मे पाये जाने लगे हैं।

बहुव्रीहि समास अन्य-पदार्थ-प्रधान होते हैं। प्राचीन भाषामें ये कर्म-धारयकी अपेक्षा विशेष पाये जाते हैं। इस तथ्यसे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये समास वस्तुतः विशेषणीभूत कर्मधारय ही हैं, जिनमें शुद्ध कर्मधारयसे केवल यही भेद है कि इनमे उदात्त स्वर प्रथम अक्षरपर पाया जाता है। इस प्रकारके स्वरभेदको हम चतुर्थ परिच्छेदमे दिखा चुके हैं। तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें इन बहुव्रीहि समासोका उद्भव एक प्रकारका सामस्यिक प्रश्न है। वाकेरनागेलके मतानुसार बहुव्रीहि समास वस्तुतः व्यस्त रूपोसे विक-सित हुआ है। वह बताता है कि इन्द्रज्येष्ठा देवाः को इन्द्रो ज्येष्ठ..... देवाः से विकसित माना जा सकता है।[2] इस प्रकारके व्यस्त रूप जिनसे इन बहुव्रीहियोंका विकास माना जा सकता है, लैटिन तथा प्राचीन फारसीमे भी पाये जाते हैं। वाकेरनागेल्ने इसी सम्बन्धम इन दोनो भाषाओसे ये उदाहरण दिये हैं —

उर्ब्ज़ ऍतीका फुइत, तीरी तेन्युएरे कोलोनी कार्थागो।

[urbs antıca fuit, tıri tenuere colonı Carathago]

[कार्थेग [एक] प्राचीन नगर था; [जहाँ] तीरीन लोग निवासी थे]। संस्कृतमें इसे यों अनूदित कर सकते है आसीत् कार्थागो [इति] पुरा-

---

१. ibid. p. 316 § 120 (c)

२. Wackernagei. Altındische Granmatık p. 290 § 112(c)

तना पुरी; तौरिणः [तौरिनः] निवासिनो बभूवुः । यहाँ हम 'तारीन लोग रहते थे' के स्थान पर, इसे "जहाँ तौरीन लोग रहते थे" इस रूपमें समस्त बहुव्रीहि बनाकर **"तौरिनिवासिनी"** [तौरिणः निवासिनः यस्यां सा] का प्रयोग भी कर सकते हैं । इसी प्रकार बहुव्रीहिका विकास माना जा सकता है । वाकेरनागेलका फारसीवाला उदाहरण यह है :—**"मर्तिया फ़ाद नाम"** [martiya frada nama], [एक मनुष्य, फ़ाद [उसका] नाम [था]]। इसे भी संस्कृतमें **"फ़ादनामा"** के रूपमें बहुव्रीहि बनाया जा सकता है । इस सब विवेचनका तात्पर्य यह है कि यह समास व्यस्त वाक्यसे ही विकसित हुआ है । बहुव्रीहिके उदाहरणके रूपमें हम **अश्वपृष्ठ, यमश्रेष्ठ, प्रयतदक्षिण, उग्रबाहु, हतमातृ, राजपुत्र, हिरण्यनेमि, दुष्पद, सुपर्ण, अपत्** [**अपात्**] ले सकते हैं ।

संज्ञा, विशेषण तथा सर्वनामके रूपोंका विवेचन करनेके पूर्व हमें थोड़ा उन परिवर्तनोंकी ओर ध्यान देना होगा, जो एक ही शब्दके विभिन्न रूपोंमें पाये जाते हैं । जैसा कि हम देख चुके हैं सप्रत्यय या अ-विकरणयुक्त [थेमेटिक] नाम रूपोंमें प्रायः एक अपरिवर्तनशील अन्तःप्रत्यय 'अ' [थेमा thema] पाया जाता है । किन्तु प्राचीनकालसे ही प्रत्ययहीन रूपोंकी संख्या बहुत पाई जाती है, जिनके अन्तर्गत अन्तःप्रत्यय [विकरण] स्वरकी मात्रा तथा उदात्तादिस्वरकी दृष्टिसे बड़ा भेद पाया जाता है ।

पुरुषवाचक सर्वनामों [personal pronouns] तथा कतिपय निर्देशात्मक सर्वनामों [demonstrative pronouns] में प्रायः एक ही प्रकारका अन्तःप्रत्यय पाया जाता है । **अहम्, माम्, मम, स, सा, तत्, तस्य, ते** आदिमें । जिनमें मूलरूपमें रेफ, 'इ', 'ऊष्मध्वनि' या उ पाया जाता है, इनके कई रूपोंमें प्रायः 'न' [अन्तःप्रत्यय] का प्रयोग होता है । अधिकतर यह प्रयोग नपुंसक लिंगके रूपोंकी ही विशेषता है । पुंल्लिग व स्त्रीलिंगमें यह बहुत कम पाया जाता है ।

अहर्, अह्नः अह्नाम् [अवेस्ता अश्नम् [as̆nam]
असृक्, अस्नः, हित्ताइत, एश्हर [es̆har], एश्नश् [es̆nas̆]
अक्षि, अक्ष्णः
सक्थि, सक्थ्नः
शिरष्, शीर्ष्णः
यूष् [यूः], यूष्णः [ऋग्वेद]
दोष् [दोः], दोष्णः
दारु, द्रुणः [वैदिकरूप], दारुणः [लौकिक संस्कृत]

स्वरका परिवर्तन भी हम कई रूपोमे देख सकते है, उदाहरणके लिए 'उ' कारान्तके दो प्रकारके परिवर्तन हम गुरो [गुरु] तथा दिवः [द्यु] मे देख सकते है। प्रा० भा० यू० मे जहाँ ओ, ए तथा शून्य का परिवर्तन पाया जाता है, भारत-ईरानी वर्गमे आ, अ, तथा शून्य [zero] पाया जाता है। उदाहरणके लिए हम वृत्रहा, वृत्रहणम्, वृत्रघ्नः को ले सकते है जिनमे क्रमश. आ, अ तथा शून्य रूप पाये जाते है। ठीक यही रूप क्रमश. पिता, पितरं, पित्रे मे पाये जाते है।

संस्कृत शब्दरूपः—संस्कृत शब्दरूपोमे तीन लिंग, तीन वचन तथा आठ विभक्तियाँ पाई जाती है। संस्कृतके लिंग-विधानके विषयमे यह प्रसिद्ध है कि यह अंशत· व्याकरणात्मक है, यही कारण है कि हमे 'दार' जैसे स्त्रीवाचक शब्दोमें पुलिंग मिलता है, तो 'कलत्र' 'मित्र' जैसे अनपुंसक वाची शब्दोमे भी नपुंसक लिंग। संस्कृत वैयाकरणोने व्याकरणात्मक लिंग विधानके नियमोंकी अवतारणा की है। प्रा० भा० यू० लिंगविधानके विषय में विद्वानोंका यह मत है कि वहाँ मूलतः दो ही लिंग रहे होंगे, एक 'सामान्य-लिंग' जिसमें पुंल्लिग तथा स्त्रीलिंग दोनों समाहित होते है, तथा दूसरा 'नपुंसकलिंग'। हित्ताइत भाषामे इस प्रकारका लिंगविधान पाया जाता है, जहाँ स्त्रीलिंगका अभाव देखा जाता है। इसके बाद कहीं जाकर प्रा० भा० यू० के परवर्ती विकासमें स्त्रीलिंगका विकास हुआ है। किन्तु जहाँ तक

द्विवचनके अस्तित्वका प्रश्न है उसके चिह्न हित्ताइत तकमें पाये जाते हैं। संस्कृत, ग्रीक तथा लिथुआनियन आदिके आधारपर मेये एवं अन्य भाषा शास्त्रियोंने प्रा० भा० यू० में द्विवचनका अनुमान किया है तथा हित्ताइत भाषाके विश्लेषणने उसकी पुष्टि कर दी है।

संस्कृत शब्दोंकी आठ विभक्तियोंमें जोड़े जानेवाले विभक्ति चिह्न निम्न हैं :—

	एकवचन		द्विवचन		बहुवचन	
	पु० स्त्री०	नपुं०	पु० स्त्री०	नपुं०	पु० स्त्री०	नपुं०
प्रथमा	स्	—	औ [आ]	ई	अस्	इ[1]
द्वितीया	अम्	—				
तृतीया	आ [एन]	आ [एन]			भिस्	भिस्
चतुर्थी	ए	ए	भ्याम्	भ्याम्	भ्यस्	भ्यस्
पञ्चमी	अस्	अस्				
षष्ठी					आम्	आम्
सप्तमी	इ	इ	ओस्	ओस्	सु	सु
सम्बोधन	—	—	औ	ई	अस्	इ

संस्कृतके संज्ञारूपोंको अजन्त तथा हलन्तकी दृष्टिसे पुनः विभाजित किया जा सकता है। अजन्त शब्दोंको निम्न कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है:—

१. नपुंसक लिंगके बहुवचनमें अदन्त शब्दोंमें 'इ' के पूर्व 'न्' जोड़ दिया जाता है, यथा ज्ञानानि। यह 'न्' अघोष तथा ऊष्म व्यञ्जनके अन्तमें होनेपर भी जोड़ा जाता है, यथा धनूंषि, जगन्ति, प्रत्यञ्चि।

[१] अकारान्त तथा आकारान्त शब्द.

[२] इकारान्त तथा उकारान्त शब्द.

[३] ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्द.

[४] ऋकारान्त शब्द.

[५] ध्वनियुग्मान्त [diphthong-ending] शब्द.

हलन्त शब्दोंको भी दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं—

[१] अपरिवर्तनशील अन्त वाले शब्द; इस कोटिके शब्दोंके रूपोंमें परिवर्तन नही पाया जाता, यथा **जगत्**, पात् , **वाक्** आदि ।

[२] परिवर्तनशील अन्त वाले हलन्त शब्द; इस कोटिके शब्दोंमें वे आते है, जो **त्**, **न्**, **स्** अथवा **च्** अन्त वाले प्रत्ययोंसे बनते हैं । **महत्**, **कनीयस्**, **हस्तिन्**, **वृत्रहन्**, **प्रत्यञ्च्** आदि इस कोटिके शब्दोंके उदाहरण हैं ।

यहाँ हम केवल संस्कृत विभक्तिचिह्नोंका ही भाषावैज्ञानिक विकास देंगे । शब्दरूपोंका संकेत हमने परिशिष्ट 'ख' में किया है, जहाँ तुलनात्मक दृष्टिसे ग्रीक तथा लैतिनके समानान्तर अजन्त तथा हलन्त शब्दरूपोंका भी विवरण मिलेगा ।

एकवचन रूप

संस्कृतके पुंल्लिंग तथा स्त्रीलिंगके प्रथमा एकवचनमें दो प्रकारके रूप पाये जाते हैं । कुछ रूपोंमें [प्रायः अजन्तोंमे] **'स्'** [**सुप्**] विभक्ति-चिह्न जोड़ा जाता है । यह विभक्तिचिह्न अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, तथा ऊकारान्त शब्दोंमे तथा ध्वनियुग्मान्त शब्दोंमें नियत रूपसे जोड़ा जाता है । अकारान्त तथा ईकारान्त शब्दोंमें इस **स्** का प्रयोग कम पाया जाता है, जिसके उदाहरण **विश्वपाः**, [पु०], **सुधीः**, [पु०] **श्रीः**, **ह्रीः** [**स्त्री०**] दिये जा सकते हैं । हलन्त शब्दोंमें यह **स्** नहीं जोड़ा जाता । किन्तु ऐसा अनुमान होता है कि प्रा० भा० यू० ***स्*** [·—S]

[सं० स्] कुछ हलन्तोंमें भी जोड़ा जाता था। उदाहरणके लिए संस्कृतके **वाक्, विट्, विद्वान्** के समानान्तर रूपोंके लिए अवेस्ता **वाख्श्** [waxš], **विश्**, [wiš], ग्रीक **एइदोस्** [eidos] [अर्थ, पण्डित या ज्ञानी] को लीजिए।[1] इससे स्पष्ट है कि संस्कृतके **क्, ट्, न्,** जो इन रूपोंमें पाये जाते हैं, संभवत. भारत-ईरानी प्रथमा विभक्ति चिह्न **स्** के ही अन्य विकसित रूप है। वैसे **पिता, सखा, हस्ती, श्वा** आदि रूपोंमें इस **स्** का सर्वथा अभाव है। अवेस्तामें हम इसे देख सकते हैं—**पिता, हखा, स्पा** [pitā; haxā; spā]। 'स्' के प्रयोगके लिए प्रा० भा० यू० रूपोंसे विकसित रूपोंके ये उदाहरण ले सकते हैं:—

वृकः	**ग्रीक**	**लुकोस्**	[lukos]
गिरिः	**अवे०**	**गइरिश्**	[gairiš]
क्रतुः	,,	**ख्रतुश्**	[xratuš]
द्यौः	**ग्रीक**	**ज़ेउस् = *द्ज़ेउस**	[zeus = *dzeus]

इन शब्दोके द्वितीया एकवचन रूपोंमें '**म्**' विभक्तिचिह्न जोड़ा जाता है। यह **म्** हलन्त शब्दोंके रूपोंमें **अम्** हो जाता है, यथा* **वषत्**—**वषतम्**। इस विभक्तिचिह्नका विकास प्रा० भा० यू० स्वरीभूत ***म्** से माना जाता है, जो ग्रीकमें **न** तथा **अ** के रूपमें विकसित हुआ है।

संस्कृत	**अश्वम्**	अवे०	**अस्पअम्** [aspəm]	ग्री०	**हेप्पोन्**	[heppo-n]
,,	**पादम्**	,,	**पाद्अम्** [padəm],	,,	**पोद**	[poda]

यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि जहाँ संस्कृतमें अजन्तोंमें **म्** जोड़ा जाता है, वहाँ ग्रीकमे **न्** पाया जाता है, और हलन्तोंमे संस्कृतमे **अम्** जोड़ा जाता है, ग्रीकमें केवल **अ** ही पाया पाता है।

१. Bloch · L' Indo-Aryen p. 117.

संस्कृतमें नपुंसक लिंगके प्रथमा तथा द्वितीयाके एकवचन दोनों एकसे ही होते हैं। इनमें भी हम दो प्रकारकी कोटियाँ विभक्त कर सकते हैं। अकारान्त शब्दोंमें '**म्**' विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, किन्तु अन्य स्वरान्त तथा हलन्त शब्दोंमें "**शून्य** [zero]" विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है। इस संबंधमें, पदरचनाशास्त्रमें इस "**शून्य**" के महत्त्वपर दो शब्द कह दिये जायें। वस्तुतः यह "**शून्य** [O]" भी ठीक वही कार्य करता है, जैसा कोई विभक्ति चिह्न या प्रत्यय। उदाहरणके लिए संस्कृतके '**शतृ**' प्रत्ययको ले लीजिए। यह शतृ प्रत्यय वर्तमान काल [लट्] के प्रथम पुरुष एकवचनके रूपको स्वरहीन बना देता है; **पठत्**, **भवत्**, **कुर्वत्**, किन्तु इसके साथ अन्य कोई ध्वनि नही जोड़ी जाती। अर्थात् ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे शतृका कोई महत्त्व भले हो न हो, किन्तु पदरचनाकी दृष्टिसे इसका महत्त्व मानना ही होगा। विशेष स्पष्टीकरणके लिए शतृ-प्रक्रियाको भाषावैज्ञानिक यों व्यक्त करेगा:—

करोति	[*कुर्वति]	+	शतृ [O]	=	कुर्वत्	+	O	=	कुर्वत्
	पठति	+	शतृ [O]	=	पठत्	+	O	=	पठत्
	भवति	+	शतृ [O]	=	भवत्	+	O	=	भवत्

यहाँपर हमे कोई न कोई प्रत्यय मानना पड़ता है, भाषावैज्ञानिक उसे 'शून्य' [zero] कहेगा, पाणिनिने उसके लिए 'इत्' संज्ञा दी है। आजसे हजारों वर्ष पूर्व महर्षि पाणिनिने इस "शून्यके" पदरचनात्मक महत्त्वको भली भाँति समझा था। तभी तो ध्वनि, प्रत्यय आदिके लोपकी परिभाषा "**अदर्शनं लोप:**" से उनका तात्पर्य मेरी समझमे यह था कि यद्यपि वह ध्वनि, प्रत्यय या विभक्तिचिह्न दिखाई नहीं देता, तथापि प्रकृतिमे विकार उत्पन्न करनेमे वह पूर्णतः शक्त होता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि वह विकार कभी कभी स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता। नपुंसक लिंगके हलन्त शब्दोंके प्रथमा तथा द्वितीया एकवचन रूपोंमें प्रायः यही "**शून्य**" **विभक्तिचिह्न** [zero inflexion] पाया जाता है। **जगत्** शब्दके प्रथमा-द्वितीया एक-

वचनके रूप **जगत्** में भाषाशास्त्री स्पष्ट ही "शून्य" [O] विभक्तिचिह्न मानेगा।

शब्द		**विभक्तिचिह्न [प्रथमा द्वितीया-ए-व०]**		**पद**
जगत्	+	O	=	**जगत्**
भवत्	+	O	=	**भवत्**
गच्छत्	+	O	=	**गच्छत्**

यदि ऐसे 'शून्य' विभक्तिचिह्नकी सत्ता न मानी जायगी, तो ये पद प्रथमा या द्वितीया एकवचनके रूपका बोध नही करा सकेंगे। नपुंसक लिगके दोनों तरहके रूपोंके उदाहरण ये हैं:—

सं०	**अत्रम्**	**अवेस्ता**	**क्षाथ्र्‌अम्**	[xs̆aϑrəm]
,,	**मधु**	,,	**मधु**	[maδu]
,,	**स्वर्**	,,	**ह्‌वर्‌अ**	[hwarə]
,,	**मनः**	,,	**मनो**	[mano]
,,	**महत्**	,,	**मज़त्**	[mazat]

भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे नपुंसक लिगके प्रथमा-द्वितीया एकवचनमे **इ** सुप् विभक्तिचिह्न भी पाया जाता है। इस **इ** सुप् विभक्तिचिह्नको हम **अक्षि, सक्थि, अस्थि, दधि** मे देख सकते हैं[1]। संस्कृतके इन तथाकथित इ-कारान्त नपुंसक लिग शब्दोंमे वस्तुतः वह 'शून्य' विभक्तिचिह्न नही माना जा सकता, जिसे हम **मधु, मनस्** [:] या **महत्** मे देख सकते हैं। तात्त्विक दृष्टिसे इन प्रथमा-द्वितीया एकवचन रूपोंको **अक्ष[—न्], सक्थ[—न्], अस्थ** [—न्], **दध** [—न्] रूपोंमे '**इ**' विभक्तिचिह्न जोड़कर बनाया माना जा सकता है। इस प्रकारका **इ** सुप् प्रत्यय हम **वारि** मे भी देख सकते हैं, जहाँ **वार्+इ** है। **वार्** शब्द संस्कृतमे स्वतन्त्र रूपमे भी पाया जाता है, जिसका षष्ठयन्त रूप '**वारां निधिः**' मे देखा जा सकता है। यही कारण है कि इन

1. Wackernagel. Altindische Grammatik. Vol. 2. p. 34 § 11 (d)

शब्दोंके अन्य विभक्तिके रूपोंमे हम 'इ' का सर्वथा अभाव पाते हैं, यथा **दध्नः, दध्नाम्; अक्ष्णा, अक्ष्णे**, आदि रूपोंमें। यदि 'इ' शब्दका ही ध्वनिभूत अंश [ध्वन्यश] होता, तो ***दधिनः, *दधिनाम्, *अक्षिणा, *अक्षिणे** रूप पाये जाने चाहिए थे, जैसा कि उकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाया जाता है, यथा **मधु** के इन रूपोंमें **मधुनः, मधुनाम्**।

तृतीया एकवचनमे कई प्रकारके सुप् चिह्न पाये जाते है। महर्षि पाणिनिने इन सभी तृतीयैकवचन विभक्तिचिह्नोंको '**टा**' के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया है। वस्तुतः ठीक भी है, क्योंकि इनमेंसे अधिकतर **आ** से विकसित हुए हैं, जो वेदमें पाया जाता है। **सं० वाचा [लौकिक संस्कृत वचसा भी], पदा, मनसा, ज्मा, क्षमा, बृब्रघ्ना, पित्रा** जैसे तृतीयैकवचनान्त वैदिक तथा कुछ लौकिक संस्कृत रूपोंमे यही **आ** विभक्तिचिह्न है। संस्कृतके अकारान्त शब्दोंके रूपोमे तृतीया एकवचनका विभक्तिचिह्न "**एन**" [**सं० देवेन**] देखा जाता है। ऋग्वेदमे ही यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, किन्तु वहाँ साथ ही साथ 'आ' वाला रूप भी पाया जाता है। इस तरह वहाँ '**देवा**' '**देवेन**' दोनो रूप तृतीया एकवचनमे मिलते है। यह '**–एन**' वस्तुतः **तेन, येन** जैसे सर्वनाम शब्दोंके तृतीया एकवचन रूपोंके सादृश्य पर चला होगा। वाकेरनागेलने अन्य प्रकारके तृतीयैकवचनान्त सुप् विभक्ति चिह्नोंको इस तरह विभाजित किया है:—

आकारान्त रूपोमें **अया** तथा **आ** विभक्तिचिह्नके रूप पाये जाते हैं। इकारान्त तथा उकारान्त रूपोंमे [**इ**] **या**, [उ] **वा**, **इना**, **उना**, तथा **ई**, **ऊ** इस प्रकार तीन तीन तरहके विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं[1]। उदाहरणके लिए हम वैदिक संस्कृतमे आकारान्त शब्दोके तृतीयैकवचनके विकल्प रूप **स्वधा, स्वधया, जिह्वा, जिह्वया** ले सकते है। इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके तृतीयैकवचन रूपोंमे प्राचीनतम रूप निःसन्देह **ई** तथा **ऊ** वाले हैं, यथा **वैदिक सं० चित्ती** [**लौ० सं० चित्त्या**] **वै० सं० क्रत्** [**लौ० सं० क्रतुना**]। वस्तुतः

1. ibid. p. 34–35. § 12.

प्राचीन भारतयूरोपीय तृतीया एकवचनकी सुप् विभक्तिकी कल्पना ***अ** [***ə**] के रूपमें की जा सकती है, जिसके कारण ह्रस्व **इ**, **उ** दीर्घ होकर तृतीयैकवचनान्त रूप बनेंगे। **या** तथा **वा** वाले रूप ईकारान्त **देवी** जैसे शब्दोके रूप **देव्या** के सादृश्यपर पाये जाने लगे होंगे। इसी प्रकार तृतीया एकवचनका **ना** वाला विभक्तिचिह्न इनन्त शब्दोके तृनीयैकवचनान्त रूपोके सादृश्यपर बना होगा, यथा—

कारि [न्]–कारिणा : : हरि–हरिणा : : भानु–भानुना

चतुर्थी एकवचनमें **'ए'** विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जिसे प्रा० भा० यू० ***अइ** तथा ***एइ** का विकसित रूप माना जाता है। ग्रीकमें चतुर्थीके एकवचनमें **ओइ** का प्रयोग होता है, यथा **लोगोइ** [logoi [अर्थ, शब्दके लिए]। अकारान्त शब्दोके रूपोमे यह 'ए', **'आय'** का रूप धारण कर लेता है, यथा **देवाय**। ईकारान्त रूपों [स्त्रीलिंग रूपो] मे यह **ऐ** के रूपमें विकसित देखा जाता है, यथा **देव्यै** [देवीसे चतु० ए० व०]। आकारान्त [स्त्रीलिंग] शब्दोके चतुर्थी एकवचन रूपोमे मूल शब्द तथा सुप् प्रत्ययके बीचमे **आय** अंश जोड़ दिया जाता है, यथा **सूर्यायै** [सूर्या से चतु० एकवचन]।

पञ्चमी एकवचन तथा षष्ठी एकवचन दोनोके रूपोको साथ-साथ ही लिया जा सकता है। जैसा कि स्पष्ट है, इन दोनोंका विभक्तिचिह्न **अस्** है। इसका अपवाद हम केवल अकारान्त शब्दोंके रूपोमे पाते है, जहाँ पञ्चमीमे **आत्** तथा षष्ठीमे **स्य** विभक्तिचिह्न पाये जाते है। पञ्चमीके इस **आत्** को हम प्रा० भा० यू० ***ओद्** [तथा ***एद्**] से जोड़ सकते है। यह ***ओद्**, **आद्** के रूपमे लैतिनमे भी पाया जाता है। ग्रीकमे वस्तुतः पञ्चमी [Ablative] का ही अभाव है[1]। लैतिनमे तो सम्भवतः यह स्त्रीलिंग शब्दोंमे भी पाया जाता होगा। लैतिनके **'मेन्साद्'** [mensad] [टेबुलसे], **अन्नोद्** [annod] [वर्षसे], इन उदाहरणोसे स्पष्ट है कि संस्कृतके **'देवात्–द्'** के

१. देखिए परिशिष्ट ख।

सदृश विभक्तिचिह्न वहाँ पाया जाता है[1]। षष्ठीके एकवचनमें प्रा० भा० यू० में *एस् तथा *ओस् विभक्तिचिह्नकी कल्पना की गई है, जो पञ्चमीका भी विभक्तिचिह्न था। संस्कृतका 'अस्' विभक्तिचिह्न इसीसे विकसित हुआ है, जो **हरेः** [**हरि + अस्**], **विष्णोः** [**विष्णु + अस्**] मे स्पष्ट है। यहाँ यह रूप पञ्चमी तथा षष्ठी दोनोंके एकवचनमें पाया जाता है। संस्कृत अकारान्त शब्दोके षष्ठी एकवचनका **स्य** विभक्तिचिह्न वस्तुतः सर्वनाम शब्दों के षष्ठी एकवचनका विभक्तिचिह्न था। धीरे-धीरे **तस्य, यस्य** के सादृश्य **देवस्य** आदि रूपोंका विकास हुआ है। षष्ठीका विभवितचिह्न **स्** के रूपमे ग्रीक तथा लैतिनमे भी विकसित हुआ है:—ग्रीक, **खोरास्** [khōras] [देशका], **पोलिओस्** [polios] [पुरीका, सं० पुरः, पुर्याः], लैतिन, **मेन्सास** [mensas] [टेबुलका], **सिउइस्** [ciuis] [नागरिकका]। यह संस्कृत पञ्चमी-षष्ठी विभक्तिचिह्न **अस्** इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंमें यह एः तथा **ओः** रूप धारण कर लेता है। ऋकारान्त शब्दोंमें यह **उः** [**सं० पितुः**] पाया जाता है।

सप्तमी एकवचनका चिह्न '**इ**' है। यह '**इ**' विभक्तिचिह्न **मनसि, नरि, विशि, तन्वि** में तथा **दूरे**, हस्ते, **देवे** [**अ + इ = ए**] मे स्पष्ट है। हलन्त शब्दोंके सप्तम्यैकवचन रूपोंमें भी यह '**इ**' विभक्तिचिह्न पाया जाता है। इस 'इ' का विकास कहीं-कहीं ग्रीक भाषामें भी मिलता है, यथा ग्रीक **पोलि** [poli] [**सं० पुरि**] वैदिक संस्कृतमें कई ऐसे सप्तम्यन्त [एकवचन] रूप भी मिलते हैं, जिनमे कोई विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता। वस्तुतः इन रूपोंमें "शून्य-विभक्तिचिह्न" [zero-inflexion] होता है। वैदिक भाषामें इकारान्त, उकारान्त, ईकारान्त तथा 'अन्' अन्तवाले शब्दोंके सप्तमी एकवचनके रूपोंमें कोई ध्वन्यात्मक विभक्तिचिह्न [phonetic inflexion] नहीं पाया जाता, उदाहरणके लिए, "**परमे व्योमन्**" यहाँ

1. Atkinson : Crek Language p- 82.

व्योमन् वस्तुतः सप्तम्यैकवचनान्त रूप है, जो लौकिक संस्कृतमे **व्योम्नि** बन जाता है। कुछ ऐसे भी हलन्त शब्दोके सप्तमी ए० व० रूप है, जो शून्य रूपोसे लगते हैं, यथा **अहर्**। इन **अर्** अन्तवाले रूपोंको सप्तम्यन्त माना जाय, या **स्वर्** की भाँति केवल क्रियाविशेषण ? वस्तुः ये सभी शून्य रूपवाले अथवा शन्य विभक्तिचिह्न रूप आरम्भमे क्रियाविशेषण ही थे। बादमे आकर इनके साथ भी सुप् प्रत्यय इ का प्रयोग होने लग गया होगा। किन्तु **अन्** अन्तवाले शब्दोमे भारत-ईरानी वर्गतक यह **इ** का प्रयोग नही पाया जाता। वेदोमे यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, यथा **अहन्**, **अश्मन्** जो सप्तम्यन्त रूप है। वैदिक भाषामे ईकारान्त तथा ऊकारान्त [स्त्रीलिंग] शब्दोके सप्तमी एकवचन रूपोमें "शून्य" [O] विभक्तिचिह्न पाया जाता है, यथा **नदी, तनू, चमू**। इन रूपोंको आकारान्त शब्दोके रूपोके सादृश्यपर जनित माना जा सकता है। उदाहरणके लिए संस्कृत **दम** शब्दका सप्तमी एकवचनका **दमे** तथा बहुवचनका **दमेषु** रूप होता है; इसी आधारपर ये रूप यो बने होगे—

दमे : दमेषु : : नदी : नदीषु : चमू : चमूषु : : तनू : तनूषु

संस्कृत इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोके रूपोमें पाया जानेवाला **औ** [**हरौ, भानौ**] प्रा० भा० यू० न होकर भारत-ईरानी वर्गकी विशेषता है। यह ***औ** अवेस्तामें **ओ** तथा **अव** के रूपमे पाया जाता है। यह ***औ** विभक्तिचिह्न आरम्भमे केवल उकारान्त शब्दोकी ही विशेषता थी, तथा इकारान्त शब्दोका विभक्तिचिह्न ***आइ** रहा होगा। धीरे-धीरे सादृश्यके आधारपर **अग्नौ, गिरौ, इष्टौ** मे भी यह चिह्न पाया जाने लगा। इस ***आइ** का संकेत हम वैदिक संस्कृतके कुछ सप्तमी ए० व० रूपोमे, जैसे **श्रुता, अग्ना** मे पा सकते हैं, जहाँ यह चिह्न ध्वनिपरिवर्तनके कारण केवल 'आ' रह गया है। इनका प्राचीन रूप हम ***श्रुताइ**, ***अग्नाइ** मान सकते हैं[1]।

१. Bloch : L'Indo-Aryen P. 119.

सप्तमी विभक्तिके एकवचनमे स्त्रीलिंग रूपोंमें एक और विभक्ति चिह्न पाया जाता है;—"**आम्**"। यह **आम्** आकारान्त, साथ ही ह्रस्व एवं दीर्घ इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू० ***आइ [आ + इ]** से मानी जा सकती है, जिसका प्रयोग आकारान्त शब्दोंमें पाया जाता था। यह ***आइ** विभक्तिचिह्न भारत-ईरानी वर्गमें आकर ***आया** के रूपमें विकसित हुआ, तथा अवेस्तामें "**अय**" के रूपमें पाया जाता है।[1] संस्कृतमें आकर इसमे **अम्** जोड़ दिया गया है, और इस तरह यह विभक्तिचिह्न ठीक उसी तरह **आयां [आया + अम्]** बन गया है, जैसे अवेस्ताका तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी द्विवचनका विभक्ति-चिह्न **ब्य** [bya] संस्कृतमें **भ्याम्** हो गया है। सप्तमी एकवचनके ये रूप दोनों भाषाओंके इन समानान्तर उदाहरणोंमें देखे जा सकते हैं:—

सं० **ग्रीवायाम्**, अवेस्ता **ग्रीवय** [grīwaya]

संबोधन एकवचनके रूपोंमें प्रायः शून्य विभक्ति रूप ही पाया जाता है। संस्कृत अकारान्त शब्दोंके इन रूपोंमें शून्य विभक्तिचिह्न पाया जाता है। किन्तु ग्रीकमें इनके समानान्तर ओकारान्त शब्दोंके संबोधनके एकवचन रूपोंमें ए [e] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, यथा लोगे [loge] [हे शब्द]। किन्तु अन्य अन्तवाले ग्रीक शब्दोंके इस विभक्तिके ए० व० रूपोंमें कोई चिह्न नहीं पाया जाता, जब कि संस्कृतके आकारान्त शब्दोंके रूपोंमें 'ए' अन्तवाले रूप [**सं० रमे = रमा + इ**], इकारान्त तथा उकारान्तोंमें **ए** तथा **ओ** अन्तवाले रूप [**हरे ∠ *हरि + आ = *हरा + इ**[2]], [**भानो ∠ *भानु + आ = *भाना + उ**[2]], तथा ईकारान्त रूपोंमें दीर्घ ईकारका ह्रस्व **इ** पाया जाता है, [**देवि, नदि**]। हलन्तोंमें ये रूप प्रायः मूल रूप या

1. Wackernagel : Altindische Grammatik Vol. III. P. 43 §16 [i]

२. वर्णविपर्यय हो गया है।

शून्य विभक्तिचिह्न युक्त ही पाये जाते हैं। लैतिन भाषाके संबोधन एक-वचन रूपोंमें केवल कुछ ही शब्दोंके साथ ए विभक्तिचिह्न पाया जाता है। इस सम्बन्धमें '—वन्त' शब्दोंमें सम्बोधन एकवचन रूपोंमें प्रायः 'स्' पाया जाता है, यथा इन रूपोंमें—चिकित्व·, ऋतत्व, ओजीयः।

द्विवचन रूप

संस्कृतके द्विवचन रूप भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे देखा जाय, तो आठ विभक्तियोंमें केवल तीन ही तरहके पाये जाते हैं। प्रथमा, द्वितीया तथा संबोधनमें औ विभक्ति चिह्न [यथा, देवौ], तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमीमें भ्याम् विभक्तिचिह्न [यथा, देवाभ्याम्], षष्ठी तथा सप्तमीमें योः विभक्ति-चिह्न [यथा, देवयोः] पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि द्विवचन संस्कृतमें एक भिन्न वचनके रूपमें पाया जाता है, फिर भी रूपोंकी बहुलता तथा समस्त विभक्तियोंमें अलग-अलग रूपोंका न होना, भविष्यमें द्विवचन-के लोपका पूर्वचिह्न कहा जा सकता है। लैतिनमें तो यह द्विवचन सर्वथा लुप्त हो गया है। लिथुआनियन, गॉथिक तथा प्राचीन ग्रीकमें इसके चिह्न मिलते हैं। ग्रीकमें भी संस्कृतकी भाँति द्विवचनके रूप संकुचित ही हैं। सारी छः विभक्तियोंमें केवल दो ही द्विवचन रूप पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए 'लोगोस्' [logos] शब्दके प्रथमा [nominative], द्वितीया [accusative], तथा संबोधन [vocative] के द्विवचनके रूपोंमें लोगो [logō]; तथा शेष विभक्तियोंके रूपोंमें लोगोइन् [logoin] रूप पाये जाते हैं। द्विवचनका रूप वस्तुतः प्रा०भा०यू० में बहुत कम रहा होगा। इसका प्रयोग उन दो वस्तुओंके लिए पाया जाता होगा जो युग्मोंमें पाई थी[1]। दो हाथ, दो पैर, दो कान, दो आँखके युग्मोंके आधारपर द्विवचनका जन्म हुआ। धीरे धीरे वैदिक संस्कृतमें उन दो देवताओंके लिए भी

---

1. Otto Jespersen : The Philosophy of Grammar P. 205.

यह द्विवचन प्रयुक्त होने लगा, जो युग्म रूपमें आहूत किये जाते थे, **मित्रावरुणा, नासत्या, अश्विना, इन्द्राग्नी, द्यावापृथिवी**। आगे जाकर माता-पिता, पति-पत्नी, आदिके युग्मके लिए भी **पितरौ, दम्पती** जैसे द्विवचनान्त रूपोंका प्रयोग होने लगा। इसके बाद तो द्विवचनका प्रयोग किन्हीं दो चीजोंके भाव-बोधनके लिए होने लगा।

संस्कृतके अकारान्त तथा हलन्त शब्दोंमें **आ [औ]** विभक्तिचिह्नका प्रयोग प्रथमा, द्वितीया तथा संबोधनमें पाया जाता है। यह **आ** प्रा० भा० यू० ***ओ** [व्] से विकसित हुआ है, जो ग्रीकमें **ओ** [Ō] तथा भारत-ईरानी वर्गमे **आ** पाया जाता है। उदाहरणके रूपमें हम इन द्विवचन रूपों-को ले सकते हैं; वैदिक संस्कृतके रूप—**नासा, नरा, श्वाना, पदा [पादौ], पितरा [पितरौ], बृहन्ता, हस्ता [हस्तौ]**[1] इस संबंधमें यह कह दिया जाय कि अवेस्तामें जहाँ आकारान्त शब्दोंके इन विभक्तियोंके द्विवचन रूपोंमें **ओ** पाया जाता है, वहाँ हलन्त शब्दोंके इन रूपोंमें **आ** पाया जाता है, यथा—

अवेस्ता	**जस्तो** [zasto]	वै० संस्कृत	**हस्ता [हस्तौ]**
,,	**स्पान** [spana][2] [***स्पाना**]	,,	**श्वाना**
,,	**नर** [nara][3] [***नरा**]	,,	**नरा**

इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोकी इन विभक्तियोंके द्विवचन रूपोंमें **ई** तथा **ऊ** अन्तवाले रूप पाये जाते हैं। इन्हें हम प्रा० भा० यू० 'श्वा'

१. ये सब वैदिक संस्कृतके रूप हैं। लौकिक संस्कृतमें विभक्ति चिह्न सदा 'औ' होता है।

२. अवेस्तामें यह द्विवचन चिह्न 'आ' ह्रस्व होकर अ के रूपमें पाया जाता है जैसे नर [*नरा], स्पान [*स्पाना]। कुछ विद्वानोंके मतानुसार यह अवेस्ता ग्रन्थकी लिपिकी विशेषताके कारण हो गया है, वस्तुतः यह दीर्घ [आ] ही है।

*'अ' *[ा] से विकसित मान सकते हैं। पती, अग्नी, बाहू, भानू में यह दीर्घत्व पाया जाता है। आकारान्त शब्दोंमें ए अन्त वाले रूप पाये जाते हैं, जो प्रा० भा० यू० *अइ का विकसित रूप है। यह रूप संस्कृतके यमे, उर्वरे, ऊभे में पाया जाता है। नपुंसकलिंग शब्दोंमे [अकारान्तको छोड़कर] ई का प्रयोग पाया जाता है, यथा वचः से वचसी। इकारान्त, उकारान्त तथा ऋकारान्त नपुंसक शब्दोंके इन रूपोंमें बीचमें 'न्' अन्तःप्रत्ययका प्रयोग होता है, तथा अक्षि-णी; मधुनी, जानुनी, कर्तृणी।

तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमीका विभक्तिचिह्न भ्यां है। अवेस्तामें इसका ब्यम् तथा ब्या [*भ्यां] रूप पाया जाता है। प्राचीन फारसीमें आकर यह रूप बिया हो गया है। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें बता आये हैं, प्रा० भा० यू० में *"भ्" के साथ ही ऐसे सुप् प्रत्ययोंमें *"म्" वाले रूप भी पाये जाते थे, तथा ये *म् वाले रूप बाल्तो-स्लाविक-वर्गकी भाषाओंमें विकसित हुए हैं। इस सम्बन्धमें अवेस्ता तथा संस्कृतके रूप विशेष समीप हैं यथा संस्कृत पितृभ्याम्, अवेस्ता नरब्य [narabya] [सं० नराभ्यां नृभ्यां;]; ब्रवत्ब्यम् [brawatbyam] [सं० भ्रुवद्भ्याम्]। अवेस्तामे किन्हीं शब्दों [प्रायः अकारान्त शब्दों] के इन रूपोंमें स्वरको दीर्घ करनेके स्थानपर ध्वनियुग्म [diphthong] का प्रयोग पाया जाता है; जब कि संस्कृतमें मूल शब्दका अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है; संस्कृत हस्ताभ्याम्, अवेस्ता जस्तएब्य [zastaebya], प्राचीन फारसी दस्तइबिय [dastaibiya]।

संस्कृतमें षष्ठी तथा सप्तमी द्विवचनका विभक्ति चिह्न ओस् [अयोः] दो प्रा० भा० यू० विभक्ति चिह्नोंका सम्मिलित रूप माना जाता है। भारत-ईरानी *अउ, अवेस्ता ओ तथा भारत-ईरानी *आस् अवेस्ता अस्, जो क्रमशः सप्तमी तथा षष्ठीके विभक्तिचिह्न हैं, प्राचीन संस्कृतमें अयोः के रूपमें विकसित हो गये थे। अतः इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू०—*[ओष्],

*ओइस् से मानी जाती है[1]। यह विभक्तिचिह्न ग्रीककी विभाषाओंमें ओइओइस् [oiois] के रूपमें विकसित हुआ है।

जैसा कि हम अष्टम परिच्छेदमे देखेंगे भारतीय आर्य भाषाओंमें प्राकृत-कालमें आकर द्विवचन सर्वथा लुप्त हो गया है। वहाँ द्विवचनका स्थान बहुवचनने ले लिया है। लौकिक संस्कृतमें द्विवचन अवश्य पाया जाता है।

बहुवचन रूप

लौकिक संस्कृतमें प्रथमा बहुवचनमे 'अः' [अस्] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है। वैदिक संस्कृतमें अकारान्त शब्दोंमें प्रथमा बहुवचनमें 'असः' विभक्तिचिह्न भी पाया जाता है, यथा देवासः [देव + असः] में। संस्कृतके इस अस् को प्रा० भा० यू० *ओस् मे विकसित माना जा सकता है। ग्रीकके प्रथमा बहुवचनमें इ तथा एस् दो तरहके विभक्तिचिह्न वाले रूप पाये जाते हैं। जहाँ तक संस्कृतके असस् वाले रूपका प्रश्न है, उसका संबंध इस एस् से जोड़ा जा सकता है। सोस्यूर तथा ब्रुगमानके मतानुसार संस्कृतके ये दोनों चिह्न प्रा० भा० यू० *ओस्-एस् के विकसित रूप हैं।[2] वैदिक संस्कृतमें अस् तथा असस् वाले दोनों रूप एक साथ पाये जाते हैं, यथा—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठासः [ऋ. वे. ५.५९.६]
अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते [ऋ. ५.६०.५]
हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः [ऋ. १०.९४.१]
हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन् [अथ. वे. ४.३१.१]

हलन्त शब्दरूपोंमें केवल अस् विभक्तिचिह्न ही पाया जाता है, जो उसी प्रा० भा० यू० चिह्नका रूप है, यथा आपः, श्रीमन्तः। यह अस् अकारान्त

1. Wackernagel: Altindische Grammatik. Vol. III p. 57 § 32 [C]

2. Wackernagel: Altindische Grammatik p.101§41[d]

तथा अकरान्त शब्दोंके अतिरिक्त अन्य अजन्तोंमें भी पाया जाता है, यथा गिरयः, भानवः, गावः, नावः। प्रथमा बहुवचनकी दृष्टिसे नपुंसकलिंगके रूपोंका विशेष भाषावैज्ञानिक महत्त्व है। लौकिक संस्कृतमें इनमें इ विभक्ति-चिह्न पाया जाता है, जिसके पूर्व एक अनुनासिक [न] अन्तःप्रत्ययका समावेश पाया जाता है। इस प्रकार अजन्तोंमें,—"....आनि",.."ईनि" "....ऊनि" "....ऋणि"[1] अन्त वाले रूप पाये जाते हैं। इन रूपोंको हम प्रथम कोटिके नपुंसक प्रथमा बहुवचन रूप मानते हैं। द्वितीय कोटिमें वे शब्द आते हैं, जो हलन्त हैं। इनके प्रथमा द्वितीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न भी इ ही है तथा उसमें भी अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है,—आनि, अञ्चि, अन्ति[2]। जिन नपुंसक हलन्त शब्दोंमें पदान्त व्यञ्जनके पूर्व कोई अनुनासिक तत्त्व होता है, वहाँ प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें पदान्त व्यञ्जनके पूर्व अनुनासिक तत्त्वका समावेश कर दिया जाता है,—"आंसि [यथा पयस्, पयांसि], ईंषि [हविष्, हवींषि], ऊंषि [धनुष्, धनूंषि], यह तीसरी कोटि है। चौथी कोटिमें शक्, युज् जैसे हलन्त शब्द आते हैं, जिनके शङ्कि, युञ्जि जैसे रूप बनते हैं। ये पहले तृतीय कोटिमें ही रहे होंगे।

वैदिक संस्कृतके नपुंसक लिंगके प्रथमा तथा द्वितीया बहुवचन सर्वथा भिन्न रूपमें मिलते हैं। प्रथम कोटिके रूपोंमें नि के प्रयोगके साथ साथ केवल आ, ई, ऊ अन्तवाले रूप भी मिलते हैं, जिनमें नि विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता, तथा 'नामानि गुह्या [९.४१.५] अप्रती वृतानि [१.१६५.७]; उरू वरांसि [१०.८९.२]। द्वितीय कोटिके शब्दोंमें वेदमें आ तथा आनि दोनों अन्तवाले रूप पाये जाते हैं, यथा नामा, नामानि। वैदिक संस्कृतमें तृतीय कोटिके रूप तो पाये जाते हैं, पर चतुर्थ कोटिके नहीं। अतः वैदिक संस्कृतके रूपोंको दो कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है:—
[१] हलन्त शब्दोंके रूपोंमें इ विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जैसे

---

१. यथा, ज्ञानानि, वारीणि, मधूनि, कर्तॄणि।
२. यथा नामानि, प्रत्यञ्चि, जगन्ति।

चत्वारि; [२] अजन्त शब्दोंमें प्रायः अंतिम स्वर ध्वनिको दीर्घ कर दिया जाता है; किन्तु कभी इ, उ ह्रस्व रूप भी पाये जाते हैं; यथा भूरि वृतानि ['भूरीणि वृतानि', के स्थानपर]। इनके अतिरिक्त नि [न् + इ] वाले रूप भी पाये जाते हैं; जो संभव है, हलन्त शब्दोंके सादृश्यपर बने होंगे, क्योंकि अन्य भाषाओंमें इनका कोई चिह्न नहीं मिलता। यह 'इ' अवेस्तामें पाया जाता है, सं० नामानि, अवे० नाम्अनि [namәni]। यूरोपीय आर्य भाषाओंमें यह इ नहीं मिलता, इसके स्थानपर अ मिलता है, यथा ग्रीक ओनोमत [onomata], लै० नोमिन [nomina] गॉथिक, नम्न [namna]। यह तथ्य इस बातका संकेत करता है कि प्रा० भा० यू० में नपुंसक लिंग शब्दोंके प्रथमा-द्वितीया बहुवचनका चिह्न "श्वा"—[*अ] [*ә] रहा होगा। संस्कृतमें इस विभक्तिचिह्नमें जो 'न्[+ इ]' पाया जाता है, वह संभवतः उन शब्दोंके रूपोंके आधारपर जोड़ा जाने लगा होगा, जिनमें मूल रूपमें अनुनासिक ध्वनि अन्तमें थी; यथा नाम [न्]— नामानि : : फल—फलानि। इस प्रकार नामानि के सादृश्यपर फलानि रूप बने होंगे। धीरे धीरे यह न्, इ में जुड़कर नि के रूपमें एक विभक्तिचिह्न ही बन गया। आरंभमें आ, ई, ऊ रूप इसी 'श्वा' [ә] के कारण पाये जाते हैं, धीरे-धीरे इनमें भी 'नि' जोड़ा जाने लगा।

संस्कृत अजन्त पुल्लिग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें "आन्" विभक्तिचिह्न पाया जाता है। हलन्तोंमें यह विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता, वहाँ द्वितीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न "अस्" है, जो प्रथमा बहुवचनमें भी पाया जाता है। स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें भी यह विभक्तिचिह्न "अस्" [स्] के रूपमें ही पाया जाता है। इस प्रकार संस्कृतमें "आन्" विभक्ति-चिह्न केवल अजन्त पुल्लिग शब्दोंकी ही विशेषता है। किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यह चिह्न प्रा० भा० यू० से स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें भी प्रयुक्त होता रहा होगा। इस विभक्तिचिह्नका विकास प्रा० भा० यू० *म्स् या *न्स् [*ms, *ns] से माना जा सकता है : ग्रीकमें जाकर द्वितीया बहुवचनका

यह विभक्तिचिह्न अस् के रूपमें विकसित हो गया; यथा ग्रीक पतरस् [pater-as] [सं० पितृन्] ।

संस्कृतमें अजन्त स्त्रीलिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनमें एक विशेषता पाई जाती है, जो संस्कृतमें बादमें उत्पन्न हुई है, किन्तु इसके बीज हम प्रा० भा० यू० में ही पा सकते हैं। संस्कृतके इन स्त्रीलिंग शब्दोंमें हम देखते हैं कि द्वितीया बहुवचनमें न् अन्तवाले रूप नहीं पाये जाते। वहाँ आः, ईः, ऊः, ॠः, [यथा रमाः, रुचिः, उरूः, मातृः] अन्तवाले रूप पाये जाते हैं। अन्य भारोपीय भाषाओंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि प्रा० भा० यू० ईन्, ऊन्, ॠन्, का प्रयोग स्त्रीलिंग शब्दरूपोंमें रहा होगा। प्रा० भा० यू० *ओ, *ओ–कारान्त शब्दोंमें जिनसे संस्कृतमें क्रमशः पुल्लिग अकारान्त तथा स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दोंका विकास हुआ है, द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें परस्पर भेद था। पुल्लिग शब्दोंके रूपोंमें *न्स् विभक्तिचिह्नका प्रयोग रहा होगा, जब कि स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें अनुनासिक तत्त्वका अभाव रहा होगा, तथा कोरा *'स्' विभक्तिचिह्न ही प्रयुक्त होता होगा। यही विभक्तिचिह्न ग्रीकमें आस् तथा गॉथिकमें ओस् के रूपमें विकसित हुआ है। किन्तु इकारान्त, उकारान्त ऋकारान्त शब्दोंके रूपोंमें ऐसा विभक्तिचिह्न प्रयुक्त नहीं होता था, तथा उनमें न् वाले रूप ही प्रचलित थे। बादमें संस्कृतमें आकर आकारान्त रूपों के सादृश्य पर इन स्त्रीलिंग शब्दोंसे भी न् वाले रूप हटा दिये गये[1]।

तृतीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न भिस् है। अकारान्त शब्दोंमें यह विभक्तिचिह्न ऐः भी पाया जाता है। यह विशेषता अवेस्तामें भी पाई जाती है, जहाँ तृतीया बहुवचनमें 'बिश्' [biš] तथा 'अइश्' [aiš] दोनों विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं, यथा सं० मर्त्यैः, मर्त्येभिः; अवेस्ता मश्यइश् [mašyaiš] प्राचीन फारसी मर्तियइबिश् [martiyaibis] । होमरकी ग्रीकमें इस भिस् के समानांतर फि रूप मिलता है, बादकी ग्रीकमें

१. Wackernagel. Altindische Grammatik. vol III.p. 59§25.

आकर यह तृतीया विभक्ति लुप्त हो गई है। होमरमें 'नउफि' [nauphi] रूप पाया जाता है, जो संस्कृतमे **नौभिः** है। **भिस्** के संबंधमें एक बात यह बता दी जाय कि अकारान्त शब्दोंमे इसका रूप **एभिस्** [**देवेभिः**] पाया जाता है। यह ए वस्तुतः सर्वनामोंमे प्रथमा बहुवचनमे पाया जाता है [**सर्वः, सर्वे**]। यह ए बहुवचन-मात्रका बोधक समझा जाकर **एभिः, एभ्यः** के रूपमे तृतीया, चतुर्थी-पञ्चमीके बहुवचनके रूपोमे जोड़ा जाने लगा। इसी प्रकार द्विवचन रूपोंके **भ्याम्** मे भी **आ** जोड़कर **आभ्याम्** विभक्तिचिह्न बना दिया गया, जहाँ **आ** [**देवः, देवा**] ठीक उसी तरह द्विवचनका बोधक माना गया, जैसे ए बहुवचन का। किन्तु ये वैकल्पिक प्रयोग केवल अकारान्त शब्द रूपोमें ही वैदिक संस्कृतमे पाये जाते हैं। अन्य शब्दोंमे केवल **भ्याम्, भिस्, भ्यस्**, [**विष्णुभ्यां, विष्णुभिः, विष्णुभ्यः**] का ही प्रयोग होता है। जैसा कि हम बता आये है, वेदमे अकारान्त शब्दोमे **देवैः** तथा **देवेभिः** जैसे दोनों रूप पाये जाते हैं। ऋग्वेदमे दोनों रूपोका समान प्रयोग पाया जाता है, किन्तु अथर्ववेदमे आकर **एभिः** वाले रूप कम हो गये हैं। तैत्तरीय संहिता [यजुर्वेद] के गद्यभागमे 'एभिः' के रूपोका सर्वथा अभाव है। लौकिक संस्कृतमे आकर ये रूप सर्वथा लुप्त हो गये है। वेदसे इन वैकल्पिक रूपोके ये उदाहरण दिये जा सकते है :—

> **यात अश्वेभिरश्विना** [ऋ० ६.५.७]
> **आविस्यंर्यातमश्विना** [ऋ० ६.३५.१३]
> **अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिः** [ऋ० १०.१४.५]
> **अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह** [अ० वे० २६.१.५६]

चतुर्थी-पञ्चमीका बहुवचन विभक्तिचिह्न **भ्यस्** है, जो अकारान्त शब्दोंके पूर्व **एभ्यः** पाया जाता है; इसे हम ऊपर स्पष्ट कर चुके है। ग्रीकमे यह रूप नही मिलता, क्योंकि वहाँ पञ्चमी विभक्ति नही पाई जाती, चतुर्थी बहुवचनके चिह्न वहाँ '**अइ**', '**एइ**' दो तरह के हैं। लैटिनमें इसका रूप **बुस** मिलता है, यथा **पत्रि-बुस्** [patri-bus] [**सं० पितृभ्यः**]। बाल्तो-स्लला-

विकमें 'भ्' के स्थानपर म्—[मुस्] रूप पाया जाता है। इसका प्रा० भा० यू० रूप *भोस् माना जा सकता है। इस संबंधमें कह दिया जाय कि तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमीके द्विवचन तथा बहुवचनके सुप् चिह्नोंमें वास्तविक विभक्त्यंश भि है। यही भि, भ्याम् [भि + आम्], भ्यः [भि + अस्] के रूपमें पाया जाता है।

षष्ठी बहुवचनका विभक्तिचिह्न आम् है, जो प्रा० भा० यू० *ओम् से विकसित हुआ है। अवेस्तामें यह अम्, ग्रीकमें ओन् [ōn] तथा लैतिनमें उम् [um] के रूपमें पाया जाता है। संस्कृतके अदन्त शब्दोंमें यह आम् अनुनासिक अन्तःप्रत्ययसे युक्त होकर नाम् के रूपमें मिलता है। इन शब्दोंके षष्ठी बहुवचन रूपोंमें मूल शब्दकी अंतिम स्वर ध्वनि दीर्घ हो जाती है—देवानाम्, हरीणाम्, भानूनाम्, पितृणाम्। अवेस्तामें भी अदन्त शब्दोंके रूपोंमें यह 'नम्' पाया जाता है, जब कि हलन्त शब्दोंके रूपोंमें केवल अम् ही पाया जाता है।

सं० गिरीणाम्	अवे०	गइरिनम्	[gairinam]
अपाम्		अपम्	[apam]
बृहताम्		ब्अर्ज़तम्	[bərəzatam]

सप्तमीका बहुवचन विभक्तिचिह्न सु है। यह विभक्तिचिह्न अवेस्ता तथा प्राचीन फारसीमें सु, षु तथा हु के रूपोंमें पाया जाता है। ग्रीकमें यह विभक्तिचिह्न सि [si] पाया जाता है; जो प्रायः चतुर्थी बहुवचन [Dative plural] के अर्थमें प्रयुक्त होता है। वस्तुतः यह सप्तमीका ही रूप है, जो चतुर्थीमें घुल-मिल गया है। प्राचीन चर्च स्लॉविक [सतं वर्गकी एक भाषा] में यह विभक्तिचिह्न शु के रूपमें मिलता है। इस तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट है कि सप्तमी बहुवचन का प्रा० भा० यू० चिह्न *स् था। इस *स् में बादमें ग्रीकमें इ [स् + इ = सि], तथा सतं वर्गकी भाषाओंमें उ [स् + उ = सु] जोड़ दिया गया। थुर्नेसन नामक पाश्चात्य विद्वान्के मतानुसार ये इ, उ वस्तुतः सामीप्य तथा दूरताको बतलानेवाले अव्यय थे,

जिनका प्रयोग सप्तम्यन्त रूपोंके साथ हुआ करता था। धीरे-धीरे ये सप्त-म्यन्तके अंग बनकर एक ओर सि तथा दूसरी ओर सु के रूपमें विकसित हो गये।[1] संस्कृतमें यह 'सु' इ, उ, ए, कण्ठय ध्वनि तथा रेफसे परे होनेपर षु के रूपमें पाया जाता है। अ तथा आके परे होनेपर यह सु ही रहता है, यथा देवेषु, हरिषु, भानुषु, पितृषु; पयःसु, रमासु,।

सम्बोधन ब० व० के रूप संस्कृत में ठीक वही हैं, जो प्रथमा ब० व० में पाये जाते हैं।

विशेषण

संस्कृतमें विशेषणके रूप संज्ञा शब्दोंकी तरह ही चलते हैं। विशेषण शब्द सदा अपने विशेष्यके लिंग एवं वचनका वहन करता देखा जाता है, यथा, कृष्णः सर्पः, कृष्णा सर्पिणी, रक्तो घटः, रक्तः पटः, नीलं नभः, नीलं वस्त्रं आदि में। तुलनाबोधक रूपोंमें संस्कृतमें इनके साथ तरप्, तमप्, ईयस्, इष्ठ प्रत्यय जोड़े जाते हैं। संस्कृत शब्द-रचनाका संकेत करते समय हम इन दोनों तरहके प्रत्ययोंका संकेत कर आये है। यहाँ सोदाहरण विवेचन किया जा रहा है।

१ [अ] तर-तम [तरप्—तमप्], ये दोनों तुलनाबोधक तद्धित प्रत्यय हैं। इनमेंसे प्रथम 'तरप्' प्रत्यय दो वस्तुओंकी तुलना कर किसी एककी उत्कर्षता द्योतित करता है। ग्रीकमें इसका—तॅरॉ—रूप मिलता है, जो पिस्तोतॅरॉस् [pistoteros], अलेथेस्तॅरॉस् [alethesteros] में पाया जाता है। लैटिनमें इसका—तॅर—' रूप मिलता है, जो नॉस्तॅर [noster], डॅक्स्तॅर [dexter] में पाया जाता है। यही—तरप् प्रत्यय सार्वनामिक रूप 'कतरः' में मिलता है। थुम्बने सं० अन्तर ले० इन्तेर [इन्तेरिओर], अं० इंटर, इन्टीरिअर [inter,interior], ग्रीक एँन्तॅर [en tera]; सं० इतर,

१. Wackernagel : Altindische Grammatik vol. III p. 72-73 § 29 [c]

लै० **इतेरुम्** [iterum], तथा संस्कृत क्रियाविशेषण '**नितराम्**' तकका सम्बन्ध इसी '**तर[प्]**' से जोड़ा है[1] । इसके उदाहरण निम्न हैं:—

दूरतर, प्रियतर, विलोलतर, शुचितर, धनितर, [धनिन्–] **धर्मबुत्तर** [धर्मबुद्ध–], **प्रत्यक्तर** [प्रत्यञ्च्–], **सुमनस्तर** [सुमनस्–], **उदर्चिष्टर** [उदर्चिष्–], **सत्तर** [सन्त्–] **भगवत्तर** [भगवन्त्–], **विद्वत्तर** [विद्वांस्–]।

१ [आ] **तमप्** [तम] की उत्पत्ति प्रा० भा० यू० ***तॅमो** से मानी जा सकती है। जैसा कि हम पहले संकेत कर आये है **तरप्, तमप्** [तर, तम] में वस्तुतः दो प्रत्ययोंका मेल है:—**त + र = तर, त + म = तम** । त प्रत्ययका सम्बन्ध संस्कृत '**त**' [क्त] प्रा० भा० यू० ***तॅा** [स्] से जोड़ा जाता है। र तथा **म** भी दो स्वतन्त्र प्रत्ययके रूपमें पाये जाते हैं, जिनका विकास संस्कृत तथा यूरोपीय क्लैसिकल भाषाओं दोनोंमें देखा जाता है। सं० **अधर** [नीचा], लै० **इन्फेरि** [inferi]; गॉ० **उन्दर** [undar] अंग०, **अन्डर** [under],सं० अधम, लै०इन्फिमुस् [infimus], सं० **अपर, गॉथिक अफ़र** [afar],सं० **अपम–**,सं० **अवर, अवम–**, ग्रीक **हुपॅरोस्** [huperos] लै० **सुपरि** [superi], अंग० **सुपर** [super], लै० **सुम्मुस्** [summus] [मि० अं० [summit] गॉ० **उफ़रो** [ufaro], सं० **परम, मध्यम, चरम**, में ये दोनों प्रत्यय पाये जाते हैं[2] । **तम**–[**तमप्**] प्रत्यय लै० में '**तिमुस्**' तथा गॉथिकमें '**तुम**' पाया जाता है। सं० **अन्तम**, लै० **इन्तिमुस्** [intimus], **उल्तिमुस्** [ultmius] [मि० अंगरेजी, **अल्टिमेटम** [ultimatum]], गॉथिक, **अफ्तुम्** [aftum] [अन्तिम], **इफ्तुम** [iftum] [अन्तिम]।

1. Thumb : Handbuch des Sanskrit. [Formenlehre] § 388 p. 267.

2. Thumb : Handbuch des Sanskrit §388 [footnote] p. 260.

तम—के उदाहरण निम्न हैं;—

क्रूरतम, प्रियतम, विलोलतम, शुचितम, धनितम, [धनिन्—], **धर्म-भुत्तम** [धर्मबुध्—], **प्रत्यक्तम** [प्रत्यञ्च्], **सुमनस्तम,** [सुमनस्—] **उदर्चिष्टम** [उदर्चिष्], **सत्तम** [सन्त्—], **भगवत्तम** [भगवन्त्—], **विद्वत्तम** [विद्वांस्—]।

तर—, तम—से बने कतिपय संज्ञा शब्द तथा क्रियाविशेषण भी देखे जाते हैं:—**गजतम, उत्तर, उत्तम** [संज्ञा शब्द]; **अतितराम्, प्रतराम्, प्रतमाम्, उच्चैस्तराम्, सुतराम्, सुतमाम्, पचतितराम्, पचतितमाम्** [क्रियाविशेषण]। ये क्रियाविशेषण प्रायः उपसर्गों, अव्ययों तथा क्रिया रूपोंसे बने हैं।

२. [अ] **ईयस्** तथा **इष्ठ** प्रत्ययोका संकेत भी संस्कृत शब्दरचनाके सम्बन्धमे किया जा चुका है। ईयस् का विकास प्रा० भा० यू०—***येस्, *योस्**से माना जाता है। इसके समानान्तर रूप ग्रीक तथा लैतिनमें भी हैं। लैतिनमे इसके **इओर, इउस्** रूप मिलते हैं, **सेनिओर** [सेन्योर] [senior] [अंगरेजी **सीनियर** [senior], **मेलिओर** [मेल्योर] [meliór], **मेलिउस्** [मेल्युस्] [melius] [नपुंसक रूप]। ग्रीकमें इसके **ईओस्, ओस्** रूप मिलते हैं, **हेदीओ** [hēdīo] **हेदीओउस्** [hēdious] ∠ ***हेदी** [य्] **ओ** [स्]—**अ—एस्** [hēdī [y] o [s]-aes] [सं० **स्वादीयस्**], **ब्रादीओ** [bradīo] [सं० **म्रदीयस्**] इसके उदाहरण निम्न हैं:—

अल्पीयस्, वरीयस् [उरु—], **क्षेपीयस्** [क्षिप्र—], **गरीयस्** [गुरु—] **द्रढीयस्** [दृढ—]; **द्राघीयस्** [दीर्घ—], **पटीयस्** [पटु—], **पापीयस्** [पाप—], **प्रथीयस्** [पृथु—], **प्रेयस्** [प्रिय—],**बलीयस्** [बलिन्—], **महीयस्** [महान्त्—] **म्रदीयस्** [मृदु—], **यवीयस्** [युवन्—], **स्थेयस्** [स्थिर—]।

२. [आ] -इष्ठ का ग्रीक रूप-इस्तो [-isto] मिलता है; **क्रतिस्तोस्** [**kratistos**], ओलिगिस्तोस् [oligistos]।

इसके उदाहरण निम्न हैं :—

अल्पिष्ठ, [अल्प], **वरिष्ठ** [उरु-], **क्षेपिष्ठ** [क्षिप्र-] **गरिष्ठ** [गुरु-], **द्रढिष्ठ** [दृढ़-], **द्राघिष्ठ** [दीर्घ-], **पटिष्ठ** [पटु-], **पापिष्ठ** [पाप-], **प्रथिष्ठ** [पृथु-], **प्रेष्ठ** [प्रिय-], **बलिष्ठ** [बलिन्-], **महिष्ठ** [महान्त्-], **म्रदिष्ठ** [मृदु-], **वसिष्ठ** [वसुमन्त्-], **यविष्ठ** [युवन्-], **स्थेष्ठ** [स्थिर-]।

इनके अतिरिक्त कुछ अपवाद रूप भी पाये जाते हैं, जिन्हें थुम्बने 'इर्रेग्यूलर' मा 'देफेक्तिव' माना है।[1]

[**अंतिक**], **नेदीयस्, नेदिष्ठ**।

[**अल्प**], **कनीयस्, कनिष्ठ**।

प्रशस्य, श्रेयस्, श्रेष्ठ, ज्यायस्, ज्येष्ठ।

बहु, भूयस्, भूयिष्ठ,

वृद्ध, वर्षीयस्, वर्षिष्ठ,

संस्कृतमें कतिपय रूप ऐसे भी देखे जाते है, जिसमें एक साथ दो-दो तुलनाबोधक प्रत्यय पाये जाते हैं, यथा,

पापीयस्-तर [पापीयस्तर], **पापिष्ठतर, पापिष्ठतम, श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम**।

सर्वनाम शब्दोंके रूप

सर्वनाम शब्दोंको हम दो प्रकारकी कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं:— [१] वैयक्तिक सर्वनाम [अस्मत्; युष्मत्] [२] विशेषणीभूत सर्वनाम, [यत्, तत्, इदं, एतत् आदि]। इनमें वैयक्तिक सर्वनामोंमें लिंग भेद नहीं पाया जाता, जबकि विशेषणीभूत शब्दोंमे तीनों लिंग पाये जाते है। सभी सर्वनामोंमें संबोधन विभक्ति नहीं होती।

१. Thumb : ibid § 389 p. 269.

संस्कृतके अहम् तथा त्वम् जो वैयक्तिक सर्वनाम शब्दोंके प्रथमा विभक्तिके एकवचन रूप हैं, अवेस्तामें अज़्अम् [azəm] तथा तुवम् [tuwam] के रूपमें पाये जाते है। ग्रीकमें इनके रूप एगो [ego] तथा 'सु' [प्रा० रूप तु] [su 7 *tu] पाये जाते है। इस तुल्नासे स्पष्ट है कि इनमें प्रयुक्त "अम्" वस्तुतः सर्वनामोंका विभक्तिचिह्न है, जो भारत-ईरानी वर्गमें पाया जाता है। संस्कृतमे 'त्वम्' के स्थानपर केवल तु भी पाया जाता है। वैदिक संस्कृतमें यह प्रयोग मिलता है :—आ तू गहि प्र तु द्रव [१.१३.१४]। द्वितीया एकवचनके रूपोंमे मां, त्वां तथा मा, त्वा जैसे वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। अवेस्तामें भी ये वैकल्पिक रूप पाये जाते है :—

मम्, मा [mam, mā]; थ्वम्, थ्वा [θwam, θwā]। तृतीया विभक्तिके एकवचनमें इनके रूप मया एवं त्वया [तुवया] होते हैं। चतुर्थीमें इनमें भ्य [अवे० ब्य] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है: जो संस्कृत तुभ्यं में पाया जाता है, 'अस्मत्' शब्दमे यह 'ह्य' हो जाता है। ऋग्वेदमें कही-कही तुभ्यं, मह्यं के स्थानपर तुभ्य, मह्य रूप भी पाये जाते हैं। अवेस्तामें दोनोंमें 'ब्य' पाया जाता है, यथा तइब्य [taibya], मइब्य [maibya]। किन्तु लैटिनमें मत् के साथ 'ह्' तथा त्वत् के साथ ब विभक्तिचिह्न मिलता है, मिहि [mihi] [सं० मह्यं], तिबि [tibi] [सं० तुभ्यं]। इससे अनुमान होता है कि प्रा० भा० यू० में ही उत्तम पुरुष एकवचन शब्दकी चतुर्थी विभक्ति 'ह्' रही होगी, तथा मध्यम पुरुषकी 'भ'। पञ्चमीमें इनमें

अत् पाया जाता है। प्रा० भा० यू० में इसका रूप *ऐत् [ēt] था, जो संस्कृतमें *आत् होना चाहिए था। अतः संस्कृतके मत्, त्वत् रूपोंको *मात्, *त्वात् जैसे कल्पित रूपोंसे विकसित समझना चाहिए। तब, मम जैसे षष्ठी एकवचनके रूप भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है। ग्रीकमें इनके रूपोंमें ओस् विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, यही चिह्न लैतिनमें अस् के रूपमें प्रयुक्त होता है, यथा ग्रीक तेओस् [teos] एमोस् [emos],

लैतिन तूस [tūs] संस्कृतके चतुर्थी षष्ठीके मे, ते जैसे वैकल्पिक रूप अन्य भा० यू० भाषाओमें भी पाये जाते हैं। ये वैकल्पिक रूप ग्रीक तथा लिथुआनियनमें भी उपलब्ध होते हैं—ग्रीक मोइ [moi], तोइ [toi] तथा लिथुआनियन मि [mi], ति [ti]। संस्कृतमें सप्तमी ए० व० में 'मयि' रूप पाया जाता है, किन्तु युष्मत् [त्वत्] शब्दका 'त्वयि' वालारूप प्राचीन न होकर बादमे मयि के सादृश्यपर विकसित हुआ है। इसका प्रयोग सर्वप्रथम अथर्ववेद मे मिलता है। ऋग्वेदमे इसका प्राचीन रूप त्वे मिलता है।

संज्ञाओंके रूपोकी भाँति यहाँ भी द्विवचनके रूप सीमित ही पाये जाते हैं। संस्कृतमें प्रथमा-द्वितीया द्विवचनरूप आवाम् तथा युवाम् पाये जाते हैं। वस्तुत ये रूप केवल द्वितीया विभक्तिके ही थे। प्रथमा विभक्तिमें इनके रूप आवं तथा युवं पाये जाते थे, जो प्राचीन वैदिक मन्त्रोंमें उपलब्ध होते हैं; किन्तु बादके वैदिक साहित्यमें आवां तथा युवां दोनों ही विभक्तियोंमें प्रयुक्त होने लगे हैं। ठीक इसी प्रकार तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमीके प्राचीन रूप आवभ्यां तथा युवभ्यां हैं, किन्तु ये भी सादृश्यके आधारपर बादमें आवाभ्यां तथा युवाभ्यां हो गये हैं। इन शब्दोंके द्विवचन रूपोंमें मूल रूप आव–तथा युव–ही थे, इसकी पुष्टि षष्ठी सप्तमीके द्विवचन रूप आवयोः, युवयोः से भी हो जाती है। इन विभक्तियोके वैकल्पिकरूप नौ तथा वाम् पाये जाते हैं। ये रूप अवेस्तामें भी ना [nā] तथा वा [wā] के रूपमें मिलते हैं। संस्कृतके वां का अनुनासिक तत्त्व संस्कृत की निजी विशेषता है। संस्कृत नौ के समानान्तर रूपमें ग्रीकमें नो [nō] पाया जाता है, जो वहाँ प्रथमा [nominative] तथा द्वितीया [accusative] के द्विवचनमें प्रयुक्त होता है।

इन शब्दोंके बहुवचन रूपोंमें प्रथमा विभक्तिमे अम् विभक्तिचिह्न पाया जाता है, यथा वयम्, यूयम्। अवेस्तामें मध्यम पुरुष सर्वनाम शब्दका बहुवचनरूप "यूज़म्" [yūzəm] पाया जाता है। अन्य सभी विभक्ति

रूपोंमें इनमें स्म विभक्तिचिह्नका प्रयोग पाया जाता है,—अस्मान्, युष्मान्; अस्मत्, युष्मत् आदि। यह स्म अवेस्ता तथा ग्रीकमें भी क्रमशः ह्म तथा म्म के रूपमें पाया जाता है, अवे० अह्म [ahma], ग्रीक अम्मे [amme]। यह विभक्तिचिह्न अन्य सर्वनामोंके एकवचन रूपोंमें भी पाया जाता है, तस्मै, तस्मिन्। किन्तु षष्ठी बहुवचनके रूपोंमें इन उत्तम पुरुष तथा मध्यमपुरुषके रूपोंमें स्म के साथ आकम् भी जोड़ दिया जाता है, अस्माकम्, युष्माकम्। अवेस्ताके अह्माकअम् [ahmākəm], युश्माकअम् [yu-šmakəm] शब्दोंके आधारपर यह कहा जा सकता कि यह स्म + आकं विभक्तिचिह्न भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता रही होगी।

यहाँ इतना कह दिया जाय कि भा० यू० भाषाओंमें अन्य पुरुष [प्रथम पुरुष]के शब्दोंको व्यक्तिवाचक या पुरुषवाचक सर्वनामों [personal-pronouns] की तरह न मानकर पदरचनाकी दृष्टिसे निर्देशात्मक सर्वनामों [demonstrative pronouns] की तरह माना जाता है। संस्कृतमें भी इसीलिए तत् शब्दके रूपमें तीनों लिंग पाये जाते हैं। तत् शब्दके इन रूपोंपर हम आगे संकेत करेंगे।

संस्कृतमें स्व का आत्मने प्रयोग मिलता है। इसका प्रयोग सर्वनामके रूपमें मिलता है। ऐसा प्रयोग ग्रीक, लैतिन तथा अवेस्तामें भी देखा जाता है, ग्रीक ह्ओस् [hos], हेओस् [heos], लैतिन सूउस [sūus], अवेस्ता ह्व [hwa]। इसका प्रयोग प्रायः 'आत्मने' [reflexive] के अर्थमें पाया जाता है। संस्कृतमें इसीके स्वयं, स्वतः आदि रूप मिलते हैं। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमें इसके समानान्तर लैतिन सूस के विकसित रूप से [se] का फ्रेंच भाषामें बहुत प्रयोग मिलता है। फ्रेंचकी कई क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनके साथ इस से का प्रयोग अवश्य होता है। ये क्रियाएँ "रिफ्लेक्सिव" [reflexive verbs] कहलाती हैं। यह प्रयोग प्रायः संस्कृतके आत्मनेपदी-सा है। यथा, "ओं से मी ता ताब्ल [on se

mit a table] [प्रत्येक [व्यक्ति] स्वयं टेबुलपर बैठ गया; अर्थात् सब टेबुलपर बैठ गये।] मे यह् से सस्कृतके स्व का समानान्तर ही है।

संस्कृतके मध्यम पुरुष 'त्वं' के लिए आदरणीय अर्थमे भवान् का प्रयोग पाया जाता है, जो प्रथम पुरुष क्रियाके साथ प्रयुक्त होता है, भवान् गच्छति। यह भवान् वाकेरनागेलके मतानुसार संस्कृत शब्द भगवान् का ही वैकल्पिक संक्षिप्त रूप है। इस वैकल्पिक रूपके लिए उसने फ्रेंच भाषासे एक ऐसा ही उदाहरण दिया है। ठीक इसी आदरणीय अर्थमें फ्रेंच भाषामें मॉसेन्यो [monseigneur] तथा 'मॉश्यो' [मॉस्यो] [monsienı] दोनों प्रकारके रूप पाये जाते हैं, जहाँ द्वितीय रूप प्रथमका ही संक्षिप्त वैकल्पिक रूप है। इसी प्रकार संस्कृतका भवान्, भगवान् का ही संक्षिप्त वैकल्पिक रूप है।[1]

निर्देशात्मक तथा विशेषणीभूत सर्वनामों [demonstrative pre-nouns and artıdles] में स, सा, तत् का सम्बन्ध ग्रीकके हो [ho] हे [hē] [प्रा० रू० हा–] hā] तथा तो [to] जोड़ा जा सकता है, जो क्रमशः पुल्लिग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग शब्दोंके मूल रूपोंके साथ ग्रीकमें ठीक वैसे ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे अँगरेजीमे ए, एन, दि [o . an, the]। ग्रीकमें ये 'आर्टिकल' कहलाते है। इसका विकास प्राचीन भारत-यूरोपीय सो-सा [so,-sa] तो-ता [to, tā] से माना गया है। इनके अतिरिक्त कुछ प्रश्नवाचक सर्वनाम भी संस्कृतमे प्रयुक्त होते है। संस्कृतके कः, का, किं, चित् का संबंध ग्रीक पो [po], तिस्, ति [तिद्] [tis. tı [tid]; लैटिन क्वोद् [quo-d], क्विद् [qıu-d], क्वि [qui], क्वोस [quos आइरिश किआ [cia], वेल्श प्वि [pwy], तथा अंग्रेजी हू [who] से जोड़ा जा सकता है। इन सबका विकास प्रा० भा० यू० *क्वो

१. Wackernagel: Altindische Grammatik p. 487 §39[C]

[*kʷos] से हुआ है। संबंधवाचक सर्वनाम यः या यत् का संबंध प्रा० भा० यू० यो [yo], [ya] से जोड़ा जाता है। इन शब्दोंके विभक्ति चिह्न प्रायः संज्ञाओंके ही विभक्ति चिह्नोंसे विकसित हुए हैं।

संख्यावाचक शब्द

प्रा० भा० यू० में गणनाका ढंग 'दस' से होता था। उसमें एकसे लेकर चार तककी संख्याके शब्दोंके रूप सभी लिंगोंमें सविभक्तिक चलते थे, जब कि पाँच से दस तकके शब्द अपरिवर्तित रूप वाले अव्यय थे। १० से १९ तकके शब्द इसके साथ एक, दो, तीन, चार....इत्यादिके वाचक शब्द जोड़कर बनाये जाते थे। प्रा० भा० यू० से विकसित भाषाओंमें १० से ऊपरके संख्यावाचक शब्द कई ढंगसे बनाये जाते हैं। कहीं तो ये समस्त शब्द-से होते हैं, यथा, एकादश, द्वादश, त्रयोदश या अं० थर्टीन [thirteen], या वेल्श 'पिमथेग' [pymtheg]। कहीं-कहीं बीचमें समुच्चय बोधक अव्ययका प्रयोग कर इस तरहकी संख्याका बोध कराया जाता था, यथा, संख्या द्वाविंशत् [द्वे विंशति च पुरुषाः], ग्रीक एइकोसि-दुओ [eikosiduo], अथवा दुओ कइ एइकोसि [duo kai eikosi]। यद्यपि प्रा० भा० यू० गणना 'दस' से ही होती थी; किन्तु ऐसे भी चिह्न दिखाई पड़ते हैं, जहाँ 'नौ' वाली गणना देखी जाती है। केल्तिक तथा अन्य दूसरी यूरोपीय भाषाओंमें ये संकेत मिलते हैं। वेल्शमे 'अठारह' के लिए 'डुनव' [deunaw] शब्दका प्रयोग होता है, जिसका अर्थ होगा, "दो नौ"। ग्रीकमें १९, २९, ३९....आदि के लिए 'एक कम बीस' अर्थवाले प्रयोग मिलते हैं, यथा हेनोस् देओन्तेस् एइकोसिन्' [henos deontes eikosin [[सं० एक-ऊन-विंशत्; एकोनविंशत्]। कुछ लोग यहाँ 'नौ' वाली गणनाका संकेत ढूंढनेका प्रयत्न करें, पर यह ठीक न होगा; यहाँ पर वस्तुतः 'दस' वाली गणना ही है। वैसे संस्कृतमे 'नौ' वाली गणना के संकेत कई स्थानों पर मिलते अवश्य हैं, यथा—'नवद्वयद्वीपपृथग्ज-

यश्रियाम्' [नैषध, प्रथमसर्ग], जहाँ 'अठारह' के लिए 'नवद्वय' का प्रयोग हुआ है, जो वेल्श 'द्योनव' के समानान्तर है।

संस्कृतके एकसे दस तकके संख्यावाचक शब्द तथा सौका संख्यावाचक शब्द प्रा० भा० यू० शब्दोंसे विकसित हुए हैं। बाकी संख्यावाचक शब्द मिलाकर बनाये हुए शब्द हैं। हम इन प्रमुख शब्दोंकी तालिका देते हैं:—

१ एक	*ओइनोस्	लै० उनो [uno]		ग्रीक	ओइओस् [οιος]
२ द्वि	*दुयोउ	,, दुए	[due]	,,	दुओ [duo]
३ त्रि	*त्रेयेस्	,, त्रे	[tre]	,,	त्रेइस् [treis]
४ चतुर्	*क्वेत्यारेस्	,, क्वात्र	[quatre]	,,	तेतोरेस् [tetores]
५ पञ्च	*पेन्क्वे	,, क्विक्वे	[quinque]	,,	पेन्ते [pente]
६ षट्	*स्वेक्स्	,, सेइ	[sei]	,,	ज़ेस् [zes–]
७ सप्त	*सेप्तम्	,, सेप्त	[sept]	,,	हेप्त [hepta]
८ अष्ट	*ओक्तोउ	,, ओक्तो	[octo]	,,	ओक्तो [octo]
९ नव	*नेव्न्	,, नोवेम्	[novem]	,,	एन्-नेअ [en-nea]
१० दश	*देकम	,, देकेम	[decem]	,,	देक [deka]
१०० शतम्	*क्म्तोम्	,, केन्तुम	[centum]	,,	हेकतोन् [hekaton]

१००० सहस्र × फारसी हजार ग्रीक खीलिओइ [khilioi]

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं प्रा० भा० यू० में एकसे चार तकके संख्यावाचक शब्द लिंग व विभक्तिके अनुसार बदलते थे; यथा **एकः, एका, एकं; द्वौ, द्वे, द्वे; त्रयः, तिस्रः, त्रीणि; चत्वारः, चतस्रः, चत्वारि।** इसी तरह विभक्तियोंमें भी **एकः, एकं, एकेन**....आदि **द्वौ, द्वौ, द्वाभ्यां, द्वयोः, त्रयः, त्रीन्,** त्रिभिः आदि, **चत्वारः, चतुरः, चतुभिः, चतुर्भ्यः, चतुर्णाम्, चतुर्षु** रूप चलते है। इसी तरह स्त्रीलिंग रूपोंके तथा नपुंसकलिंग रूपोंके भी विभक्तिरूप पाये जाते हैं। पञ्च तथा अन्य संख्यावाचक शब्दोंमे लिंग नहीं होता; **पञ्च पुरुषाः, पञ्च नार्यः, पञ्च फलानि; दश घटाः, दश लताः दश पुस्तकानि।** किन्तु इनमें विभक्ति रूप पाये जाते हैं, यथा **पञ्च, पञ्च, पञ्चभिः, षट्, षड्भिः, षड्भ्यः, षण्णाम्, षट्सु।** अतः यहाँपर इन्हे अव्यय नहीं माना जा सकता। यद्यपि इन शब्दोंमें लिंगका अभाव यह संकेत करता है कि ये मूल रूपमें अव्यय [indeclinables] थे, तथापि ऐसा अनुमान होता है कि संस्कृतमें आकर ये शब्द **एक, द्वि, त्रि, चतुर्** के सादृश्यपर सविभक्तिक बन गये। यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि **एक** के रूप केवल ए० व० मे, **द्वौ** के केवल द्वि० व० में, तथा 'त्रि'....आदि शेष संख्यावाचक शब्दोंके रूप केवल बहुवचनमें पाये जाते हैं।

बीससे लेकर नब्वे तकके संख्यावाचक स्त्रीलिंग नाम शब्द हैं, तथा उनके रूप केवल ए० व० में ही चलते हैं। इनके साथ जिस वस्तुकी संख्या बनाना होता है, उसे षष्ठी ब० व० मे रखा जाता है यथा, **'नवति नाव्यानाम्'** "जल-पोतोंकी नवति [नब्बे पोत]," कभी-कभी इनका प्रयोग इस तरह भी किया जा सकता है कि [१] संख्यावाचक शब्द वस्तु [विशेष्य] की विभक्तिमे तो हो किन्तु वचनमें नहीं, यथा' **विंशत्या हरिभिः**' 'बीस घोड़ोके साथ' अथवा [२] कभी-कभी संख्यावाचक शब्द

विशेषणकी तरह विशेष्यकी विभक्ति तथा वचनका वहन करता है, यथा '**पञ्चाशद्भिर्बाणैः**' 'पचास बाणोंके साथ'। इनके समानान्तर रूप ये है।

२०–५० सं० **विंशति–**, अवे० **वीसइति**, ग्रीक **एइकोसि** [eikosi], लै० **वीगिंती** [vīgintī]

सं० **त्रिंशत्**, अवे० **थ्रिसँस्** [θrisas] [कर्म ए० व०] **थ्रिसत्अम्** [θrisatəm] लै० **त्रीगिंता** [trīgintā]

सं० **चत्वारिंशत्**, अवे० **चथ्वर्असत्अम्** [caθwarəsatəm], ग्रीक **तत्तर-कोन्ता** [tettara-konta] लै० **क्वद्रागिंत** [quadrāginta]

सं० **पञ्चाशत्**, अवे० **पन्शासत्–** [pansˇasat], ग्रीक **पेन्ते-कोन्ता** [pentēkonta] लै० **क्विंक्वागिंत** [quinqua-ginta]

इन संख्यावाचक रूपोंमें '–शत्' तत्त्व पाया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० यू० '*क्म्ंत्' [kṃt] से मानी गई है, जो वस्तुतः *'द्क्म्ंत्' [dkṃt] का ह्रस्व रूप है, जिसका प्रयोग प्रा० भा० यू० में 'दस' के अर्थ में पाया जाता है।

६०–९०; **षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति**—इन शब्दोंकी रचना पूर्व-वर्ती संख्यावाचक शब्दोंसे सर्वथा भिन्न है। इनमें भाववाचक –'ति' प्रत्ययका प्रयोग पाया जाता है। यह विशेषता केवल भारत-ईरानी वर्गमें ही पाई जाती है। पुरानी स्लावोनिकमें भी 'शेश्ति' [sˇesˇti] में इसका चिह्न देखा जा सकता है, जो संस्कृत '**षष्टि**' का समानान्तर है। अवेस्तामें इनके रूप ये हैं:—'**रूश्वश्ति**' [xsˇvasˇti], **हप्ताइति** [haptaiti], **अशाइति** [asˇaiti], **नवइति** [navaiti]।

१०० का संख्यावाचक शब्द 'शतम्' प्रा० भा० यू० 'क्म्तोम्' [k̂m̥tom] से विकसित है, जिसके समानान्तर अन्य भाषागत रूपोंके संकेतके लिए दे० पृष्ठ ५१। १००० का संख्यावाचक शब्द 'सहस्र' है, जिसका अवेस्तामें 'हज़ंग्र' [hazangra] तथा फारसीमें 'हज़ार' [hazar] रूप मिलता है। ग्रीकमें इसका 'खीलिओइ' [khīlioi] रूप है। इससे स्पष्ट है कि इसकी आरंभिक ध्वनि 'स' प्रा० भा० यू० 'स्म्' [sm̥] से विकसित है, जो 'एक' का वाचक है। इसी सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि प्रा० भा० यू० में 'एक' के प्राचीन रूपके अतिरिक्त इसके बोधनके लिए अन्य शब्द भी था जिसका मूल रूप *'सेम्' [sem] था। इसका विकास ग्रीकके हेइस् [heis] तथा मिआ [mia] मे देखा जा सकता है। संस्कृतमें भी इसके चिह्न 'सकृत्' 'एक बार' [अवे० हकॅरॅत hakərət] मे देखे जा सकते हैं। 'सहस्र' का संबंध भी इसी *सेम्–*स्म्' से है।

क्रमात्मक संख्यावाचक विशेषण [ordinals] के रूप संस्कृतमें ये हैं:—

१. सं० प्रथम, अवे० फ्रतॅम [fratəma].

२. ,, द्वितीय, अवे० बइबित्य, बित्य, पु० फार० दुबितिय

३. ,, तृतीय, अवे० थ्रित्य [θritya], लै० तेर्तिउस् [tertius].

४. [क] चतुर्थ, ग्रीक तेतर्तोस् [tetartos], लिथु० केत्विरतस् [ketvirtas]

[ख] तुरीय, तुर्य–, अवे० तूइर्य [tūirya]

५. [क] पक्थ [ऋग्वेद १०, ६१, १], अवे० पुख्ध [puxδa]; ग्रीक, पेम्प्तोस् [pemptos]

[ख] पञ्चथ [काठकसंहिता], पुरानी वेल्श पिम्फेत [pimphet].

[ग] पञ्चम, पह्लवी [मध्य फारसी] पंजुम [panjum]

६. षष्ठ, ग्रीक हेक्तोस् [hektos], लै० सेक्स्तुस् [sextus]

७. [क] सप्तथ, [ऋग्वेद] अवे० हप्तथ [haptaθa]

[ख] सप्तम, फारसी हफ़्तुम, ग्रीक हेब्दोमोस् [habdomos] लै० सेप्तिमुस्

८. अष्टम, अवेस्ता अश्तअम [astəma]

९. नवम, अवे० नओम [naoma], पु० फारसी नवम,

१०. दशम, अवे० दस्अम [dasəma], लै० देकिमुस् [decimus]

इससे स्पष्ट है कि क्रमात्मक संख्यावाचक शब्द बनानेमे मूलतः प्रा० भा० यू० में 'अ' प्रत्ययका प्रयोग होता है, जैसे सप्तम्-अ [सप्तम], दशम्-अ [दशम] में। इसके बाद 'म' ही प्रत्यय बन गया तथा उनमे भी जोड़ा जाने लगा, जिनमें मूलतः 'म्' अंश नही था, यथा अष्ट-म, नव-ममे। इसके अतिरिक्त संस्कृतमे 'थ' प्रत्यय भी है, इसका विकास प्रो० वरोने 'ता' + अ [थिमेटिक स्वर] से माना है, जिसमें भारतेरानी वर्गमें प्राणताका प्रयोग होने लगा है, वे 'चतुर्थ' की उत्पत्ति *चतुर्ता + अ से मानते हैं।[1]



1. T. Burrow: Sanskrit Language, P. 262.

संस्कृत पद-रचना [क्रिया तथा क्रियाविशेषण]

संस्कृतकी क्रियाएँ अन्य भारोपीय भाषाओंकी भाँति वाच्य, लकार, काल, पुरुष तथा वचनसे युक्त हैं। इनमे तीन प्रकारकी वाच्यता पाई जाती है, कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा स्ववाच्य [आत्मनेपदी], जिन्हे भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे अलग-अलग कोटिमे मानना होगा। संस्कृतमे दस लकार, तीन काल, तीन पुरुष तथा तीन वचन पाये जाते है। प्राचीन भा० यू० के विषयमे हम देख चुके है कि वहाँ क्रियाके विभिन्न लकार वस्तुतः क्रिया-के प्रकार विशेषका बोध कराते थे। साथ ही ये क्रिया रूप न केवल क्रियाका ही बोध कराते थे, अपितु उसी पदके द्वारा कर्ताका भी बोध कराते थे, जिससे कर्ताके पुनः प्रयोगकी आवश्यकता ही न थी, यदि उसकी आव-श्यकता होती थी तो प्रथम पुरुषमे। उदाहरणके लिए **भवसि** तथा **भवामि** मे कर्ता स्वयं अनुस्यून है, अत त्वं तथा **अहम्** के बिना भी उसकी भावप्रतीति हो जाती हैं। यह तथ्य एक मनोवैज्ञानिक सत्यकी ओर संकेत करता है कि आरम्भकी सामाजिक अवस्थामे प्रा० भा० यू० का व्यवहार करनेवाले कर्ता तथा क्रियाके [व्याकरणात्मक] भेदसे स्पष्टरूपेण परिचित न थे। सभ्यताके विकासके साथ मानसिक विकास होनेपर इनका भेद ज्ञात हुआ।

इसके पूर्व कि क्रियारूपोंका अध्ययन करें, आगम, धातु तथा विकरणको समझ लिया जाय। धातु किसी क्रियारूपका मेरुदण्ड हैं। इसी मूल रूपमे तिङ् प्रत्यय जोडकर विभिन्न क्रिया रूपोकी सृष्टि होती है। भूतकाल [लङ् तथा लुङ् दोनो ही] मे क्रियाके मूल रूप [धातु] के पूर्व 'अ' का आगमन होता है, जो संस्कृतमे भूतकालका द्योतक माना जाता है। यह अ प्रा० भा० यू० *ए से विकसित हुआ है, तथा यह लङ् [imperfect] और लुङ् [aorist] दोनोंमे ग्रीकमे भी प्रयुक्त होता है, यथा

संस्कृत **अभरम्, अभरः, अभार्षम्**; ग्रीक ऍफॅरॉन् [epheron], ऍफॅरॅस् [e-phere-s], ऍफ्रॉन [e-phro-n] । विकरण संस्कृतमें उन अन्तः-प्रत्ययोंके लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है, जो कई गणोंमें, कई लकारोंमें, तथा कई अन्य प्रकारके रूपोंमें धातु तथा तिङ् प्रत्ययके बीचमें जोड़ा जाता है। उदाहरणके लिए भू धातुको लीजिए। इसके साथ वर्तमाने लट्का प्रथम पुरुष एक वचनका तिङ् प्रत्यय **'ति'** जोड़नेपर **'भू + ति'** रूप बनेगा। इस गणके [भ्वादिगणके] धातुओंमें बीचमें **'अ'** विकरणका प्रयोग पाया जाता है; इससे यह **'भू + अ + ति = भवति'** रूप हो गया है, जहाँ धातुकी अन्तिम स्वर ध्वनि **'ऊ'** में गुण होकर **अव्** रूप हो गया है। ये विकरण आरम्भसे ही प्रा० भा० यू० की विशेषता रहे हैं, यथा ये ग्रीक आदि अन्य भारोपीय भाषाओंमें भी पाये जाते हैं। इन्हींके आधारपर ग्रीकके क्रिया रूपोंको सविकरण [thematic], अविकरण [athematic] इन दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जाता है। इन शब्दोंकी रचना 'थॅमॉस' [the-mos] से हुई है, जिसका अर्थ वही है, जो संस्कृत वैयाकरणोंके विकरण-का। संस्कृतमें ये विकरण संख्यामें २० के लगभग पाये जाते हैं। इन्हीं विकरणोंके आधारपर संस्कृत व्याकरणमें धातुओंको भ्वादि दस गणोंमें विभक्त किया गया है। संस्कृतके दस लकारोंका **सार्वधातुक** तथा **आर्ध-धातुक** श्रेणी विभाजन पाया जाता है। संस्कृत धातुओंमें कुछ ऐसे भी धातु हैं, जिनके साथ किसी भी विकरणका प्रयोग नहीं पाया जाता। संस्कृतके अदादिगणी धातु इस अविकरणात्मक कोटिमें आयेंगे। उदाहरणके लिए इस गणके **अस्** धातुको लीजिए, जिनके वर्तमानके प्र० पु० एकवचनमें **अस् + ति = अस्ति** रूप पाया जाता है, इसी विकरण-प्रक्रियाके आधारपर संस्कृतमें एक और विभाजन पाया जाता है, जो अनिट् तथा सेट्के नामसे प्रसिद्ध है। जिन धातुओंके कुछ रूपोंमें **'इ'** [**इट्**] विकरणका प्रयोग पाया जाता है, वे धातु 'सेट्' तथा अन्य 'अनिट्' कहलाते हैं। उदाहरणके लिए **'भू'** तथा **'दा'** इन दो धातुओंको ले लीजिए। **'भू'** से **भविता,**

भवितुं, भविष्यति आदि सेट् रूप बनते है, किन्तु 'दा' से **दाता, दातुं, दास्यति** रूप बनते हैं। अतः प्रथम सेट् है, दूसरा अनिट्। इस **इ** विकरणका प्रा० भा० यू० रूप क्या रहा होगा, इस विषयपर आगे प्रकाश डाला जायगा।

पहले इन क्रिया रूपोंके मेरुदण्ड, धातुपर ध्यान दे लिया जाय। संस्कृतमे सभी धातु एकाक्षर [monosyllabic] पाये जाते है, अर्थात् इन धातुओमे एक ही स्वर पाया जाता है। यह स्वर व्यञ्जनहीन हो सकता है, अथवा इसके पूर्व तथा परमे एक या दो व्यञ्जन ध्वनियाँ भी पाई जा सकती है। इस प्रकार स्वरध्वनिके लिए V तथा व्यञ्जनध्वनिके लिए C चिह्नका प्रयोग करते हुए, इन संस्कृतके मूल धातु रूपोंको हम इन कोटियोमे विभक्त कर सकते है।

[१] V [**यथा 'इ'** [**इण् गतौ**]]; [२] VC [**आस्, आप्**], [३] VCC [**उक्ष्**], [४] CV [**कृ**]; [५] CCV [**क्री**] [६] CCVC [**क्षर्**], [७] CCVCC [**स्पन्द्**], [८] CVCC [**मन्द्**]।

भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे सस्कृत धातुओको निम्न वर्गोंमे बाँटा जा सकता है।

—अर्–ऋ अन्तवाले धातुः—√ **धृ** [–**धर्**], √ **स्वर्**

—अन् अन्तवाले धातुः—√ **क्षन्** , √ **स्वन्** , √ **स्तन्** ,

—अस्–म् अन्तवाले धातुः—√ **त्रस्**,√ **ग्रस्**,√ **ध्वस्** ,√ **श्रुष्** , [√ **श्रु** वैकल्पिक रूप]√ **भ्रक्ष्** ,√ **नक्ष्** ,√ **उक्ष्** ,√ **निक्ष्** ,√ **वक्ष्** , √ **हास्** ,

—अम् अन्तवाले धातुः—√ **द्रम्** , √ **गम्** ,√ **क्षम्** ,√ **भ्रम्** ,

—इ अन्तवाले धातुः—√ **क्षि**, √ **श्रि** , √ **सि** [√ **सी भी है**], √ **शि**,

—उ अन्तवाले धातुः—√ **श्रु** , √ **स्रु** , [बहना], √ **द्रु** [दौड़ना]

—आ अन्तवाले धातु; जो प्रा० भा० यू० मे '**अ**'+ **कण्ठनालिक स्पर्श** [laryngal] [a H/H] से सम्बद्ध है। √ **गा** √ **या**,√ **प्सा**,

[निगल जाना], √द्रा [दौड़ना], √ज्या [√जि] [जीतना], √त्रा [रक्षा करना]

—त् अन्तवाले धातु : √कृत् [काटना], √चित् [सोचना], √त्रित् [टुकड़े होना], √श्वित् [चमकना], √द्युत् [चमकना]

—थ् अन्तवाले धातु: √प्रथ् [बढ़ना], √व्यथ् [काँपना], √मथ् [घुसना], √श्रथ् [ढीला पड़ना], √ग्रथ् [गूँथना]।

—द् अन्तवाले धातु: √क्षद् [बाँटना], √छिद् [काटना], √रुद् [रोना], √मृद् [मसलना], √पीड् [दबाना: ∠ *पिज़्द्], √स्यन्द् [बहना], √क्रन्द्– क्रुन्द् [रोना, चिल्लाना]।

—ध् अन्तवाले धातु : √मृध् [ध्यान न देना], √एध् [बढ़ना], √स्पृध् [स्पर्धा करना], √क्षुध् [भूखा होना]।

—प् अन्तवाले धातु: √दीप् [चमकना], √म्लुप् [सूर्यास्त होना], √रिप्–√लिप् [लीपना], √रुप्–√लुप् [तोड़ना, समाप्त करना], √विप् [काँपना], √स्वप् [सोना]।

भ्—अन्तवाले धातु : √शुभ् [चमकना], √स्तुभ् [स्तुति करना]

—च् अन्तवाले धातु : √म्लुच् [अस्त होना, दे० म्लुप्], √याच् [माँगना], √सिच् [सींचना]।

—ज् अन्तवाले धातु: √तर्ज् [तर्जना देना, डराना], √युज् [जोड़ना], √रुज् [तोड़ना], √विज् [काँपना]।

—ह् अन्तवाले धातु : √स्पृह् [इच्छा करना], √द्रुह् [नुकसान करना, द्रोह करना]।

डॉ० एलनने, प्राचीन भारत यूरोपीय धातुओंके मूल रूपोंके विषयमें, जहाँ तक व्यञ्जन ध्वनियोंका प्रश्न है, एक लेखमें प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार इन धातुओंमें प्रायः दो व्यञ्जन [C_1 C_2] पाये जाते थे, जिनमें तीसरे व्यञ्जन [C_3] का भी कभी-कभी समावेश हो जाता है। इसी धातु-

संघटनाके अन्तर्गत सदा एक ही 'स्वर' [V] होता है, जिसमें सन्ध्यात्मक [prosodic] तथा गुणात्मक [qualitative] परिवर्तन, विभिन्न रूपोंमें पाये जाते हैं। अतः व्यञ्जनयुक्त प्रा० भा० यू० धातुओंको डॉ० एलनने मौलिक दृष्टिसे दो तरहका माना है:—$C_1 VC_2C_3$ तथा $C_1C_2VC_3$ जहाँतक इन प्रा० भा० यू० धातुओंमे प्राप्त 'स्' [s] तथा 'न्' [n] ध्वनियोंका प्रश्न है वे इन्हे "**ध्वनित्व**" [phonetic element] न मानकर "**सन्ध्यात्मक तत्त्व**" [prosodic element] मानते है। इन धातुओंमें जहाँ भी कही कण्ठनालिक "लेरिजियल" ध्वनि [*ə]का प्रयोग पाया जाता है, वहाँ उसे ध्वनितत्त्व ही मानना होगा। इस प्रकार वे प्रा० भा० यू० धातुओंके वास्तविक व्यंजन तत्त्व C_1C_2 ही मानते हैं, जहाँ C_3 के होनेकी भी संभावना है जो कभी स्पष्ट रूपमें और कभी शून्य रूपमें पाया जाता है।[1] इस प्रकार प्रा० भा० यू० धातुओंके मूल रूपोंको वे सेमेटिक धातुओके मूल रूपोंकी भाँति मानते जान पडते है, जहाँ केवल तीन व्यञ्जन ही प्रमुख तत्त्व है, तथा उन्हींमे 'स्वर' तत्त्व जोड़कर विभिन्न पदोंकी सृष्टि होती है, उदाहरणके लिए प्रमुख सेमेटिक भाषा अरबीसे '**क़्तब्**' [**लिखा**], **क्तल्** [**मारना**] इन दो धातुओंको लीजिए, इन्हीसे **क़िताब, क़ुतुब, मक़तब, क़ातिब, यक़्तुबु** [**मैंने लिखा**], **तथा क़त्ल, क़ातिल, यक़्तुलु** [**मैंने मारा**] आदि रूप बनते हे।

प्रा० भा० यू० धातुओंके मूल रूपोंका विचार कर लेनेके बाद अब हम उन प्रमुख विशेषताओंकी ओर आयेंगे, जो संस्कृतके क्रियारूपोंमें पाई जाती हैं। संस्कृतके क्रियारूपोंमें इन प्रमुख विशेषताओंमेंसे एक द्वित्वकी विशेषता है, जहाँ धातुका द्वित्व रूप पाया जाता है। यह द्वित्व वैसे तो परोक्षभूत, सन्नन्त यथा यङ्लुङन्तमें प्रायः सभी धातुओंमें पाया जाता है, किन्तु कुछ धातुओंके लट् तथा लुङ् आदिमें भी यह धातुका द्वित्व पाया

---

१. Dr. Allen : Indo-European primary affix B[h]. p. 3' Transections of philological society of G. B. 1950.

जाता है। उदाहरणके लिए संस्कृतके **अभात्** [√भा] तथा **अस्थात्** [√**स्था**] को ले लीजिए, जो दोनों लुङ्के रूप हैं। यहाँ दोनों द्वित्वविहीन रूप हैं। किन्तु वर्तमाने लट्में **स्था** को **तिष्ठ** आदेश होकर **तिष्ठति** रूप बनता है, जिसका काल्पनिक पूर्व रूप ***स्तिष्ठति** माना जा सकता है, जहाँ स्पष्ट ही धातुका द्वित्व पाया जाता है। **गा, दा, धा, पा** [**पिबति**],[1] **स्था** आदि वे धातु हैं, जिनके कई लकारोंके रूपोंमें द्वित्व पाया जाता है। ठीक यही बात ग्रीकमे पाई जाती है[2]। उदाहरणके लिए संस्कृत **दा** तथा **स्था** धातुओंके समानान्तर ग्रीक धातुओंके इन रूपोंको लीजिए—**दिदोमि** [didōmi] [सं० ददामि], **हिस्तेमि** [histemi] [सं० तिष्ठामि], जहाँ धातुका द्वित्व रूप स्पष्ट है। यह द्वित्व दोनों ही भाषाओंके परोक्षभूते लिट् [perfect] में नियत रूपसे पाया जाता है, यथा,

सं०	**जजान**	**ग्रीक**	**गेगोन**	[gegona]
	दिदेश	,,	**देदइख**	[dedeikha]
	रिरेच	,,	**लेलोइप**	[leloipa]
	बुभोज	,,	**पेफेउग**	[pepheuga]

संस्कृतके सन्नन्त तथा यङ्लुङन्त रूपोंमें भी धातुका द्वित्व पाया जाता है, जो **पिपठिषति, बुभुक्षते, जिगमिषति, चिकीर्षति, वेविज्यते** [√**विज् से यङ्लुङन्त**], **नेनीयते, मर्मृज्यते, चोक्षूयते** आदि रूपोंसे स्पष्ट है। इस सम्बन्धमें संस्कृत धातुके द्वित्वके कुछ साधारण नियमोंका उल्लेख कर देना आवश्यक होगा।

१. ध्यान देनेकी बात है कि रक्षार्थक 'पा' धातुमें द्वित्व नहीं होता, वहाँ लट् के रूप 'पाति' आदि बनते हैं, पानार्थक 'पा' धातुमें द्वित्व होता है।

२. King and Cockson. Comparative Grammar of Greek and Latin. p. 136.

[१] धातुके केवल प्रथम अक्षरका ही द्वित्व होता है, √बुध्-बुबोध, √पठ्-पपाठ।

[२] धातुके प्रथम ध्वनिके महाप्राण होनेपर द्वित्व रूपमे प्रथम ध्वनि-की प्राणता [aspiration] लुप्त हो जाती है, अर्थात् वह अल्पप्राण हो जाती है, यथा, √भी-बिभीते √धा-दधाति।

[३] धातुके प्रथम ध्वनिके कण्ठ्य [velar] होनेपर द्वित्व रूपमे प्रथम ध्वनि तालव्य पाई जाती है, यथा, √गम्-जगाम, √हन् [*घन्]-जघान,√खन्- चखान,√कृ-चकार। इस ध्वनि परिवर्तनका कारण यह है कि प्रा० भा० यू० मे इन द्वित्व रूपोमे प्रथम अक्षरमें *ए [अग्र-स्वर] पाया था, जो ग्रीकमे अभी भी पाया जाता है। इस स्वरके परवर्ती होनेपर कण्ठ्य तथा कण्ठ्योष्ठ्य ध्वनियाँ संस्कृतमे आकर तालव्य रूपमे विकसित हुई है, इसे हम चतुर्थ परिच्छेदमे देख चुके है। उदाहृत हन् धातुकी ह ध्वनि भी वस्तुतः भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे घ है।

[४] यदि धातुके आरभमे दो व्यञ्जन ध्वनियाँ पाई जाती हैं, तो प्रथम ध्वनिका ही द्वित्व होता है, यथा √क्रम-चक्राम।

[५] यदि धातुके आरंभकी दो व्यञ्जनध्वनियोमे प्रथम ध्वनि स है, तथा द्वितीय ध्वनि स्पर्श [अनुनासिक-भिन्न स्पर्श ध्वनि] है, तो द्वित्व उस स्पर्शध्वनिका ही होगा, यथा √स्था-तस्थौ, √स्कन्द्-चस्कन्द। किंतु यदि द्वितीय ध्वनि अनुनासिक [न, म] या अन्त स्थ है, तो स का ही द्वित्व होगा, यथा √स्वज्-सस्वजे, √स्मि-सिस्मिये।

[६] धातुका मूल स्वर द्वित्व होनेपर द्वित्वरूपमे [प्रथमाक्षरमे] ह्रस्व हो जाता है, जैसे √दा-ददाति, ददौ, √राध्-रराध।

इस संबंधमे यह भी कह दिया जाय कि संस्कृतमें कुछ ऐसे भी धातु है, जिनमें नियत रूपसे द्वित्व पाया जाता है, संस्कृतके वैयाकरणोने इन्हें तीसरे गण [जुहोत्यादिगण] में स्थान दिया है। वैसे हम आगे देखेंगे कि कुछ

नियत द्वित्ववाले धातु अन्य गणोंमें भी पाये जाते हैं; जैसे √स्था [तिष्ठति], भ्वादिगणी है, जुहोत्यादिगणी नहीं।

डॉ० अलबेंत थुम्बने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हेन्दबुख़ देस संस्कृत' में प्रा० भा० यू० धातुओंको १४ वर्गोंको बाँटा है, जिन्हें हम संस्कृतके दस गणोंमें समाहृत रूपमें देखते हैं। ये चौदह वर्ग निम्न हैं:—

[१] **प्रथम वर्गः**—इस वर्ग में शुद्ध धातुके साथ तिङ्प्रत्यय जोड़ा जाता है। यह संस्कृतका अदादि गण है। **अस्ति, स्मः, ग्रीक, ऐस्ति, लैतिन ऐस्त, सु-मुस, प्रा० भा० यू०** *ऐस्ति, ***स्मस्; सं० स्तौमि, स्तुमः**

[२] **द्वितीय वर्गः**—इस वर्गमें शुद्ध धातुके साथ 'अ' [विकरण] [प्रा० भा० यू० *ऐ] का प्रयोग पाया जाता है, तथा धातुका अपश्रुति-जनित रूप पाया जाता है। ग्रीकमें यह कभी ऐ तथा कभी ओ मिलता है। **भरामि, भरति, भरंति, ग्रीक फेरो, फेरोउसि, लं० फेर. फेरंत, प्रा० भा० यू०** ***भेरो,** ***भेरेति, भेरोन्ति;** सं० बोधति [√बुध्],अजति [√अज्].

[३] **तृतीय वर्ग**—इस वर्गमें धातुका द्वित्व पाया जाता है। यह संस्कृतका जुहोत्यादि गण है:—**पिपर्मि, पिपृमः, ग्रीक पिम्लमेन्** [हम भरते हैं], प्रा० भा० यू० ***पिपेल्मि,** ***पिप्लृमोस्**, सं० जुहोमि, जुहुमः, ददामि, दद्मः, **ग्रीक दिदोमि, दिदोमेन्**, प्रा० भा० यू० ***दिदोमि [देदोमि],** ***दिद्मोस् [देद्मोस्]**

[४] **चतुर्थ वर्ग**—इस वर्गमें धातुका द्वित्व तथा थिमेटिक 'अ' [विकरण] [प्रा० भा० यू० *ऐ]भी पाया जाता है:—**तिष्ठामि, अवे० हिस्तइति, लं० सिस्तित; सं० शश्चति;** [प्रा० भा० यू० ***सेस्क्वेति**]

[५] **पंचम वर्ग**—इस वर्गमें प्रा० भा० यू० क्रियाओंमें [१]

*ना—नूअ—न् विकरण अथवा [२] *नो-मे विकरण पाया जाता है प्रथम कोटिमें **अश्नामि, अश्नीमः, अश्नन्ति, क्रीणामि, क्रीणीमः क्रीणन्ति** रूपोंका समावेश होता है; द्वितीय कोटिमें संस्कृतके धातु नही पाए जाते, क्योंकि यहाँ आकार वे सभी प्रथम कोटिमे मिल गये हैं। ग्रीकमें ऐसे रूपोंका अस्तित्व है। थुम्बने इसके अवशेष दो-तीन संस्कृत क्रियाओंमें संकेत किये हैं:—**मिनति** [वैदिक रूप], **घूर्णते, कृपणते,** किन्तु इनमे भी अन्तिम रूप तो नामधातुका है, जो 'कृपणवत् आचरति' से बना है।

[६] **षष्ठ वर्गः**—इस वर्गमे भी दो कोटियाँ मानी गई हैः—[१] प्रथम कोटिमें *नेव् [नु] विकरण माना गया है, इसके अपश्रुतिजनित *न्व तथा *नुव रूप भी होते हैं:—**स्तृणोमि, स्तृणुमः,** ग्रीक **स्तोर्नुमेन्,** प्रा० भा० यू० ***स्तृनेव्मि, *स्तृनुमोस्।** [२] द्वितीय कोटिमे 'नु' विकरणके साथ थिमेटिक 'अ' का भी प्रयोग पाया जाता है; **चिन्वति,** ग्रीक [होमर] **तीनो** [(*तिन्वो], प्रा० भा० यू० ***चिन्वेति।**

[७] **सप्तम वर्गः**—इसमे भी दो कोटियाँ हैः—[१] प्रथम कोटिमें *ने/न् [सं० न] विकरणका प्रयोग पाया जाता है.—**छिनद्मि, छिन्द्मः, भुनज्मि, भुञ्ज्मः,** [२] द्वितीय कोटिमें 'न्' विकरण धातुके मध्यमे पाया जाता है तथा अ विकरण भी जोड़ा जाता है, विन्दामि, लुम्पति।

[८] **अष्टम वर्गः**—इस वर्गम धातुके साथ *स् अथवा अम् [əs] या इस् विकरण तथा थिमेटिक 'अ' पाया जाता है। यह विकरण वस्तुतः सन्नन्त [इच्छार्थक] रूपोमें पाया जाता है, **पिपासति, जिजीविषामि।**

[९] **नवम वर्ग :**—इस वर्गमे प्रा० भा० यू० धातुके साथ *स्को विकरण पाया जाता था, जो सं० च्छ [छ], ग्रीक स्को, तथा लै० स्क्—के रूपमें विकसित हुआ है, **गच्छामि** [***ग्व्म्स्को** [**-स्को**]] **पृच्छामि** [***पृक्स्को**]।

[१०] **दशम वर्गः**—इस वर्गका प्रा० भा० यू० विकरण *तो था। सं० **स्फुटति** = *स्फृतति, प्रा० भा० यू० *√स्प्ल् [स्फ्ल्] + ता + ति [स्फ्लतोति]। यह विकरण लैतिनकी साक्षीपर माना गया है:— **लै० प्लेक्तो**; जो ग्रीकमे 'को' के रूपमे विकसित हुआ है, **ग्रीक प्लेको**।

[११] **एकादश वर्गः**—इस वर्गका विकरण *धो–*दो है, जिसका संस्कृतमें ध–द रूप मिलता है। सं० **योधति; कूर्दति; क्रीडति** [*क्रिड्–द–ति]।

[१२] **द्वादश वर्गः**—इस वर्गका विकरण *इओ–ये [सं०–य–] है; सं० **पश्यति**, **अवे० स्पस्येइति**, **लै० स्पेकिओ**, **ग्रीक पेस्सो**- **प्रा० भा० यू०** *पेक्यो; सं० कुप्यामि, मन्यते, दाम्यति।

[१३] **त्रयोदश वर्गः**—इस वर्गमें धातुका द्वित्व तथा साथमें *यो–ये विकरण पाया जाता है। संस्कृतमें इस वर्गका कोई क्रिया रूप नहीं मिलता। प्राकृत ग्रीक [वल्गार ग्रीक] में इसका एक रूप मिलता है:— **ग्रीक तितइनो** [tataino], प्रा० भा० यू० *ति–त्न्–यो। थुम्बने पाद-टिप्पणीमें पृच्छ्यते, वन्द्यते जैसे कर्मवाच्यरूपोंके 'य' विकरणका संबंध इससे जोड़ा है।

[१४] **चतुर्दश वर्गः**—इस वर्गमे *एयो–*एये [सं०–अय–] विकरण पाया जाता है। इसका सम्बन्ध संस्कृतके णिजंत रूपोके 'य' विकरण तथा [चुरादि गणके भी विकरण] से जोड़ा जा सकता है। **संस्कृत तर्षयामि, लै० तोर्रेयो** [torreo] **प्रा० भा० तोर्सेयो**।

सं० **लोकयामि, लै० लूकेओ** [lūceo] प्रा० भा० यू० **लोवूक्येयो** सं० **स्पृहयामि**, प्राकृत [वल्गार] ग्रीक, **स्पेर्खोमइ** [sperkhomai]

संस्कृतमे ये सभी वैयाकरणोंके दस गणोंमे समाहित हो जाते हैं।

यहाँ इन विभिन्न गणोंपर थोड़ा विचार कर लिया जाय। हम बता चुके हैं कि विकरणांके आधारपर संस्कृत वैयाकरणोने धातुओंको दस गणोमें विभक्त कर दिया है:—१. भ्वादि गण, २. अदादि गण, ३. जुहोत्यादि गण, ४. दिवादिगण, ५. स्वादिगण, ६. तुदादिगण, ७. रुधादिगण, ८. तनादिगण, ९. क्रयादिगण, १०. चुरादिगण। वैसे कई ऐसे भी धातु हैं, जिनमे इनके अतिरिक्त स्वतन्त्र विकरणोंका प्रयोग पाया जाता है, किन्तु उनका समावेश इन्हींमेंसे किसी एकमे कर दिया गया है।

भ्वादिगण:—प्रथम गणके धातुओंका विकरण 'अ' है, इन धातुओंमें धात्वंशमें उदात्त स्वर पाया जाता है, तथा उसकी स्वर ध्वनिमे गुण हो जाता है। इसे हम √जि, √भू, √बुध् के जयति, भवति, बोधति रूपोमें देख सकते हैं, जहाँ वस्तुतः जि + अ + ति, भू + अ + ति, बुध् + अ + ति का विकास है। यह 'अ' विकरण ग्रीकमें भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ यह कभी ए होता है; कभी ओ, यथा, ग्रीक फेरेते [pherete] [सं० भरत], फेरोमेन् [phero-men] [सं० भरामः]। इस तथ्यसे यह स्पष्ट है कि प्रा० भा० यू० में यह विकरण कभी *ए तथा कभी *ओ रहा होगा। संस्कृतमें आकर ये दोनो अ के रूपमें विकसित हुए हैं। इसी सम्बन्धमें भ्वादिगणके दो धातु √यम् तथा √गम् का उल्लेख कर दिया जाय, जिनके वर्तमाने लट्में यच्छति तथा गच्छति रूप पाये जाते हैं। इन्हींके आधारपर प्रा० भा० यू० मे एक विकरण *स्ख [*skh] की कल्पना की जाती है। इन धातुओंके लुङ् [aorist] तथा लुङ् तिङ् चिह्नोंके आधारपर बने लकारोंमें यह विकरण नहीं पाया जाता, यथा अगमत्, गम्यात्, जगाम में। संस्कृतमें यह *स्ख विकसित होकर छ [च्छ] हो गया है, जो √यम्, √गम्, √प्रश् के यच्छति; गच्छति, पृच्छति जैसे रूपोंमे पाया जाता है। चूँकि यह विकरण संस्कृतके बहुत कम धातुओंमें

पाया जाता है, अतः इसके आधारपर कोई अलगसे गण नहीं माना जाता, तथा इन्हें प्रथम या षष्ठ गणके अन्तर्गत ही समाविष्ट कर दिया गया है। गम् तथा यम् भ्वादिगणी धातु हैं, तो प्रश् तुदादिगणी धातु। ग्रीक आदि भाषाओंमें भी इस *स्ख विकरणके चिह्न मिलते है। ग्रीकमें यह स्क के रूपमें विकसित हुआ है।[1] संस्कृत गच्छामि के समानान्तर रूप बस्को [baskō] में यह विकरण स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

संस्कृतमे भ्वादिगणी धातु सबसे अधिक पाये जाते हैं। प्रायः संस्कृत धातुओंमें आधे भ्वादिगणी हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश कालमें भी यही गण धातुओंमें प्रधान रहा है तथा शेष गण वहाँ लुप्त हो गये हैं। प्रा० भा० यू० भाषाओंमें भ्वादिगणीमें थिमेटिक 'अ' [विकरण] का प्रयोग पाया जाता है, जो प्रातिपदिक [nominal stems] में भी पाया जाता है। इसके समानान्तर कतिपय उदाहरण निम्न है :—

सं० प्लवते, प्रवते [तैरता है], ग्रीक प्लेवो [plewō] [मैं तैरता]

,, स्रवति [बहता है], ,, ह्रेएइ [rheei]

,, स्नवति [शब्द करता है], लैतिन सोनित् [sonit]

,, स्तनति [गर्जता है], ग्रीक स्तेनेइ [stenei]

,, बोधति [समझता है] ग्रीक पेउफोमइ [peuphomai]

,, सर्पति [रेंगता है] ,, हेर्पेइ [herpei], लै० सेर्पित [serpit]

,, त्रसति [काँपता है, डरता है], ग्रीक त्रेओ [treō] [मैं डरता हूँ]

,, पतति [गिरता है], ,, पेतोमइ [petomai]

,, हवते [हवन करता है], अवेस्ता ज़वइति [zavaiti], प्रा० स्ला० ज़ोवेतु [zovetu]

---

१. Atkinson : Greek Language p. 47.

हम देख चुके हैं कि इस गणमें धात्वंशपर उदात्त स्वर तथा धात्वंशके स्वरका गुण पाया जाता है, किंतु कभी-कभी कुछ धातुओंमें वृद्धि भी होती है, जैसे बाधते, भ्राजते, धावति, क्रामति [इसके आत्मनेपदीरूप क्रमते हैं], आचामति में। इस गणके धातुओंको पुनः चार वर्गोंमें बाँटा गया है:— [१] अनुनासिक तत्त्व वाले धातु जैसे, 'निन्दति' [√निद्]; [२]—व प्रत्यय वाले धातु, जैसे 'जीवति' तूर्वति; [३] च्छ विकरण वाले धातु गच्छति, यच्छति, [४] धातुके द्वित्वरूप वाले जैसे, तिष्ठति [√ स्था], पिबति [√ पा], जिघ्रति [√ घ्रा]।

भ्वादिगणी धातुके रूपोके निदर्शनके लिए हम√ भू [होना] धातुके परस्मैपदी तथा .आत्मनेपदीके मुख्य तथा गौण तिङ् चिह्नवाले रूप दे रहे हैं :—

परस्मैपदी, कर्तृवाच्य, वर्तमाने लट् :—

	प्रथम पु०	भवति	भवतः	भवन्ति
	मध्यम पु०	भवसि	भवथः	भवथ
	उत्तम पु०	भवामि	भवावः	भवामः
आत्मनेपदी	प्र० पु०	भवते	भवेते	भवन्ते
	म० पु०	भवसे	भवेथे	भवध्वे
	उ० पु०	भवे	भवावहे	भवामहे

परस्मैपदी, कर्तृवाच्य अनद्यतनभूते लङ् [Imperfect]

	प्र० पु०	अभवत्	अभवताम्	अभवन्
	म० पु०	अभवः	अभवतम्	अभवत
	उ० पु०	अभवम्	अभवाव	अभवाम
आत्मनेपदी	प्र० पु०	अभवत	अभवेताम्	अभवन्त
	म० पु०	अभवथाः	अभवेथाम्	अभवध्वम्
	उ० पु०	अभवे	अभवावहि	अभवामहि

अदादि गणः—इस गणके धातुओंमें कोई विकरण नहीं पाया जाता, धातुके साथ ही तिङ् चिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है। संस्कृतमें लगभग १३० धातु इस गणमें पाये जाते हैं। अन्य भा॰ यू॰ भाषाओंमें ये अविकरण धातु प्रायः लुप्त हो गये हैं, तथा इनके स्थानपर सविकरण [थिमेटिक] रूप पाये जाते हैं। वैसे अविकरण धातुओंके कुछ अवशेष अन्य भा॰ यू॰ भाषाओंमें छुटपुट मिलते अवश्य हैं। जैसे, सं॰ **अस्ति**, ग्रीक ऍस्ति, लै॰ इस्त्; सं॰ एमि, इमः, ग्रीक ऍइमि, [मैं जाता हूँ] **इमेन्** [हम जाते हैं]; लिथु॰ **ऍइमि**; सं॰ **अत्ति**, लै॰ **इस्त्**, रूसी **जेस्त्य** [jest'] [वह खाता है], सं॰ **आसते**, ग्रीक **हेस्तइ** [hēstai] [वह बैठता है], सं॰ **शेते**, ग्रीक **केइतइ** [वह सोता है]। इस प्रकारके अविकरण धातुओंकी स्थिति हित्ताइत भाषामें स्पष्टतः देखी जाती है, जैसे सं॰ **हन्ति**, **घ्नन्ति**, हित्ताइत **कुऍन्जि** [kuenzi] [वह मारता है], **कुनन्जि** [kunanzi] [वे मारते हैं]; सं॰ **वष्टि** [√**वश्**], हित्ताइत **वेक्जि** [wekzi] [वह चाहता है]; सं॰ शस्ति [√शस्], हित्ताइत **शेश्जि** [वह सोता है]।

इस गणके धातुओंमें परस्मैपदी रूपोंमें धातुपर उदात्त स्वर पाया जाता है, तथा स्वरका गुण भी होता है, आत्मनेपदी रूपोंमें यह नहीं होता, वहाँ धातुका दुर्बल या मूल रूप [weak form] ही पाया जाता है तथा उदात्त स्वर तिङ् चिह्नपर पाया जाता है। **हन्ति**, **घ्नन्ति**, **वश्मि**, **अस्मि**, **स्मः**; किंतु **आस्ते**, **द्विष्टे**, **शेते**, **आसते**, **द्विषते**, **शेरते**।

इस गणके उन धातुओंमें जिनमें आरंभमें व्यञ्जन ध्वनि तथा बादमें 'उ' स्वर पाया जाया है, गुणके स्थानपर वृद्धि होती है:—**स्तौति** [√**स्तु**], **यौति** [√**यु**]। वैसे कुछ अन्य धातुओंमें भी वृद्धि होती है, जैसे **मार्ष्टि** [√**मृज्**], प्र॰ पु॰ ब॰ व॰ रूप **मृजन्ति**।

इस गणमें विकरणका प्रयोग न होनेके कारण तिङ् चिह्नोंके साथ धात्वंशकी संधि होनेसे नये ढंगके रूप देखनेमें आते हैं, जो ध्वनिसंबंधी

दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं। इसके कतिपय उदाहरण ये है :—√दुह् : दोह् + मि = धोक्षि, दोह् + ति = दोग्धि, √लिह् : लेह् + ति = लेढि, √शास् : शास् + धि = शाधि।

इस गणमे कतिपय धातु ऐसे भी है, जो मूलतः अविकरण धातु नही थे यथा √त्रा [रक्षा करना], √शास् [शासन करना], √वस् [वस्त्र धारण करना]। ये धातु स्वर प्रक्रियाकी दृष्टिसे अपवाद रूप [इर्रेग्यूलर] हैं। कई द्वित्व रूपवाले धातु भी इस गणमे संगृहीत हो गये है, जैसे √घस् [खाना] [घस्ति, घसति, घस्त] [जो वस्तुत. एक विकृत [defective] धातु है]। √जक्ष् [निगलना, खाना [जक्षिति, जक्षित, जग्ध] [यह भी विकृत धातु है] इस गणमे कतिपय धातु ऐसे है, जिनमे धातुके साथ 'इ' अन्त प्रत्यय या विकरणका प्रयोग पाया जाता है, जैसे √रुद् [रोदिति], √स्वप् [स्वपिति], √अन् [साँस लेना] [अनिति], √श्वस् [श्वसिति], √जक्ष् [जक्षिति]। कुछ ऐसे भी धातु है, जिनमे वैदिक रूप 'इ' अन्तःप्रत्ययवाले मिलते है, किंतु लौकिक रूपोमे 'इ' का प्रयोग नही मिलता। वमिति [लौ० सं० वमति], जनिष्व [लौ० सं० जनस्व], वशिष्व, स्तनिहि, स्नथिहि, महाभारतमें शोचिमि रूप मिलता है। 'इ' के अतिरिक्त इस गणमे 'ई' विकरण भी पाया जाता है, जो केवल √ब्रू धातुमें पाया जाता है, पर यहाँ भी यह केवल सबल रूपोंमे ही होता है, दुर्बल रूपोंमे इसका 'ब्रु–' रूप ही मिलता है, यथा ब्रवीति, अब्रवीत् [सबल रूप] अब्रवम्, ब्रुवन्ति [दुर्बल रूप]। इस धातुके समानान्तर अवेस्ता धातु √म्रू के रूपामे यह 'ई' अन्तःप्रत्यय नही पाया जाता, अवेस्ता म्रओइते [mraoite] [वह बोलता है], म्रओत् [mraot] [वह बोले] [आज्ञा रूप]। वैसे इस अन्तःप्रत्ययके चिह्न अन्य यूरोपीय भाषाओंमें मिलते हैं :—लै० अउदीरे [audīre] प्रा० स्लावोनिक सुपितु [supitu] [वह सोता है], म्लुवितु [mluvitu] [बड़बड़ाता है]। ह्रस्व 'इ' अन्तः प्रत्ययकी भाँति यह प्रत्यय भी लौकिक

संस्कृतमें प्रायः लुप्त हो गया है—केवल √ ब्रू धातुमें ही इसका प्रयोग पाया जाता है। वैदिक संस्कृतमें कुछ छुटपुट निदर्शन देखे जा सकते हैं:—
अमीति [√ **अम्** 'हानि पहुँचाना'], **तवीति** [√ **तु** 'बलवान् होना']
शमीष्व [√ **शम्** 'परिश्रम करना'] ।

अदादि गणके रूपोंके लिए निम्न निदर्शन देना पर्याप्त होगा:—धातु √ **द्विष्** [द्वेष करना] ।

कर्तृवाच्य, परस्मैपदी' वर्तमाने लट्

प्र० पु० **द्वेष्टि, द्विष्टः, द्विषन्ति**; म० पु० **द्वेक्षि, द्विष्ठः, द्विष्ठ**; उ० पु० **द्वेक्ष्मि, विक्ष्वः, द्विक्ष्मः** ।

आत्मनेपदी, वर्तमाने लट्:—प्र० पु० **द्विष्टे, द्विषाते, द्विषते**: म० पु० **द्विक्षे, द्विषाथे, द्विड्ढ्वे**; उ० पु० **द्विषे**, ,..ष्वहे, **द्विष्महे** ।

परस्मैपदी, अनद्यतनभूते लङ् :—प्र० पु० **अद्वेट्, अद्विष्टाम्, अद्विषन्**, म० पु० **अद्वेट्, अद्विष्टम्, अद्विष्ट**; उ० पु० **अद्वेषम्, अद्विष्व, अद्विष्म** ।

आत्मनेपदी, अनद्यतनभूते लङ्:—प्र० पु० **अद्विष्ट, अद्विषाताम्, अद्विषत**; म० पु० **अद्विष्ठाः, अद्विषाथाम्, अद्विड्ढ्वम्**; उ० पु० **अद्विषि, अद्विष्वहि, अद्विष्महि** ।

जुहोत्यादिगण:—इस गणमें लगभग ५० धातु पाये जाते हैं, जिनमेंसे लौकिक संस्कृतमें केवल १६ ही धातु इस गणके रूपोंका निर्वाह करते देखे जाते हैं। इस गणकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ धातुका द्वित्व हो जाता है। ग्रीक भाषामें भी ऐसे द्वित्व रूपवाले धातु पाये जाते हैं:—ग्रीक, पि [म्] प्लेमि, [मैं पूर्ण करता हूँ, मैं भरता हूँ], [सं० पिपर्मि], ग्रीक, पि [म्] प्लमेन् [हम भरते हे] [सं० पिपृमः], ग्रीक **एइस्पिफनइ** [धारण करना, परिचय देना], [सं० **बिभर्मि, बिभृमः**], ग्रीक **दिदोमि**, [मैं देता हूँ], [सं० **ददामि**], ग्रीक **तिथेमि** [धारण करता हूँ] [सं० **दधामि**] ग्रीक **हिस्तेमि** [ठहरता हूँ] [सं० **तिष्ठामि**] [संस्कृतमें √ स्था धातु भ्वादि-गणी है] । अन्य भा० यूरोपीय भाषाओंमें ये रूप प्रायः लुप्त हो गये हैं ।

धातुके द्वित्वरूपमें; जिन धातुओंमें मूलतः इ या उ स्वर ध्वनि पाई जाती है; ठीक वही ध्वनि रहती है; चिकेति [√कि], जिह्रेति [√ह्री], विवेष्टि [√विश्], बिभेति [√भी], युयोक्ति [√युज्]। अन्य धातुओंमें द्वित्वरूपकी प्रथम स्वर ध्वनि या तो इ या अ पाई जाती है:— [१] जिघ्रति [√घ्रा], पिपर्ति [√पृ], बिभर्ति [√भृ], जिगाति [√गा जाना], मिमाति [√मा बैलकी तरह शब्द करना], शिशाति [√शा शस्त्रको तेज करना] सिषक्ति [√सच्] [२] ददाति [√दा], दधाति [√धा], जहाति [√हा], बभस्ति [√भस् खाना], वर्वर्ति [√वृ], ससस्ति [√सस् सोना]।

इस गणके धातु रूपोंमें उदात्त स्वरका कोई निश्चित स्थान नहीं है। यह कभी तो धातुके सबल रूपोंमें धात्वंशपर पाया जाता है; जुहोति, जो धातुओंमें द्वित्वरूपपर भी पाया जाता है, जहाँ यह सदा प्रथमाक्षरपर होता है; दधाति। वैदिक संस्कृतमें प्राय: उदात्त स्वर इनके प्रथमाक्षरपर ही पाया जाता है, जब कि परवर्ती संस्कृतमें यह वास्तविक धात्वंशपर पाया जाता है;— बिभर्ति [वैदिक रूप], बिभर्ति [लौकिक रूप]। ग्रीकमें उदात्त स्वर द्वित्वरूप या प्रथमाक्षरपर ही होता है; दिदोमि [didomi]। विद्वानोंने यह अनुमान किया है कि मूलतः इस गणके धातुओंमें कर्तृवाच्य [परस्मैपदी] रूपोंमें तीनों पुरुषोंके ए० व० में उदात्त स्वर धात्वंशपर ही पाया जाता था, तथा इसके ब० व० रूपोंमें धातुके दुर्बल रूप होनेके कारण यह उदात्त स्वर द्वित्व अंशवाले प्रथमाक्षरपर रहता था : ददति, सश्चति।[1]

धातुके द्वित्व रूपोंमें; उन धातुओंमें जहाँ य् या व् ध्वनि पाई जाती है, इनका सम्प्रसारण हो जाता है:—√व्यच् [विविक्तः], √ह्वर्

१. T. Burrow : Sanskrit Language P. 3?

[जुहूर्षाः]; तथा √सच् [सश्चति] और √भस् [बप्सति] धातुमें एक अक्षरका लोप हो जाता है। 'आ' स्वरध्वनिवाले धातुओंके रूप अनेक तरहसे चलते हैं। इनमें साधारण कोटिके धातु √दा तथा √धा हैं, जिनके दुर्बलरूपमें स्वरध्वनि लुप्त हो जाती है:—दद्मः, दद्यः, दध्वः, दध्मः। अन्य प्रकारके आ स्वरध्वनिवाले धातुओंमें धातु तथा तिङ् चिह्नके बीच इ या ई जोड़ दिया जाता है। जहिमः, जहिहि [√हा]; शिशीहि [√शा], मिमीते [√मा], ररीथाः [√रा 'देना']।

इस गणके रूपोंका संकेत √धा [धारण करना] धातुके निम्न रूपोंसे किया जा सकता है।

परस्मैपदी कर्तृवाच्य वर्तमाने लट् :—प्र० पु० दधाति, धत्तः, दधति, म० पु० दधासि, धत्थः, धत्थ; उ० पु० दधामि, दध्वः, दध्मः।

आत्मनेपदी वर्तमाने लट् :—प्र० पु० धत्ते, दधाते, दधते; म० पु० धत्से, दधाथे, धद्ध्वे; उ० पु० दधे, दध्वहे, दध्महे।

परस्मैपदी कर्तृवाच्य, अनद्यभूते लङ् :—प्र० पु० अदधात्, अधत्ताम्, अदधुः, म० पु० अदधाः, अधत्तम्, अधत्त; उ० पु० अदधाम्, अदध्व, अदध्म।

आत्मनेपदी अनद्यतनभूते लङ् :—प्र० पु० अधत्त, अदधाताम्, अदधत; म० पु० अधत्थाः, अदधाथाम्, अधद्ध्वम्; उ० पु० अदधि, अदध्वहि, अदध्महि।

दिवादिगण :—संस्कृतमें चतुर्थ या दिवादि गणके धातुओंकी संख्या लगभग १३० है। इस गणके धातुओंमें य विकरणका प्रयोग पाया जाता है। यह य विकरण नामधातुओंमें भी प्रयुक्त होता है। कर्मवाच्य रूपोंमें भी य विकरणका प्रयोग पाया जाता है, किंतु दिवादिगणके आत्मनेपदी रूपों तथा कर्मवाच्य क्रिया रूपोंमें यह वैषम्य है कि यहाँ उदात्त स्वर धात्वंश पर पाया जाता है, जब कि कर्मवाच्य रूपोंमें उदात्त स्वर विकरणपर पाया

जाता है, यथा तप्यते [आत्मनेपदी, दिवादिगण]; पठ्यते [भ्वादिगणी √पठ् धातुका कर्मवाच्य रूप]। दिवादिगणी धातुओके रूपोका निदर्शन यह है :—कुप्यति, नृत्यति, दीव्यति, तुष्यति, क्रुध्यति, युध्यति, विध्यति [√व्यध्], हृष्यति, पश्यति, नश्यति, तप्यते।

'य' विकरणवाले धातुरूपोके समानान्तर रूप हित्ताइत तथा ग्रीकमे भी पाये जाते हैः—हित्ताइत वेमिएज्जि [wemiezzi] [ढूँढता है] [सम्भवतः सं० विन्दति], जहिएज्जि [zahhiezzi] [युद्ध करता है] [सं० युध्यति]; ग्रीक मइनेतइ [पागल होता है] [सं० मन्यते मानता है]। लैतिनमे 'य' विकरणवाले थिमेटिक रूपोंके स्थानपर 'इ' वाले अथिमेटिक रूप पाये जाते हैः—कुपिम्रो कुपित् [मै कुपित होता हूँ, वह कुपित होता है], [सं० कुप्यति][1]

इस गणके कतिपय धातुओमे धातुके मूलस्वरकी वृद्धि पाई जाती हैः— माद्यति, [√मद्] श्राम्यति [√श्रम्]। कुछ ऐसे भी आ ध्वनिवाले धातु हैं, जिन्हे वैयाकरणोने गलतीसे भ्वादिगणी मान लिया है, जैसे गायति [√गा], ग्लायति [√ग्ला], त्रायति [√त्रा], ध्यायति [√ध्या]। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ये धातु वस्तुतः दिवादिगणके ही माने जाने चाहिए, जहाँ य विकरण पाया जाता है, किन्तु संस्कृत वैयाकरणोने इनमे आ स्वर-ध्वनि न मानकर ऐ स्वरध्वनि मानी है तथा इनके धातु रूप क्रमशः √गै, √ग्लै, √त्रै, √ध्यै माने है।[2]

१. T. Burrow : Sanskrit Language p. 330.

२. देखिए:—ग्लै-म्लै हर्षक्षये।....ग्लायति [सिद्धान्तकौमुदी उत्तरार्ध ७.२.७३. पृ० १८२]; गै शब्दे। गेयात् [दे० वही पृ० १८४], ध्यै चिन्तायाम् [वही पृ० १८३], त्रैङ् पालने त्रायते [वही पृ० १९७]। सिद्धान्तकौमुदीमें ये सभी धातु भ्वादिगणके ही प्रकरणमे निविष्ट हुए हैं।

इस गणमें कतिपय आ ध्वनि वाले धातु ऐसे भी हैं, जिनमें उदात्त स्वर विकरणांशपर पाया जाता है तथा धात्वंशकी स्वर ध्वनिका लोप हो जाता है। द्यति [√दा], [बांधता है], छ्यति [√छा] [काटता है] स्यति [√सा], [बांधता है], श्यति [√शा] [शस्त्र तेज करता है]। इस संबंधमें भी यह संकेत कर देना आवश्यक होगा कि यहाँ भी वैयाकरणोंने इन धातुओंका मूल स्वर आ न मानकर ओ माना है–√दो [अवखण्डने], √छो [छेदने], √शो [तनूकरणे], √षो [√सो] [समापने]। वैसे संस्कृत वैयाकरणोंने इन्हें दिवादिगणमें ही माना है ![1] इनके रूपोंका उदाहरण निम्न है:--

प० वर्तमाने लट्:--प्र० पु० दीव्यति, दीव्यतः, दीव्यन्ति; म० पु० दीव्यसि, दीव्यथः, दीव्यथ, उ० पु० दीव्यामि, दीव्यावः, दीव्यामः। [√दिव् : 'जुआ खेलना']

आ० वर्तमाने लट्:--प्र० पु० दीप्यते, दीप्येते, दीप्यन्ते, म० पु० दीप्यसे, दीप्येथे, दीप्यध्वे, उ० पु० दीप्ये, दीप्यावहे, दीप्यामहे। [√दीप् : चमकना]।

परस्मै० लङ्:--प्र० पु० अदीव्यत, अदीव्यताम्, अदीव्यन्, म० पु० अदीव्यः, अदीव्यतम्, अदीव्यत, उ० पु० अदीव्यम्, अदीव्याव, अदीव्याम।

आ० लङ्:—प्र० पु० अदीप्यताम्, अदीप्येताम्, अदीप्यन्त, म० पु० अदीप्यथाः, अदीप्येथाम्, अदीप्यध्वम्, उ० पु० अदीप्ये, अदीप्यावहि, अदीप्यामहि।

इसके पूर्व कि हम पंचम गण [स्वादि गण] को लें, सुविधाकी दृष्टिसे हम षष्ठ तथा दशम गणोंको पहले निबटा देना ठीक समझेंगे, क्योंकि ये गण भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे इतने जटिल नहीं है।

१. देखिए : सिद्धान्तकौमुदी. दिवादिप्रकरण. सूत्र. ७.६.७१. पृ० २८१-८२.

षष्ठगण, तुदादिगणः—इस गणके धातुरूप प्रायः भ्वादिगणके धातु रूपोंकी तरह ही चलते हैं। संस्कृतमें इस गणके धातु बहुत हैं; जिनकी संख्या लगभग १५० है। इसके उदाहरण ये हैं:—**सजति, विशति, तुदति, किरति, सृजति, लिखति, सुवति, स्पृशति, मृषति, पृच्छति, विशति**। अन्य भारोपीय भाषाओंमें इस ढंगके धातु प्रायः नहीं पाये जाते। इस गणके कई धातुओंमे धात्वंशमे अनुनासिक तत्त्वका प्रयोग पाया जाता है, जैसे **सिञ्चति** [√**सिच्**], **मुञ्चति** [√**मुच्**], **विन्दति** [√**विद्**], **कृन्तति** [√**कृत्**], **लुम्पति** [√**लुप्**], **लिम्पति** [√**लिप्**]। इस गणके कतिपय धातुओंमें '**च्छ**' [***स्ख** ***स्क**] विकरण भी पाया जाता है, जिसका संकेत हम पहले दे चुके हैं—**इच्छति** [√**इष्**] **उच्छति** [√**वश्** 'चमकना'], **ऋच्छति** [√**ऋ** 'जाना']। **पृच्छति** [√**प्रश्**] मे यह विकरण धातुका ही अंग बन गया है, जो लिट्के रूप **पप्रच्छ** से स्पष्ट है तथा इस तरह संस्कृत वैयाकरणोंने इस धातुका मूल रूप ही √**प्रच्छ्** मान लिया है। यद्यपि भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे यह √**प्रश्** है, जो संस्कृतके इसी धातुसे बने अन्य रूप '**प्रश्नः**'-से स्पष्ट है। इस बातका पुनः संकेत करना अनावश्यक न होगा कि भ्वादिगणी धातुके रूपोंसे इसमें यह अन्तर है कि वहाँ उदात्तस्वर धात्वंशपर पाया जाता है, जब कि यहाँ [तुदादिगणी धातु रूपोंमें] वह विकरणांशपर पाया जाता है। **भवति, पठति, गच्छति** [भ्वादिगणी रूप]; **लिखति, तुदति, विशति** [तुदादिगणीरूप] इनके रूप प्रायः भ्वादिगणी जैसे ही होते हैं, अतः रूपोंका संकेत करना अनावश्यक होगा।

दशम गण; चुरादिगणः—इस गणके धातुरूप भी भ्वादिगणी रूपोंकी तरह ही पाये जाते हैं। इस गणका विकरण '**अय**' है तथा उदात्त स्वर इस विकरणांशके प्रथमाक्षरपर पाया जाता है। संस्कृतमें यह 'अय'

विकरण णिजन्त [causative] तथा नाम धातु [denominative] क्रिया रूपोंमें भी पाया जाता है ।[1] वैदिक संस्कृतमें इस गणके मूल धातु रूपोंको इन गौण क्रियारूपोंसे अलग रखनेका एक ढंग पाया जाता है । मूल धातुरूपोंमें वहाँ धातुके स्वरका गुण नहीं होता, जब कि नामधातु या णिजन्त वाले गौण क्रियारूपोंमें धातुके स्वरका गुणीभाव पाया जाता है, **चितयति, इषयति, तुरयति, द्युतयति, रुच्यति, पतयति, स्पृहयति, मृडयति, शुभयति ।** चुरादिगणसे ही संबद्ध कुछ धातु ऐसे भी हैं, जिन्हें वैयाकरणोंने भ्वादिगणी मान लिया है ।

ह्वयति [√**ह्व**], **श्वयति** [√**श्व**], **धयति** [√**ध**], जिनमें वैयाकरणोंने हमारे द्वारा कोष्ठकमें निर्दिष्टधातु न मानकर क्रमशः √**ह्वे**, [ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च] √**श्वि** [श्वि गतिवृद्धयोः], √**धे** [धेट् पाने] धातुरूप माने हैं ।

संस्कृतके णिजन्त तथा नामधातुओंके रूप भी इसी गणके अन्तर्गत आते हैं :—**कामयते, चोरयति, छादयति, अवलोकयति, दूषयति, भूषयति, ताडयति, गमयति, तर्पयति, तोषयति, शाययति, चूर्णयामि, वर्णयामि, विघ्नयामि** आदि ।

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियोंने संस्कृत धातुओंको ग्रीक धातुओंकी तरह दो वर्गोंमें बाँटा है :—१. थेमेटिक [thematic] वर्ग; वे गण जिनमें **अ** विकरण [जिसे ग्रीकमें थेमा [thema] कहते है]पाया जाता है । इस वर्गमें प्रथम गण [भ्वादि], चतुर्थ गण [दिवादि], षष्ठ गण [तुदादि] तथा दशम गण आते हैं । हम देख चुके हैं कि चतुर्थ तथा दशम गणमें भी **अ** पाया जाता है:—**य्** + **अ** = **य** [चतुर्थ गण का विकरण], **अय्** + **अ** = **अय** [दशम-

१. यह विकरण 'यो' के रूपमें लैतिनमें भी णिजन्त तथा नामधातुओंके साथ पाया जाता है, इस धातु वर्ग को वहाँ Yod-class कहा जाता है । दे० King and Cockson' p. 149.

गणका विकरण]। २. दूसरा वर्ग उन धातुओंका है, जिनमे यह अ विकरण [थेमा] नही पाया जाता। इन्हे ग्रीकमे 'अथेमेटिक' [athematic] कहा जाता है। इसके अन्तर्गत द्वितीयगण, तृतीयगण, पञ्चमगण, सप्तमगण, अष्टमगण तथा नवमगण आते है। हमने यहाँ पाश्चात्त्य भाषाशास्त्रियोंके ढंगपर इन दो वर्गोंमें इनका वर्णन न कर सुविधाकी दृष्टिमे द्वितीय [अदादि] तथा तृतीय [जुहोत्यादि] गणका विवेचन पहले ही कर दिया है। अब हमारे सामने चार गण बचे रहते है, जो ग्रीकके ढगपर 'अथेमेटिक' कहे जा सकते है। इनके विवरण क्रमश ये हैं :—'नु' [पंचमगण, स्वादि], 'न्' [सप्तमगण, रुधादि], 'उ' [अष्टमगण, तनादि], ना [नवमगण, क्र्यादि]। इन चारो गणोके विकरण यद्यपि एक दूसरेसे भिन्न है, पर भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे परस्पर संबद्ध है। पंचम तथा अष्टमगण दोनोमे 'उ' विकरण समान है, यद्यपि पचममे उसके साथ 'न्' [नु = न् + उ] भी है। इसी तरह पंचम, सप्तम एवं नवम तीनो गणोमे यह समानता है कि इनमे सभीमे अनुनासिक तत्त्व 'न्' विकरणाशमे पाया जाता है:—नु[न् + उ], न्, ना [न + आ]। अतः इसके पहले कि प्रत्येक गणका विवेचन किया जाय, इन विकरणोंकी भाषाशास्त्रीय व्युत्पत्तिपर एक साथ सकेत कर देना आवश्यक होगा।

पहले हम पञ्चम, सप्तम तथा नवम इन तीन गणके धातुओके विकरणोको ले लें। भाषावैज्ञानिक दृष्टिमे इन तीनो गणोमे एक समानता पाई जाती है, इन तीनोमे ही विकरणमे अनुनासिक ध्वनि 'न्' होती है। पञ्चमगणका विकरण नु सप्तमगणका न तथा नवमगणका ना है। इन सभीको प्राचीन भा० यू० विकरण *ने [*नो] से विकसित माना जा सकता है। यह न् विकरण ग्रीक तथा लेतिनमे भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ इसका संस्कृत जैसा बाहुल्य नही है। उदाहरणके लिए ग्रीक तिनो [ti-n-ō] [मैं चुनता हूं, स० चिनोमि] को ले सकते है।[1] सबसे पहले

1. Atkinson : Greek Language pp. 86–7.

सप्तमगणको लीजिए। इस गणके युनक्ति, भुनक्ति आदि रूपोंमें जो अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है, वह वस्तुतः एक गौण तत्त्व है; क्योंकि इन्हीके युयोज, युयुजे; बुभोज, बुभुजे जैसे रूपोंमें इसका सर्वथा अभाव है। किन्तु पञ्चमगणके रूपोंमें; जैसे शृणोति मे, यह अनुनासिक तत्त्व वस्तुतः धात्वंशका अभिन्न अंग-सा बन गया है। यहाँ यह 'नु' अक्षर है, जो सबल-रूप [वृद्धि; strong form] मे 'नो' हो जाता है तथा दुर्बलरूप [मूलरूप] मे केवल 'न्' रह जाता है। किन्तु यहाँ भी लुङ् [Aorist] के रूपोंमें यह अनुनासिक तत्त्व नही पाया जाता, जो [श्रुषि], अश्रौषीत् आदि रूपोंमे स्पष्ट है। वस्तुतः इस प्रकारके धातुओंमें, आरंभमे, प्रा० भा० यू० में न् विकरण नहीं पाया जाता था। उदाहरणके लिए संस्कृतके √स्तृ धातुको लीजिए, इसका प्राचीनरूप *स्तेर् [*स्तेरव्] रहा होगा। इसी रूपसे एक ओर गॉथिक [Gothic] भाषामें अनुनासिक विकरणविहीनरूप स्त्रोज [strauz] का विकास हुआ है, दूसरी ओर संस्कृतमें स्तृणोमि, स्तृणुमः [स्तृण्मः] जैसे रूपोंका, जिन्हे क्रमशः प्रा० भा० यू० *स्तृ-नेव्—, *स्तृ-नु—, *स्तृ-न्—से विकसित माना जायगा। इसके विषयमें यह कहा जा सकता है इस नु मे वस्तुतः न् तथा उ इन दो विकरणोंका समावेश है। गॉथिकमे यह केवल उ रूपमें ही पाया जाता है। यही न् जो संस्कृतके पञ्चमगणमें उ से मिलकर नु बन गया है, नवमगणमें आ विकरणसे मिलकर ना हो गया है। यह ना दुर्बल रूपोंमें, व्यञ्जनके पूर्व नी तथा स्वरके पूर्व न हो जाता है, यथा गृभ्णाति, गृभ्णीतः, गृभ्णन्ति, क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति।

तात्त्विक दृष्टिसे अष्टमगणके धातुओंमें भी अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है, किन्तु यहाँ यह अनुनासिक तत्त्व विकरण न होकर धातुका ही अंश है। इस कोटिके अधिकतर धातुओंमें यह 'न्' धात्वंशमें पाया जाता है, जो √क्षन्, √मन्, √तन् आदि धातुओंमें स्पष्ट है। ये धातु लुङ् तथा, उसके आधारपर बने लकार रूपोंमे भी अनुनासिक तत्त्वको नहीं छोड़ते,

अमिष्ठाः, अमंस्त, अतन्। वस्तुतः संस्कृतके तनोति का तनो—प्रा० भा० यू० *तेनेव् मे विकसित न होकर *तन्-नो से विकसित हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि मूलतः अष्टमगणके ये धातु पञ्चमगणके ही अग हैं। किन्तु, धीरे-धीरे सादृश्यके आधारपर कृणोमि जैसे रूपोके वैकल्पिकरूप करोमि के रूपमे पाये जाने लगे और उन्हे तनोमि के समान मानकर इस अष्टमगणमे रख दिया गया।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह 'न्' ही वास्तविक विकरण था, या यह *ने/*नो का दुर्बलरूप [weak form] था। इस संबंधमे रुधादि गण [सप्तमगण] के रूपोपर थोड़ा दृष्टिपात कीजिए। उदाहरणके लिए रुणद्धि तथा मुञ्चति [जो वस्तुतः षष्ठगण—तुदादिगणका धातु है] इन दो रूपोंको लीजिए। आरंभमें ये दोनों रूप कुछ भिन्न प्रतीत होंगे, किन्तु इनके बहुवचन [प्र० पु० ब० व०] रूप रुन्धन्ति तथा मुञ्चन्ति इस बातको स्पष्ट करते है, कि रुणद्धि वस्तुत. न विकरणयुक्त रूप है, जब कि मुञ्चति, न् [ञ्] विकरणयुक्त है। अर्थात् एकका अनुनासिक विकरण 'न' [ण] है, दूसरेका केवल न् [ञ्]। इस संबंधमें एक और महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देनेकी यह भी है कि 'अ' विकरणका प्रयोग मुञ्चति वाले रूपमे अधिक पाया जाता है। यही कारण है कि यहाँ उदात्त स्वर इस अ विकरणपर पाया जाता है, मुञ्चति, किन्तु रुणद्धि में उदात्त स्वर 'न' [ण] पर पाया जाता है। और अधिक स्पष्टीकरणके लिए हम यह कह सकते हैं कि यदि रुध् का वर्तमान प्र० पु० ए० व० रूप अ विकरणसे युक्त पाया जाता अर्थात् यदि यह षष्ठगणका धातु होता, तो *रुन्धति रूप बनता, इसी प्रकार यदि √मुच् का यही रूप अ विकरणविहीन पाया जाता अर्थात् यदि यह सप्तमगणका धातु होता, तो *मुनक्ति रूप बननेकी संभावना थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रुधादि धातुओंके रूप वस्तुतः मुचादि धातुओंके

ही 'अ'-विकरणहीन रूप हैं, तथा यहाँ वास्तविक अनुनासिक तत्त्व 'न' [*ने/*ने] ही है, केवल 'न्' नही।

पञ्चमगण, स्वादिगणः—संस्कृतमें इस गणके लगभग ५० धातु पाये जाते हैं। जैसा कि हम संकेत कर चुके है, इस गणका विकरण 'नु' [न् + उ] है। इस 'नु' का सबल रूपमे 'नो' हो जाता है। ग्रीकमे इसका 'नु' [नू] रूप पाया जाता है:—स० **ऋणोमि**, ग्रीक **ओर्नूमि** [ornumi], सं० **स्तृणोमि**, ग्रीक **स्तोर्नूमि** [stornumi], सं० **क्षिणोमि**, ग्रीक **फ्थिनो** [phthino], **मिनोमि**, लैतिन **मिनुओ** सं० **धूनोमि**, ग्रीक **थूनो** [thuno] संस्कृतसे इस गणके धातुओंके अन्य उदाहरण ये हैं:—**चिनोति**, **हिनोति**, **वृणोति**, **धृष्णोति**, **अश्नोति**, **आप्नोति**, **राध्नोति**। इनमेसे कई धातु ऐसे भी हैं, जिनमे 'नु' के स्थानपर 'ना' [नवमगणके विकरण] का वैकल्पिक प्रयोग पाया जाता है:— **वृणोति-वृणाति**, **स्तृणोति-स्तृणाति**, **क्षिणोति-क्षिणाति**।

अन्य भा० यू० भाषाओंमे इन धातुओमेसे कईके समानान्तर रूपोंमे 'नु' के स्थानपर केवल 'उ' विकरण पाया जाता है। इसमे **स्तृणोति** के समानान्तर गॉथिक रूप '**स्त्रोज**' का संकेत हम कर चुके हैं, अन्य रूप ये हैं:—सं० **ऋणोति** [वैकल्पिक ग्रीकरूप '**ओराउओ** [orouo]], **धृष्णोति** [ग्रीक **थ्रासुस्** thrasus]। स्वयं संस्कृतमे ही इनसे व्युत्पन्न कई नाम शब्दोंमें यह 'न्' वाला विकरणांश नही पाया जाता.—**वृणोति—वरुत्र**, **जिनोति—जीव**, **साध्नोति—साधु**। एक धातुमें यह 'उ' विकरणांशपर स्वयं धातुका ही अंग बन गया है; जो √ श्रु धातुमे पाया जाता है। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यहाँ √ श्रु [शर्—] धातु माना जाना चाहिए, जो इसके वर्तमानकालके रूपसे स्पष्ट है:—'**शृ-णो-ति**' [√ शृ—विकरण न् + उ—[तिङ् प्रत्यय] [प्रा० भा० यू० ***क्लृ-न्-एउ-ति** [kl̥-n-eu-ti]। इस वर्गके कुछ धातु

ऐसे भी है, जिनमे साथ ही 'अ' विकरण भी पाया जाता है:—'पिन्वति' [दे० पिनुते, अवे० पिनओइति, इन्वति [वैक० रू० इनोति], हिन्वति [वैक० रू० हिनोति], जिन्वति [–जिनोति]।

रूप:—धातु √सु [उभयपदो] 'निचोडना, नहाना, मथना'।

वर्तमान, परस्मैपदी:—प्र० पु० सुनोति, सुनुतः, सुन्वन्ति; म० पु० सुनोषि, सुनुथः, सुनुथ, उ० पु० सुनोमि, सुनुवः-सुन्वः, सुनुमः-सुन्मः।

वर्तमान, आत्मनेपदी:—प्र०पु०सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते, म० पु० सुनुषे, सुन्वाथे, सुनुध्वे, उ० पु० सुन्वे, सुनुवहे-सुन्वहे, सुनुमहे-सुन्महे।

लङ्, परस्मैपदी:—प्र० पु० असुनोत्, असुनुताम्, असुन्वन्, म पु० असुनोः, असुनुतम्, असुनुत, उ० पु० असुनवम्, असुनुव-असुन्व, असुनुम- असुन्म।

लङ्, आत्मनेपदी:—प्र० पु० असुनुत, असुन्वाताम्, असुन्वत, म० पु० असुनुथाः, असुन्वाथाम्, असुनुध्वम्, उ० पु० असुन्वि, असुनुवहि-असुन्वहि; असुनुमहि-असुन्महि।

सप्तमगण, रुधादिगण:—इस गणके लगभग ३० धातु हैं। इस गणका विकरण अनुनासिक तत्त्व [न्] है। अन्य प्रा० भा० यू० भाषाओंमे इस गणके धातुओमे अ विकरण जोड़ दिया गया है, यथा वे 'अथेमेटिक' [athematic] वर्गके धातु नही रहे हैं। यह प्रवृत्ति कतिपय धातुओंमें संस्कृतमें भी पाई जाती हैं; सं० विन्वति; जबकि अवेस्तामें इसका समानान्तर रूप 'विनस्ति' है। यद्यपि इस गणको पंचम तथा नवम गणसे सर्वथा भिन्न माना गया है, किन्तु मूलत: यह गण उन्हीका एक अंग है। इनमें भेद केवल इतना है कि यहाँ 'न्' विकरण धातुमें घुलमिल-सा गया है। इसीलिए प्रो० टी० बरोंने इन तीनोंका विश्लेषण एक-सा माना है:—पंचमगण:—क्ल्-न्-एव्-ति [kl-n-nw-ti] [सं० शृणोति]

नवम गण—*प्लृ-नृ-ए?-ति[1] [pḷ-n-e'H-ti] [सं० पृणाति]; सप्तम गण *-यु-नृ-एग्-ति [yu-n-e'g-ti] [सं० युनक्ति]।[2] प्रो० बरोने बताया है कि ये धातु मूलतः व्यञ्जनान्त न होकर स्वरान्त थे। इस पुष्टि इस तथ्यसे होती है कि संस्कृतमें ही या तो इनके वैकल्पिक स्वरान्त रूप पाये जाते हैं, या इनसे व्युत्पन्न रूपोंमें अन्तिम व्यञ्जन ध्वनि नहीं पाई जाती है :—सं० √युज्, के साथ ही सं० √ यु [यौक्ति] भी उसी अर्थमें प्रयुक्त होता है। √छिद् से वैक० रूप 'छ्यति' [काटता है] पाया जाता है, तथा इसका 'क्त' प्रत्ययान्त रूप 'छित' [*छित्त नहीं; वैसे इसका वैक० रूप 'छिन्न' भी है, जो *छित्तका स्थानापन्न] है।

इस वर्गके धातुओंके कतिपय रूप ये हैं :—छिनत्ति [√छिद्] [लै० स्किन्दो], भिनत्ति [√भिद्] [लै० फ़िन्दो]; पिनष्टि [√पिष्] [लै० पिंसो], शिनष्टि [√शिष्], भुनक्ति [√भुज्], रुणद्धि—रुन्धन्ति [√रुध्], वृणक्ति-वृञ्जन्ति [√वृज्]।

रूप :—√भुज् [परस्मैपदी, 'पालन करना', आत्मनेपदी 'खाना']।

वर्तमान : परस्मैपदी :—प्र० पु० भुनक्ति, भुङ्क्तः, भुञ्जन्ति, म० पु० भुनक्षि, भुङ्क्थः, भुङ्क्थ, उ० पु० भुनज्मि, भुञ्ज्वः, भुञ्ज्मः।

वर्तमान आत्मनेपदी :—प्र० पु० भुङ्क्ते, भुञ्जाते, भुञ्जते, म० पु० भुङ्क्षे, भुञ्जाथे, भुङ्ग्ध्वे, उ० पु० भुञ्जे, भुञ्ज्वहे, भुञ्ज्महे।

लङ्-परस्मैपदी :—प्र० पु० अभुनक्, अभुङ्क्ताम्, अभुञ्जन्, म० पु० अभुनक्, अभुङ्क्तम्, अभुङ्क्त, उ० पु० अभुनजम्, अभुञ्ज्व, अभुञ्ज्म।

१. हमने ? चिह्नका प्रयोग Laryngeal Sound के लिए किया है, जिसे प्रो० बरोने H चिह्न के द्वारा व्यक्त किया है।

२. T. Burrow : Sanskrit Language p. 327.

लङ् आत्मनेपदी—प्र० पु० **अभुङ्क्त, अभुञ्जाताम्; अभुञ्जत,** म० पु० **अभुङ्क्थाः, अभुञ्जाथाम्, अभुङ्ग्ध्वम्;** उ० पु० **अभुञ्जि, अभुञ्ज्वहि, अभुञ्ज्महि** ।

अष्टमगण, तनादि गण :—इस गणका विकरण **नो-नु** के स्थानपर **ओ-उ** पाया जाता है। इस गणके कई धातुओंमे धात्वंशमे 'न्' पाया जाता है, यथा √**तन्** धातुमें जिसका '**तनोति**' रूप बनता है। इसी तरह अन्य धातुओके उदाहरण ये हैं :—**सनोति** [√सन्], **वनोति** [√वन्], **मनुते** [√मन्], **क्षणोति** [√क्षन्]। इनके अतिरिक्त इस गणमे एक धातु ऐसा भी है, जिसमे धात्वंशमें 'न्' नही है यथा—√**कृ** [करोति, कुरुते]। इससे हम यह अनुमान लगा सकते है कि यह 'न्' मूलतः धात्वंश न होकर विकरणाश ही था। इस तरह 'तनोति' का विकास ***तृन्-नेउ-ति** [tn̥-neu-ti] से माना गया है, जहाँ प्रा० भा० यू० धात्वंश 'न्' [तृन्] का संस्कृतमे 'अ' हो गया है। जहाँ तक √'**कृ**' [करोति] धातुके रूपोका प्रश्न है, वहाँ 'नो' नही पाया जाता; किंतु वेद तथा अवेस्ता दोनोमें ही यहाँ भी 'नु'-'नो' विकरण देखा जाता है :—सं० **कृणोति-कृणुते,** अवे० **क्अर्अन ओइति** [kərən-aoiti], प्राचीन फारसी, **अकुनवम्**। इससे यह अनुमान होता है कि '**करोति**' जैसे संस्कृत रूप वस्तुतः '**कृणोति**' के ही वैकल्पिक रूप हैं, जिन्हें हम प्राकृत रूप मान सकते है। किंतु मजेकी बात तो यह है कि प्राकृतमें वैदिक रूपोंसे विकसित '**कुणइ**' रूप भी मिलते हैं, जब कि लौकिक संस्कृतमे '**कृणोति**' जैसे '**नु-नो**' विकरणवाले रूप सर्वथा लुप्त हो गये हैं।

रूप :—√'कृ' 'करना' [उभयपदी]।

लट्, परस्मैपदी :—प्र० पु० **करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति,** म० पु० **करोषि, कुरुथः; कुरुथ,** उ० पु० **करोमि, कुर्वः, कुर्मः** ।

लट्, आत्मनेपदी :—प्र० पु० **कुरुते, कुर्वाते, कुर्वते,** म० पु० **कुरुषे, कुर्वाथे, कुरुध्वे,** उ० पु० **कुर्वे, कुर्वहे, कुर्महे** ।

लङ्, परस्मैपदी:—प्र० पु० **अकरोत्, अकुरुताम्, अकुर्वन्**, म० पु० **अकरोः, अकुरुतम्, अकुरुत**, उ०पु० **अकरवम्, अकुर्व, अकुर्म** ।

लङ्,आत्मनेपदी:—प्र० पु० **अकुरुत, अकुर्वाताम्, अकुर्वत**, म० पु० **अकुरुथाः, अकुर्वाथाम्, अकुरुध्वम्**, उ० पु० **अकुर्वि, अकुर्वहि, अकुर्महि** ।

नवमगण क्र्यादिगणः—इस गणका विकरण '**ना**' है । इस गणमें लगभग ५० धातु पाये जाते हैं । इनके उदाहरण ये हैं:—**क्रीणाति** [√क्री] [आयरिश '**क्रेनइद**' [crenaid], **लिनाति** [√ली श्लेषणे], [आयरिश '**लेनइद**' [lenaid] [चिपकता है], **शृणाति** [√शॄ] 'नाश करना' [आयरिश **अर्-श्रिनत्** [ar-chrinat] [वे नष्ट होते हैं]], **अश्नामि** [√अश्], **जानामि** [√ज्ञा], **पुनामि** [√पू], **लुनामि** [√लू], **प्रीणामि** [√प्री], **वृणामि** [√वॄ], **बध्नामि** [√बन्ध्], **मथ्नामि** [√मन्थ्], **स्तभ्नामि** [√स्तम्भ्] ।

इस विकरणमें मूलतः दो विकरण हैं:—**ना = न् + आ** [प्रा०भा०यू० **न् + अ** ? [n + aH-]] । संस्कृतमें '**आ**' विकरण [अन्तःप्रत्यय] कई रूपोंमें पाया जाता है; जो–'आय' वाले रूपोंमें पाये जाते हैं:—**गृभायति, मथायति, स्कभायति** । ये वस्तुतः **गृभ्णाति, मथ्नाति, स्कभ्नाति** के वैकल्पिक रूप हैं, तथा चुरादिगणके रूप हैं । यह '**–आ**' विकरण कतिपय स्थानोंपर धातुका ही अंग बन गया हैं, जैसे √**ज्या** [**जिनाति**],√**प्रा** [**पृणाति**] में ।

इस गणके उन धातुओंमें जिनमें ह्रस्व 'इ, उ, ऋ' स्वर पाये जाते हैं, दुर्बल प्रत्ययोंके साथमें दीर्घ ई, ऊ, ॠ हो जाते हैं ।[1] यथा—**पुनाति-पूत, पृणाति-पूर्ण** । तिङ् रूपोंमें भी इन धातुओंमें कई का मूल स्वर दीर्घ हो जाता है । इस तरह इन्हें दो वर्गोंमें बाँटा जा सकता है:—[१]–**ना** के पूर्व ह्रस्व **इ-उ** स्वरवाले धातु; **जिनाति, पुनाति, लुनाति** आदि; [२] –**ना** के

---

१. T. Burrow: Sanskrit Language p. 325.

पूर्व धातुके मूल स्वरको दीर्घ करनेवाले; प्रीणाति, श्रीणाति, आदि। इनमें द्वितीय वर्गमें केवल 'इ' कारान्त धातु ही पाये जाते हैं। कईमें दोनों तरहके रूप पाये जाते हैं:—क्लिनाति-क्लीनाति [√ क्ली] 'दबाता है'। हम बता चुके हैं कि –ना– विकरण दुर्बल तिङ्रूपोंमें –'नी'–तथा स्वर वाली तिङ् विभक्तिके पूर्व –'न'– हो जाता है। यह विशेषता केवल संस्कृतमें ही पाई जाती है, अन्य किसी भा० यू० भाषामें नहीं।

रूप:—√ क्री 'खरीदना' [उभयपदी]

लट्, परस्मैपदी:—प्र० पु० क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति, म० पु० क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ, उ० पु० क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः।

लट्, आत्मनेपदी:—प्र०पु० क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते, म० पु० क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे, उ० पु० क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे।

लङ्, परस्मैपदी:—प्र० पु० अक्रीणात्, अक्रीणीताम्, अक्रीणन्, म० पु० अक्रीणाः, अक्रीणीतम्, अक्रीणीत; उ० पु० अक्रीणाम्, अक्रीणीव, अक्रीणीम।

लङ्, आत्मनेपदी:—प्र० पु० अक्रीणीत, अक्रीणाताम्, अक्रीणत, म० पु० अक्रीणीथाः, अक्रीणाथाम्, अक्रीणीध्वम्, उ० पु० अक्रीणि, अक्रीणीवहि, अक्रीणीमहि।

अब हम उन विकरणोंकी ओर आते हैं, जो किन्हीं विशेष लकारोंमें प्रयुक्त होते हैं। जिस प्रकार न् विकरणके कई रूप हम अभी-अभी देख चुके हैं, उसी प्रकार संस्कृत धातुओंके लुङ् रूपोंमें स् विकरणके कई रूप पाये जाते हैं। इस विकरणके चार रूप पाये जाते हैं:—[१] स्, [२] इष्, [३] सिष्, [४] स। वैसे लुङ् लकारके कई रूपोंमें [५] विकरणहीन रूप, तथा [६] द्वित्ववाले रूप भी मिलते हैं।

इसके पूर्व कि हम लुङ्के रूपोंपर भाषावैज्ञानिक संकेत करें, हमें इस बातकी ओर ध्यान दे लेना होगा कि तिङ् चिह्नोंको भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे हम दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं, मुख्य तथा गौण। प्रथम परिच्छेदमें हम

इन दोनों प्रकारके तिङ् चिह्नोंका जिक्र प्रा० भा० यू० क्रियाओंके संबन्धमें कर चुके है। इस सम्बन्धमें पहले यह समझ लिया जाय कि प्रमुख तथा गौण चिह्न दोनोंका प्रयोग वर्तमान कालके रूपोंमें पाया जाता है, जब कि लुङ् [अयोरिस्ट]के साथ केवल गौण तिङ् चिह्नोंका ही प्रयोग होता है। इस दृष्टिसे इन दोनोंमें इसके अतिरिक्त कोई भेद नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ये '**अ**' विकरण वाले लुङ् रूप वे वर्तमान रूप ही हैं, जिनमें गौण चिह्न प्रयुक्त होते हैं। यही कारण है कि इस प्रकारके लुङ् रूप उन्हीं गणोंमें पाये जाते हैं, जो '[**य्**] **अ**—' विकरणसे युक्त पाये जाते हैं। **स्** विकरणवाले लुङ् रूपोंका संबन्ध इसी प्रकार **स्** विकरणवाले वर्तमान रूपवाले धातुओंसे जोड़ा जाता है किन्तु संस्कृतमें शुद्ध **स्** विकरणवाले धातु नहीं पाये जाते। यह **स्** वस्तुतः **य** से मिलकर **स्य** के रूपमें पाया जाता है, जो संस्कृतमें भविष्यत्के रूपोंमें प्रयुक्त होता है। संस्कृतमें यह **स्य**, **वक्ष्यामि** तथा **रेक्ष्यति** में स्पष्ट है। वस्तुतः आरंभिक स्थितिमें ये **स्य** वाले रूप भविष्यत्के अर्थमें प्रयुक्त न होकर [सन्नन्त] वर्तमानके अर्थमें प्रयुक्त होते थे। इन्हींसे **स्य** विकरणवाले लुङ्रूपोंका संबन्ध माना जाता है। आगे जाकर यह **स्य** भविष्यत्के अर्थमें प्रयुक्त होने लग गया। **स्** की मीमांसा हो जानेपर **स** की भी समस्या सुलझ जाती है, जो **स्** तथा **अ** विकरणके योगसे बना है। **स** विकरणवाले लुङ्रूपोंकी एक विशेषता है कि यह केवल नौ ही धातुओंमें पाया जाता है, तथा उन धातुओंके अन्तमें **ज्**, **श्**, **स्**, **ह्** ध्वनियाँ पाई जाती हैं। उदाहरणके लिए हम इन रूपोंको ले सकते है :—

√मृज्—अमृक्षत्, √स्पृश्—अस्पृक्षत्, √रुह्—अरुक्षत्।

संस्कृतमें **स्य** वाले भविष्यत् रूपोंमें **सेट्** रूप भी पाये जाते हैं, जिन्हें हम **करिष्यति**, **भविष्यति** आदिमें पा सकते हैं। अर्थात् भविष्यत्के इन रूपोंमें '**इस्य**' [**इष्य**] विकरण पाया जाता है। जिस प्रकार **स्** [लुङ्का विकरण] **स्य** से सम्बन्धित है, उसी प्रकार **इष्** [लुङ्का विकरण] *'**इस्य**' [**इष्य**] से सम्बद्ध है, जो वस्तुतः **स्** का ही 'सेट्' रूप है। असलमें यह

अलगसे विकरण न होकर **स्** के ही अन्तर्गत है। इस सेट् लुङ् रूपका उदाहरण हम √'**स्तर्**' [-स्तृ]—**अस्तरिषम्** दे सकते है। संस्कृतमें **सिष्** विकरणवाले लुङ् रूप भी पाये जाते है, किन्तु ये रूप बहुत कम पाये जाते है। इसकी उत्पत्ति एक समस्या है। संभव है, यह विकरण **स्** तथा **इष्** दोनोके सम्मिश्रणसे बना हो। इसके रूप **अयासिषम्**, **अयासिष्टाम्** आदिमे देखे जा सकते है। इस सम्बन्धमे यह भी कह दिया जाय कि **स्** विकरणयुक्त लुङ् रूप ग्रीकमें भी पाये जाते हैं, तथा वहाँ कई धातुओमें लुङ्मे, यह **स्** प्रयुक्त होता है। किन्तु जिन ग्रीक धातुओके अन्तमे **र**, **ल** या **अनुनासिकध्वनि** होती है, वहाँ यह **स्** लुप्त हो जाता है। **स्** विकरण-वाले रूप ग्रीकमे दुर्बल लुङ् [weak Aorist] कहलाते है, यथा **ए-लु-स्-अ** [एलुस] [e-lu-s-a]।[1] दूसरे प्रकारके सबल "अयोरिस्टोमे" यह **स्** नही पाया जाता। यह उन धातुओमे नही पाया जाता, जिनके वर्तमानमे किसी विकरणका प्रयोग पाया जाता है। जहाँ वर्तमानके रूपोमे कोई विकरण पाया जाता है, वहाँ लुङ् रूप सीधे मूल [धातु] रूपसे बनाये जाते है। वर्तमानके रूपोसे भूतकालके द्योतनके लिए [अनद्यतनभूते] लङ् [imperfect] के रूप बनाये जाते है।[2] ठीक यही बात कई धातुओमे संस्कृतमे पाई जाती है। उदाहरणके लिए √**गम्** धातुको लीजिए। इसके वर्तमानके रूपोमे '**च्छ**' [***स्ख**] विकरणका प्रयोग होता है, किन्तु लुङ्में इसके रूप सीधे **गम्** से ही बनते हैं, जब कि लङ्में वर्त-माने लट्के रूपोकी तरह ही स विकरण वाले रूप पाये जाते है। उदाहरणके लिए निम्न रूपोंको लीजिए—

१. इन्हें ग्रीकमें सिगमेटिक अयोरिस्ट [Sigmatic Aorist] भी कहते हैं। दे० King and Cockson : Comparative Grammar of Greek and Latin p. 140

२. Atkinson : Greek Language pp. 90-91.

√गम्–गच्छामि [लट्], अगच्छम् [लङ्], अगमम् [लुङ्]। इसी धातुके समानान्तर ग्रीक धातुके निम्न रूपोंमें भी हम यही बात देख सकते हैं:—बोस्को [boskō] [मैं जाता हूँ], बो-स्कोन् [boskon] [Imperfect] [मैं गया, लङ् रूप], बो-ओन् [bo-on] [Aorist] [मैं गया, लुङ् रूप], । इस प्रकार सबल 'अयोरिस्ट' [लुङ्] प्रायः वही तिङ् चिह्न प्रयोगमें लाते हैं, जो 'इम्परफेक्ट' [लङ्] में होते हैं। इन दोनोंका खास भेद यही है कि एकमें वर्तमानवाला विकरण प्रयुक्त नहीं होता, दूसरेमें वह प्रयुक्त होता है। उत्तम पुरुष एकवचनका 'लुङ्' [Aorist] का तिङ् चिह्न संस्कृतमें अम् है, ग्रीकमें 'ओन्' [on]।

लुङ् रूपोंमें अब जो श्रेणी बची रही, वह द्वित्ववाली है, उदाहरणके लिए हम √जन् धातुके अजीजनत् रूपको ले सकते हैं। सर्वप्रथम, यह द्वित्व एक समस्या उत्पन्न कर देता है, क्योंकि प्रायः लुङ् रूपोंकी रचना धातुके मूल रूपके आधारपर ही बनती है, साथ ही जिन धातुओं [जुहोत्यादि गण] के वर्तमाने लट्वाले रूपोंमें द्वित्व पाया जाता है, वहाँ लुङ्में द्वित्वका अभाव है। वैसे पदरचनात्मक दृष्टिसे इनका सम्बन्ध गौण तिङ् चिह्न युक्त वर्तमानके द्वित्व रूपोंसे जोड़ा जा सकता है, या द्वित्ववाले [परोक्षभूते] लिट्के रूपोंसे। फिर भी ये रूप एक समस्या ही बने रहते हैं। इनके समानान्तर रूप केवल अवेस्तामें ही देखे जाते हैं, यथा, जीजनत् [zizanat] [सं० अजीजनत्]। संभवतः इस तरहके लुङ् रूप भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है।

लुङ्के इन विभिन्न रूपोंके दिङ्मात्र उदाहरण ये हैं:—

[अ] मूल धातुवाले लुङ् :—√दा–अदात्, अदाताम्, अदुः; √भू–अभूत्, अभूताम्, अभूवन् ; आदि रूप।

[आ] अ विकरणवाले लुङ्:—√सिच्–[परस्मैपदी] असिचत्,

असिचताम्, असिचन्; [आत्मनेपदी]√ असिचत, असिचेताम्, असिचन्त आदि रूप।

[इ] द्वित्ववाले लुङ् रूप :—√ श्रि–अशिश्रियत्, अशिश्रियताम् अशिश्रियन्, √ मील्–अमिमीलम् [उ० पु० ए० व०], √ द्रु–अदुद्रुवम्, √ जन्–√ अजीजनम्, √ मर्–अमीमरम्, √ दर्श–अदीदृशम्, √ विश्–अवीविशम्, √ युज्–अयूयुजम्।

[ई]–स्–वाले लुङ् रूप :—√ रुध्–अरौत्सीत्, अरौत्ताम्, अरौत्सुः, [परस्मैपदी], अरुद्ध, अरुत्साताम्, अरुत्सत, [आत्मनेपदी],√ नी–अनैषीत्, अनैष्टाम्, अनैषुः [परस्मैपदी], अनेष्ट, अनेषाताम्, अनेषत [आत्मनेपदी]

[उ] –इष्–वाले लुङ् रूप :—√ बुध्–अबोधीत्, अबोधिष्टाम्, अबोधिषुः [परस्मैपदी], अबोधिष्ट, अबोधिषाताम्, अबोधिषत [आत्मनेपदी]

[ऊ]–सिष् वाले लुङ् रूप :—√ या–अयासीत्, अयासिष्टाम्, अयासिषुः।

[ए]–स–वाले लुङ् रूपः—√ दिश्–अदिक्षत्, अदिक्षताम्, अदिक्षन् [परस्मैपदी], अदिक्षत, अदिक्षाताम्, अदिक्षन्त [आत्मनेपदी]।

[ऐ]–इ वाले कर्मवाच्य क्रियाओंके लुङ् रूपः—यह 'इ' विकरण केवल प्रथम पुरुषके ए० व० में ही प्रयुक्त होता है, जो उपर्युक्त विकरणोंसे सर्वथा भिन्न है। 'अज्ञायि' [√ ज्ञा से कर्मवाच्य रूप], अदर्शि [√ दृश् से कर्मवाच्य रूप]। इ, उ या ऋ स्वर ध्वनिवाले धातुओंमें इन लुङ् रूपोंमें स्वर ध्वनिका गुणीभाव पाया जाता है—अचेति [√ चित् से कर्मवाच्य], अबोधि [√ बुध्], असर्जि [√ सृज्]। अन्य स्थानोंपर वृद्धि रूप अधिक पाया जाता है—अगामि [√ गम्], अकारि [√ कृ], √ अस्तावि [√ स्तु], √ अश्रावि [√ श्रु], गुणरूप, कम [अजनि–√ जन्; अवधि—√ वध्]। यह 'इ' ईरानी वर्गमें पाया जाता है, यथा अवे०

आवि [सं० **आवि**]; पु० फारसी **श्रदारिय्** [सं० **अधारि**], किन्तु अन्यत्र नहीं पाता जाता।

दिवादिगणके संबंधमें हम एक विकरणका उल्लेख कर आये हैं। यह विकरण '**य**' है। वैसे यह विकरण हम **पश्यति** में भी देख सकते हैं, जो संस्कृतमें दिवादिगणका धातु न होकर भ्वादिगणका धातु है। यह **पश्यति** संस्कृतमें √**दृश्** धातुका रूप माना जाता है, पर भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे इसका मूलरूप अलग धातु √***पश्** रहा होगा। यह **य विकरण**, जो इस धातुके वर्तमान रूपोंमें स्पष्ट है प्रा० भा० यू० से ही विकसित हुआ है, यह तथ्य अवेस्ता **स्पसयेइति** [spasayeiti], तथा लैतिन **स्पेकिओ** [specio] से स्पष्ट है। किन्तु संस्कृतके लुङ् रूपोंमें यह **य** नहीं पाया जाता, इससे यह अनुमान होता है कि यह **य** वस्तुतः **अ** विकरणका ही विकसित रूप है। इसीलिए कई धातुओंमें **अ** तथा **य** दोनों प्रकारके वर्तमान रूप पाये जाते हैं। यथा, **राधति**, **राध्यति**, **तृषति**, **तृष्यति**। आगे जाकर यह **य** संस्कृतके कर्मवाच्य [भाववाच्य] रूपोंमें प्रयुक्त होने लग गया, **पठ्–पठ्यते**, **भुज्–भुज्यते**, √**दा–दीयते**, √**भू–भूयते**। यह **य**, [**अ + य**] के रूपमें णिजन्त रूपोंमें भी पाया जाता है, यथा **पाठयति**, **भोजयति**, **दापयति**, **भावयति**।

अब तक हमने वर्तमाने लट् तथा लुङ्का विचार किया, क्योंकि ये ही धातुओंके दो प्रकारों—सार्वधातुक तथा आर्धधातुक रूपोंके निर्णायक है। एक कोटि सार्वधातुक रूपोंकी भित्ति है, तो दूसरी आर्धधातुक रूपोंकी। ये रूप निर्देशात्मक हैं। अब हम हेतुहेतुमत्के रूपोंको लेंगे। इन रूपोंमें वेदमें, प्रायः **अ** विकरणका प्रयोग पाया जाता है। इस संबंधमें यह बात ध्यान देने की है हेतुहेतुमत् [conditional] के रूपोंमें गौण तिङ् चिह्नोंका प्रयोग होता है। उदाहरणके लिए **शृण्वद् वचांसि मे**, में [**शृणु + अ + त्**] पाया जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टिसे वर्तमाने लट् तथा लुङ् दोनोंके समान हेतुहेतुमत् रूप संस्कृतमें पाये जाने चाहिए थे, किन्तु ऐसे रूप

वेदमें बहुत कम पाये जाते हैं, इसका एक उदाहरण ऊपर दिया गया है। भविष्यत् [लृट्] से प्रभावित हेतुहेतुमत् वाला [लृङ् वाला] रूप वेदमे केवल एक बार ही प्रयुक्त हुआ है, जो **'करिष्य:'** [**लौ० सं० अकरिष्य:**; **√कृ**] है। लुङ्के आधारपर बनाये गये हेतुहेतुमत्रूप भी बहुत कम पाये जाते हैं; उदाहरणके लिए **'नेषत्'** [√नी] को ले सकते है। लौकिक संस्कृतमे आकर हेतुहेतुमत्मे केवल भविष्यत् [लृट्] से प्रभावित रूप ही पाये जाते है, जिनमे आरंभमें भूतकाल [लङ् तथा लुङ्] की तरह **अ** का आगम तथा अन्तमे गौण तिङ् विभक्तियाँ पाई जाती हैं।

भविष्यत्के लिए संस्कृतमे दो लकार पाये जाते है :—लृट् तथा लुट्। लृटमें धातुके गुणीभूत रूपके साथ **स्य** या—**इष्य** जोड़ दिया जाता है, तथा **दास्यति**, [√**दा**] **धोक्ष्यति**, [**दुह्**] **पठिष्यति** [√**पठ्**] **गमिष्यति** [√**गम्**]। लृट्के[1] तिङ् चिह्न ठीक वही होते हैं, जो वर्तमाने लट्मे पाये जाते है। **स्य** तथा **इष्य** वाले रूपोके समानान्तर रूप केवल अवेस्ता तथा लिथुआनियनमें पाये जाते हैं, जैसे :—अवेस्ता **वख्श्या** [vaxsˇyā] [मैं कहूँगा] [सं० **वक्ष्यामि**], लिथुआनियन **दुओसिउ** [du'osıu] [मैं [दूँगा] [सं० **दास्यामि**]। ग्रीकमे इसके –सो–या–से–वाले रूप मिलते है :—ग्रीक **स्तेसो** [stē-sō] [सं० **तिष्ठामि**], **दो-सो** [dō-sō] [संस्कृत **दास्यामि**] **तेनेसो** [tenesō] [सं० **तनिष्यामि**]।[1] आरंभिक संस्कृत भाषामें यह लकार अवेस्ताकी भाषाकी भाँति बहुत कम पाया जाता है, तथा भविष्यत् कालके बोधनके लिए वहाँ हेतुहेतुमत्का प्रयोग देखा जाता है, धीरे-धीरे परवर्ती कालकी भाषामें इसका प्राचुर्य हो गया है।

इसके अतिरिक्त संस्कृतमे लुट्का प्रयोग भी भविष्यत्में पाया जाता है। इसका विकास संस्कृतके –**तर्** [–**तृ**] प्रत्ययवाले कर्तृबोधक प्रत्ययसे

---

१. King and Cockson : Comparative Grammar of Greek and Latin. p. 141.

हुआ है, जिनके साथ √ अस् धातुके रूपोंका प्रयोग सहायक क्रियाके रूपमें पाया जाता है। प्रथम पुरुष ए० व०, द्वि० व० तथा ब० व० के रूप ठीक वही होते हैं, जो नाम शब्दके प्रथमा विभक्तिके रूप हैं:—**कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः, दाता, दातारौ, दातारः, गन्ता, गन्तारौ, गन्तारः**। शेष रूपोंमें प्रथम पुरुष ए० व० के रूपके साथ सहायक क्रिया जोड़ दी जाती है:—म० पु० **कर्तासि [कर्ता + असि], कर्ता-स्थः, कर्ता-स्थ,** उ० पु० **कर्तास्मि [कर्ता + अस्मि] कर्ता-स्वः, कर्ता-स्मः**। इसके आत्मनेपदी रूपोंमें प्र० पु० के रूप ठीक वही हैं, म० पु० तथा उ० पु० के रूप कुछ भिन्न हैं :—म० पु० **कर्तासे, कर्तासाथे, कर्ताध्वे,** उ० पु० **कर्ताहे, कर्तास्वहे, कर्तास्महे**। डॉ० चाटुर्ज्याने बताया है कि भविष्यत्के लिए प्रयुक्त ये यौगिक [भविष्यत्] रूप वस्तुतः संस्कृतपर प्राकृतका प्रभाव है। वैदिक संस्कृतमें ये रूप नहीं पाये जाते। यही नहीं, परवर्ती संस्कृतमें लिट् [या सम्पन्न भूतकाल] तथा हेतुहेतुमत् या संभाव्य भविष्यत्के रूप, जो क्रमशः **आमंत्रयामास, आमंत्रयाञ्चकार, कारयामास, कारयाम्बभूव, कारयाञ्चकार** तथा **अभविष्यत्, अकरिष्यत्** जैसे उदाहरणोंमें पाये जाते हैं, यौगिक रूप हैं, इन्हें भी डॉ० चाटुर्ज्याने आदिम प्राकृतोंका प्रभाव माना है।[1] यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि इनमेसे वैदिक भाषामें केवल लिट् के यौगिक रूप मिलते हैं, जो सबसे पहले यजुर्वेदमें पाये जाते हैं।

विधिलिङ् [optative] का प्रयोग दो अर्थोंमें पाया जाता है। प्रथम यह किसी ऐसे संभावनाके भावको घोषित करता है, जो निर्देशात्मक [Indicative] कोटिके द्वारा अभिव्यक्त तथ्यसे विरुद्ध है, दूसरे यह किसी इच्छाकी अभिव्यंजना करता है। इन दोनों प्रकारके उदाहरण ये हैं:—

[१] **विश्वे च क्षत्राय च समदं कुर्याम्**। [मैं समाज तथा क्षत्रोंमें परस्पर कलह कराऊँ।]

[२] **दम्पती अश्नीयाताम्**। [पति-पत्नी भोजन करें।]

---

१. **डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० ९६।**

विधिलिङ्का विकरण य है, जो दुर्बल रूपोमे ई [>* ī] हो जाता है, तथा दद्याम् [दद् [√दा] + य + अम्], ददीत [दद् + ई + त]। यही विकरण लैतिनमे भी पाया जाता है। ग्रीकमे यह विकरण ओ से युक्त होकर ओइ [oi] के रूपमे पाया जाता है, जैसे ग्रीक फेरोइ [pheroi] [सं० भरेत्]। संस्कृतमे यह *ओइ; ए [अ + इ] हो गया है, जो भरेत् मे स्पष्ट है। वैदिक संस्कृतमे लुङ्के आधारपर स् विकरण युक्त विधिलिङ्के रूप भी पाये जाते हैं, जिनमे धातुका स्वर 'इ' बना दिया जाता है, यथा, दिषीय [√दा]। संस्कृतका आशीर्लिङ् विधिलिङ्से केवल इसी बातमे भिन्न है कि इसके रूप सदा लुङ् रूपोके ही आधारपर बनते हैं, जब कि विधिलिङ् वाले रूप वर्तमान रूपोंके आधारपर बनते हैं। वैसे इन दोनोके तिङ् चिह्न गौण हैं, तथा प्रायः एकसे ही होते हैं। उदाहरणके लिए गच्छति [लट्], गच्छेत् [विधिलिङ्], तथा अगमत् [लुङ्], गम्यात् [आ० लिङ्] रूपोको देखिए, जिनसे यह भेद स्पष्ट हो जायगा।

विधिलिङ्में अ-विकरणहीन तथा अ-विकरणयुक्त रूपोमें उदात्त स्वरकी दृष्टिसे भिन्नता पाई जाती है। अ-विकरणहीन धातुओमें उदात्त स्वर तिङंशपर पाया जाता है, जब कि अ-विकरणयुक्त धातुओमें वह धात्वंश पर पाया जाता है—भवेत्, भवेताम्, भवेयु [पर०], भवेत, भवेयाताम्, भवेरन्; [आत्म०] द्विष्यात्, द्विष्याताम्, द्विष्यु [पर०], द्विषीत, द्विषीयाताम्, द्विषीरन् [आत्म०]

संस्कृतके लोट्वाले रूपोमें वस्तुतः कई रूपोकी खिचड़ी पाई जाती है। इसके प्रथम पुरुषके तीनो वचनके रूप हेतुहेतुमत् वाले [subjective] वैदिक रूप हैं; तथा मध्यम पुरुष तथा प्रथम पु० के द्वि० व० एवं म० पु० ए० व० के रूप निषेधार्थक वैदिक रूप [injunctive

forms]। म० पु० ए० व०, प्रथम पुरुष ए० व० तथा ब० व० के रूप विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। म० पु० ए० व० में थिमेटिक क्रियाओंमें क्रियाका मूलधातु रूप ही प्रयुक्त होता है, वस्तुतः यहाँ 'शून्य' तिङ् चिह्न पाया जाता है। यह विशेषता यहीं नहीं अन्य भारतयूरोपीय भाषाओंमें भी पाई जाती है:—सं० भर अवे० बर, ग्रीक फेरे, आर्मेनियन बेर, गॉथिक बइर, आयरिश बेइर।

सं० पृच्छ, लै० पोस्के; सं० अज, ग्रीक, अगे, लै० अगे।

किंतु अथेमेटिक धातुओंमें यहाँ –हि [–धि] वाले रूप पाये जाते हैं:—सं० इहि, अवे० इदि, ग्रीक इथि सं० विद्धि, ग्रीक इस्थि। इस –धि के अन्य उदाहरण जुहुधि [√हु], शृणुधि [√श्रु], गधि [√गा], बूधि [√ब्रू] हैं। प्रथम पु० ए० व० ब० व० में गौण तिङ् चिह्न-त्-, –न्त् के साथ–उ जोड़ा जाता है:—'भवत्-उ' [भवतु], भवन्त्-उ [भवन्तु]। यह-उ तिङ् चिह्न हित्ती भाषामें पाया जाता है:—एश्तु [सं० अस्तु], कुएन्तु [सं० हन्तु], कुनन्तु [सं० घ्नन्तु]। आत्मनेपदी रूपोंमें म० पु० ए० व० में –'स्व' चिह्न पाया जाता है। यह तिङ् चिह्न केवल अवेस्तामें मिलता है—अवे० कृअरुअश्वा [सं० कुरुष्व], बरङ्हु [भरस्व]। प्रथम पु० ए० व० ब० व० में–आम् तिङ् चिह्न पाया जाता है। यह अवेस्ताम्में–अम् पाया जाता है:—बरॅज्यतम्, खओसॅन्तम्।

संस्कृत लिट् लकारके रूपोंकी दो प्रमुख विशेषताएँ हैं, प्रथम तो इसमें धातुका द्वित्व पाया जाता है, दूसरे तिङ् चिह्न वर्तमानके मुख्य तथा लुङ् के गौण तिङ् चिह्नोंसे भिन्न होते हैं। लिट् लकारमें द्वित्ववाले अक्षर [पाणिनिने इसकी पारिभाषिक संज्ञा, 'अभ्यास' दी है][1] में प्रायः 'अ' स्वर [प्रा० भा० यू० *ए] प्रयुक्त होता है, किंतु जिन क्रियाओंमें मूल स्वर इ या उ होता है, वहाँ द्वित्ववाले अक्षरमें 'अ' के स्थानपर क्रमशः इ या उ स्वर

१. पूर्वोऽभ्यासः। पाणिनिसूत्र ६.१.४।

पाया जाता है:—पपाठ [√पठ्], बभाज [√भज्], विद्वेष [√द्विष्], लिलेह [√लिह्], बुबोध [√बुध्], चुक्रोध [√क्रुध्]। लिट् के द्वित्वीकरणकी दृष्टिसे इन रूपोको निम्न वर्गोंमे बांटा जा सकता है:—

[१] वैदिक संस्कृतमे कतिपय लिट् रूपोंमे द्वित्वाक्षरमे 'अ' 'इ' 'उ' के स्थानपर दीर्घ स्वर 'आ' 'ई' 'ऊ' पाया जाता है, यथा दाधार [√धृ], जागार [√गृ], मामृजे [मृज्], पीप्याय [√पा], तूताव। वस्तुतः ये पौनःपुन्यार्थक बोधक द्वित्वके रूप हैं।

[२] 'ऊ' स्वरवाले दो धातुओंमे द्वित्वरूपमें 'अ' स्वर पाया जाता है:—बभूव [√भू], ससूव [√सू]।

[३] आदिमे 'अ' स्वर ध्वनिवाले धातुओमे लिट् मे आ [अ + अ] पाया जाता है। यथा, आद [∠ *अअद] [√अद्], आस [∠ *अअस] [√आस]। आदिमें अ ध्वनिवाले कतिपय धातुओंमे द्वित्व रूपसे 'न्' ध्वनि भी पाई जाती है; आनञ्ज, आनजे [√अञ्ज], आनंश, आनशे [√अश्]। इसके सादृश्यपर आदिमे ऋ ध्वनिवाले धातुओंमे भी यह 'न्' तत्त्व पाया जाने लगा है : आनर्च, आनृचे [√ऋच् अथवा√अर्च्]।

[४] आदिमें इ या उ ध्वनिवाले धातुओमे इ-उ का द्वित्व होता है, द्वितीय अक्षरमें इ, उ का गुण रूप 'ए'–'ओ' पाया जाता है तथा प्रथम अक्षर एवं द्वितीय अक्षरके स्वरोंमें सन्धि रोकनेके लिए 'य' अथवा 'व' श्रुतिका प्रयोग किया जाता है; दुर्बल रूपमें इ तथा उ को ई तथा ऊ बना दिया जाता है। इयेष [इ + य् + एष], ईषे [इ + इषे] [√इष्], उवोच [उ + व् + ओच], ऊचे [उ + उचे] [√उच्]।

[५] य तथा कतिपय व वाले धातुओंमे भी इसी तरहका द्वित्व पाया जाता है; यहाँ भी दुर्बल रूपमें क्रमशः ई-ऊ पाये जाते हैं:—इयाज-ईजे [√यज्], उवाच—ऊचे [√वच्]।

[६] जिन धातुओंमें 'अ' ध्वनि व्यञ्जन-मध्यग है, वहाँ द्वित्वरूपमे 'अ'

ही पाया जाता है, **पपात, बभाज, बभार** [√भृ-भर्], **पपाठ, जगाम**। इसके दुर्बल रूपमें वहाँ धातुके **'अ'** के स्थानपर **'ए'** हो जाता है: **तेने, पेचे**।

[७] संस्कृतमें एक धातु ऐसा भी है, जिसमें लिट्में धातुका द्वित्व नहीं होता : सं० **वेद** [√विद्]। इसके अन्य भा० यू० समानान्तर रूप भी द्वित्वहीन ही हैं : ग्रीक **ओइद** [oida], गॉथिक **वइत** [wait]। वैदिक संस्कृतमें कतिपय अन्य द्वित्वहीन लिट् रूप भी मिलते हैं:—**तक्षथुः, तक्षुः, स्कम्भथुः, स्कम्भुः**।[1]

भा० यू० परिवारकी कई भाषाओंमें लिट् [परिपूर्ण भूत] में यह द्वित्व प्रक्रिया नहीं पाई जाती। लैतिन तथा जर्मनीय वर्गमें द्वित्व प्रक्रिया नहीं है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि जिस तरह लुङ् एवं लङ्के रूपोंमें प्रा० भा० यू० में 'अ' आगमका प्रयोग अत्यावश्यक था उस तरह लिट्के रूपोंमें द्वित्व प्रक्रिया आवश्यक नहीं मानी जाती थी। वैसे ग्रीक तथा संस्कृतने लिट् रूपोंमें द्वित्व प्रक्रियाका पालन किया है, किन्तु यहाँ भी सं० वेद, ग्रीक ओइद जैसे द्वित्वहीन छुटपुट-रूप मिल ही जाते हैं। भा० यू० भाषाओंके लिट्के समानान्तर रूपोंके कतिपय उदाहरण ये हैं:—

सं० **जजान**, ग्रीक **गगोने** सं० **ददर्श**, ग्रीक **देदोर्क**; सं० **चिच्छेद, चिच्छिदे**, लै० **स्किकिदी** [scicidī], गॉथिक **स्कइस्कइथ** [skai-skaiθ], **दिदेश, दिदिशे**, ग्रीक **देदेइख** [dedeikha], **देदेइग्मइ** [dedeigmai], **रिरेच, रिरिचे**, ग्रीक **लेलोइप**, लै० **लीक्वी** [lquī], गॉथिक **लइह्व** [laihw], सं० **निनेज, निनिजे**, आयरिश **नेनइग** [nenaig]।

सं० **तुतोद, तुतुदुः**, लै० **तुतुदी** [tutudī] गॉ० **स्तइस्तौत** [staitaut]।

---

१. T. Burrow: Sanskrit Language p. 342.

सं० ववर्त, लै० वोर्तो. वेर्तो [verti, vorti], गॉथिक वर्थ [warθ]।

सं० ददर्श, गॉथिक ग-दर्स [ga-dars]

सं० जघान, आयरिश उ० पु० ए० व० गेगोन [gegon], प्र० पु० ए० व० गेगोइन [gegoin]

तिङ् चिह्नः—सर्वप्रथम तिङ् प्रत्यय कर्तृवाच्य [परस्मैपद] तथा स्ववाच्य [आत्मनेपद] के आधारपर दो तरहके होते हैं। इसके बाद प्रत्येक कोटिमें मुख्य तिङ् चिह्न तथा गौण तिङ् चिह्न इन दो श्रेणियोंको और माना जा सकता है। ये तिङ् चिह्न पुरुष तथा वचनके अनुसार भिन्न-भिन्न हैं, तथा प्रा० भा० यू० 'अथेमेतिक' तथा 'थेमेतिक' रूपोंमें भी ये तिङ् चिह्न भिन्न-भिन्न प्रकारके थे, किन्तु संस्कृतमें आकर यह दूसरा भेद नहीं पाया जाता। [परोक्षभूते] लिट्के तिङ् चिह्न संस्कृतमें बिल्कुल अलग तरहके हैं। मुख्य चिह्नों तथा गौण चिह्नोंमें जो प्रमुख भेद है, वह यह है कि मुख्य चिह्नोंमें तिङ् चिह्नोंका सबल रूप [strong form] पाया जाता है, जब कि गौण चिह्नोंमें उनका दुर्बल रूप [weak form] पाया जाता है। उदाहरणके लिए, उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष एकवचनके मुख्य तिङ् चिह्न क्रमशः मि, सि, ति [भरामि, भरसि, भरति] हैं, जब कि गौण तिङ् चिह्नोंमें इनके दुर्बल [स्वरहीन] रूप—म्, स्, त् [अभरम्, अभरः, अभरत्] पाये जाते हैं। यह दुर्बल रूप प्रा० भा० यू० में भी पाया जाता था। ग्रीकमें भी इसका अस्तित्व है। संस्कृतके एक और चिह्नको ले लें—प्रथम पुरुष बहुवचनका तिङ् चिह्न 'न्ति' है, जब कि गौण रूपमें वह *न्त् पाया जाता है। इस *न्त् का त् अंश लुप्त हो जाता है, और इस तरह केवल न् बचा रहता है, यथा भरन्ति; अभरन् [*अभरन्त्]। विकरणहीन धातुओंमें यह न्ति प्रायः अति के रूपमें परिवर्तित हो जाता है, यथा √दा—ददति। वस्तुतः ०अञ्जनके बाद यह न्ति, अति हो जाता है [*दद् + न्ति [>ददृ—नृति]—दद् +

अति = ववति]। उत्तम पुरुष बहुवचनका मुख्य तिङ् चिह्न मसि है, जो संस्कृतमें मस् [मः], [यथा, पठामः में] पाया जाता है। अवेस्तामें यह 'महि' [Mahi] हो गया है। ग्रीकमें इसका समानान्तर 'मे॑न्' [Men] बादमें विकसित हुआ है। ग्रीककी एक विभाषा दोरिक [Doric] में यह मे॑स् [Mes] पाया जाता है। इसीका गौण रूप केवल 'म' [आम] रह गया है, जो अपठाम, अभराम, अगच्छाम आदि रूपोंमें स्पष्ट हैं। वर्तमाने लट्के मध्यम पुरुष ब० व० का 'थ' तिङ् चिह्न संभवतः लिट्का प्रभाव हो; मिलाइए— भरथ, पठथ। द्विवचनके तिङ् चिह्नोंका विकास प्रत्येक भाषामें स्वतन्त्र रूपमें पाया जाता है, अतः भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इनके विकासपर कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता। वैसे ये चिह्न तस्, थस्, वस् [तः, थः, वः] तथा ताम् तम्, व हैं।

परोक्षभूते लिट्के तिङ् चिह्न सर्वथा भिन्न हैं और ये चिह्न प्रा०भा०यू० लकार चिह्नोंसे ही विकसित हुए हैं। प्रथम तथा उत्तम पुरुष ए० ब० का चिह्न अ है, जो सं० वेद, ग्रीक [वॊ–] ओइदा [W]oida] में पाया जाता है। इसका प्रा० भा० यू० रूप *ओ॑ [*o] था। मध्यम पुरुष ए० व०का चिह्न थ है, जो ग्रीकमें भी थ ही है; किन्तु ग्रीक थ का विकास प्रा० भा० यू० *ध से भी हो सकता है, अतः इसका प्रा० भा० यू० रूप अनिश्चित ही है। संस्कृतमें लिट्के प्रथम पुरुष ए० व० का चिह्न उः [>उर्] है, जो जग्मुः, पेठुः आदि रूपोंमें स्पष्ट है। यह 'उर्' अवेस्तामें अर्अश् तथा लैतिनमें ए॑रे॑ पाया जाता है। लिट्के अन्य चिह्न प्रायः वर्तमानके चिह्नोंसे विकसित हुए हैं।

प्रा० भा० यू० में स्ववाच्य [आत्मनेपद] ए० व० के तिङ् चिह्न *अइ, *सइ, *तइ हैं। इन्हींसे संस्कृतके ए [भाषे], से [भाषसे], ते [भाषते] विकसित हुए हैं, किन्तु ग्रीकमें अइ, सइ, तइ ही रहे हैं। प्र० पु० ब० व० में प्रा० भा० यू० तिङ् चिह्न *न्तइ है, जो संस्कृतमें–न्ते

[भावन्ते] पाया जाता है, किन्तु जुहोत्यादि धातुओंमें यह चिह्न केवल अते [दद् + अते = ददते] ही है। उत्तम पु० बहु० व० मे मुख्य तिङ् चिह्न महे [भावामहे, भरामहे], तथा गौण तिङ् चिह्न 'महि' [अभावामहि] है। मध्यम पु० बहु० व० का मुख्य तिङ् चिह्न ध्वे [प्रा० भा० यू० *ध्वइ] है, जो अवेस्तामे दुये हो गया है। इसका गौण चिह्न ध्वम् है जो अवेस्तामे 'दूम्' है। आत्मनेपदके गौण तिङ् चिह्नोमे संस्कृतमे लुङ्के उ० पु० ए० व० का चिह्न इ पाया जाता है, जो अ विकरणसे मिलकर ए भी हो जाता है, यथा √कृ- अक्रि, √भृ–अभरे। यह इ वस्तुतः भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है।

आज्ञार्थे लोट्के म० पु० ए० व० में सविकरण धातु प्रायः शून्य तिङ् चिह्नयुक्त होता है, यथा भृ + अ + 0 = भर, किन्तु अविकरण धातुमें यह तिङ् चिह्न– धि [हि] होता है, यथा इहि, अवृधि। यह चिह्न प्रा० भा० यू० *धि से विकसित हुआ है। लोट्के प्रथम पु० तथा मध्यम पु० के एकवचनमें तात् तिङ् चिह्न भी पाया जाता है, यथा पठतु–पठतात्, पठ–पठतात। यह तात लैतिनमें तोत् [tōt] के रूपमें पाया जाता है, अतः इसका विकास प्रा० भा० यू० *तोत्[*tōt] से माना जा सकता है; लै० वेहितो [vehito], सं० वहतात्, लै० एस्तो [सं० स्तात्] संस्कृतके आत्मनेपदी धातुओंके कई रूपोंमे प्रथम पुरुष एकवचनमे एक 'र्' ध्वनि तिङ् चिह्नके साथ-साथ पाई जाती है। यह ध्वनि दुह्राम्, दुह्रताम्, असृग्रम्, अदुह्रन्, अशेरन् आदिमे देखी जा सकती है। यह 'रेफ' तत्त्व केल्तिक परिवारकी आयरिश तथा वेल्शमे विशेष पाया जाता है, वैसे लैतिनमे भी यह 'र्' 'मिडिल' तथा 'पेसिव' वोयसके लिए प्रयुक्त होता है।[1]

---

१. उदाहरणके लिए lucto का मिडिल वायसका रूप lucto–r = lucitur पाया जाता है। दे० Cockson : P. 148–19.

इसके कुछ रूप इलेतिक परिवारकी भाषाओंमें तथा तोखारिशमें भी पाये जाते हैं। संस्कृतके परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी रूपोंमें कई स्थानपर 'र्' पाया जाता है, यह हम देख चुके हैं। इतालिक तथा आयरिशके 'मिडिल' तथा 'पेसिव' रूपोंमें यह 'र्' तिङ् चिह्नोंके साथ प्रयुक्त होता है। कुछ उदाहरण ये है :—

आयरिश बेरि–र् [beri–r] [उसे ले जाया गया है।]

,, बेर्ति–र् [berti–r] [उन्हें ले जाया गया है।]

वेल्श केनिर् [cenir] [संगीत चल रहा है, या संगीत चलेगा।]

,, दिवेदिर [dywedir] [लोग कहते है।][1]

वस्तुतः यह र् पुरुषहीन [impersonal] प्रत्यय [अथवा विकरण] था, जिससे केवल क्रियामात्रका बोध कराया जाता था।

यहाँपर दो शब्द गौण धातुरूपोंपर कह दिये जायें। संस्कृतके गौण धातु रूपोंको पाँच वर्गोंमें बाँटा जा सकता है—[१] कर्मवाच्य रूप, [२] यङन्त तथा यङ्लुगन्तरूप, [३] सन्नन्तरूप, [४] णिजन्तरूप तथा [५] नामधातु। कर्मवाच्य रूपोंमें 'य' विकरण पाया जाता है, इसका संकेत हम कर चुके हैं। इस दृष्टिसे ये रूप दिवादिगणी रूपोंके समान होते हैं। दूसरी विशेषता कर्मवाच्य रूपोंकी यह है कि ये सदा आत्मनेपदी ही होते हैं। इन रूपोंमें उदात्त स्वर सदा य विकरणपर पाया जाता है, जबकि दिवादिगणी रूपोंमें यह स्वर धात्वंश पर होता है—म्रियते, ध्रियते, मुच्यते, क्षीयते। इस ढंगके कर्मवाच्यरूप केवल अवेस्तामे ही मिलते हैं, अन्यत्र नहीं—अवे० किर्य्इन्ते [kiryeinte] [सं क्रियन्ते]। कर्मवाच्यके लिट् तथा लृट्के रूप प्रायः वही होते हैं, जो आत्मनेपदी क्रिया रूपोंके पाये जाते हैं,

१. T. Hudson-Williams : A short Introduction to the study of Comparative Grammar, p. 75.

यथा, **ददे** [दिया गया], **दास्यते** [दिया जायगा]। यङ्लुगन्त रूपोंका अस्तित्व छान्दस भाषामें भी पाया जाता है तथा वेदमे लगभग ९० धातुओंके ऐसे रूप पाये जाते हैं। इसमें धातुका द्वित्व रूप पाया जाता है। इ या उ ध्वनिवाले धातुओमें इसमे स्वरका गुणीभाव पाया जाता है:— **नेनेक्ति–नेनेक्ते** [√नी], **वेवेत्ति**[√विद्], **देदिष्टे** [√दिश्], **जोहवीति** [√ह्]। क्रियाके पौनःपुन्य बोधनके लिए संस्कृतमे उक्त यङ्लुगन्त रूपोंके अतिरिक्त यङन्त रूप भी पाये जाते है, जिनमे 'य' [**यङ्**] विकरण का प्रयोग होता है, चूंकि उक्त रूपोमे यह य नहीं पाया जाता, अतः उन्हे '**यङ्लुगन्त**' [**यङ्-लुक्-अन्त**] कहा जाता है। य विकरणवाले रूप ये है:—**जाजायते, जञ्जन्यते, जेघ्नीयते, वरीवृत्यते, नरीनृत्यते**। णिजंत रूपोंमें चुरादि गणके धातुओंकी तरह–'**अय**'–विकरण पाया जाता है। प्राचीन भाषामें इन दोनोमे यह भेद था कि चुरादि गणके शुद्ध धातुओंमें धातुका गुणीभाव नहीं पाया जाता,जबकि णिजन्त रूपोंमे उसका गुणीभाव पाया जाता है—**द्युतयति-द्योतयति, रुचयति–रोचयति, पतयति-पातयति**। इनमें द्वितीय रूप णिजंत प्रक्रियाके है। णिजन्त रूपोंमे धातुका सदा गुणीभाव पाया जाता है:—**तर्पयति** [√तृप्], **वर्धयति** [√वृध्], **बोधयति** [√बुध्]। आ अन्तवाले धातुमे णिजन्तमे–प्–विकरणका समावेश कर दिया जाता है:—**दापयति** [√दा], **स्नापयति** [√स्ना], **मापयति** [√मा], **यापयति** [√या],। कतिपय धातुओंमे–ल्, न्, ष् ,त्, य् भी पाये जाते हैं:—**पालयति** [√पा 'रक्षा करना'], **पाययति** [√पा 'पीना'], **प्रीणयति** [प्री], **भीषयते** [√भी], **घातयति** [√हन्]। सन्नन्त रूपोंमें स विकरण पाया जाता है तथा धातुका द्वित्व होता है:—**बिभित्सति, बुभुत्सामि, दिदृक्षामि, विविविषामि, दित्सामि** [√दा], **धित्सामि** [√धा], **शुश्रूषामि** [√श्रु], **जिगीषामि** [√जि]। नामधातुओंका विकरण भी '**य**' है, तथा इनके रूप भी णिजन्तकी तरह चुरादिगणी हैं। इनमें उदात्त स्वर

विकरणपर ही होता है:—**दण्डयामि, अर्थयते, चूर्णयति, दोलायते, भिषज्यति, तपस्यति।**

इस संबन्धमे थोड़ा विचार ऐसे धातुओंपर कर लिया जाय, जो आरंभमे भिन्न थे, किन्तु बादमे जाकर परस्पर समाहित हो गये हैं। वैदिक संस्कृतमें कई ऐसे धातुओंका सकेत मिलता है, जो एक ही अर्थमें प्रयुक्त होते थे। वैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इनके अर्थोमे थोड़ा सूक्ष्म भेद अवश्य था। धीरे-धीरे वह भेद लुप्त हो गया तथा ये धातु एक दूसरेमें समाहित हो गये। उदाहरणके लिए √**भू–अस्**; √**पश्–दृश्–स्पश्**; √**गम्–गा–इण्** इन तीन वर्गोंको ले लीजिए। **भू** तथा **अस्** दोनों धातु सत्तार्थक है। आरंभिक स्थितिमे दोनों धातुओंके सभी रूप भिन्न-भिन्न पाये जाते होंगे। धीरे-धीरे √**अस्** धातु √**भू** में समाहित होने लगा, और आज इसके **अस्ति, अस्तु, आसीत्, स्यात्** ये ही रूप पाये जाते है, बाकी रूपोंमें √**भू** के रूपोंका ही प्रयोग होता है। यदि √**अस्** का भविष्यत् [लृट्] पूछा जाय, तो वैयाकरण **भविष्यति** बतायेगा, ***अस्स्यति** नहीं। किन्तु √**भू** धातुके स्वयंके सभी रूप सुरक्षित है, तथा वहाँ **भवति, भवतु, भवेत्, अभवत्, भविष्यति, भविता, अभविष्यत्, भूयात्, बभूव, अभत्** सभी रूप पाये जाते है।

√**पश्–दृश्** तथा √**स्पश्** तीनों धातुओका अर्थ 'देखना' है। √**स्पश्** धातु वेदमे पाया जाता है, किन्तु लौकिक संस्कृतमें इसका प्रयोग एक प्रकारसे नहीं पाया जाता, वैसे इससे बना नाम शब्द '**स्पशः**' [**स्पश् + अच्**] संस्कृतमे प्रयुक्त होता है, यथा '**शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा**' [**माघ, २ सर्ग**]। √**पश्** तथा **दृश्** दो अलग-अलग धातु थे। किंतु वेदमें ही आकर हम देखते है कि √**पश्** के लुङ्वाले रूप नहीं पाये जाते। धीरे-धीरे **पश्** [**पश्य**] वर्तमान तथा उससे संबद्ध लकारोमे √**दृश् के** स्थानपर आदेश माना जाने लगा, **पश्यति, पश्यतु, पश्येत्**

अपश्यत्। किन्तु लुङ् तथा उससे संबद्ध लकारोमे यह दृश् ही रहा, जैसे, द्रक्ष्यति, अद्राक्षीत् आदि।

√गम्, गा तथा √इण् इन तीनों धातुओका अर्थ 'जाना' है। √'गा' [गमनार्थक] धातु वेदमे पाया जाता है तथा यह 'जुहोत्यादिगण' का धातु है, जिसके रूप जिगाति, जिगातु आदि पाये जाते है। √गम् धातु संस्कृतमे स्वतन्त्र रूपमे पाया जाता है, किंतु √गा धातु व्याकरणमे √इण् मे आकर समाहित हो गया है। संस्कृत व्याकरणके अनुसार √इण् धातुके लुङ्मे 'गा' आदेश हो जाता है। पाणिनिके प्रसिद्ध सूत्र 'इणो गा लुङि' के अनुसार √इण्—गा धातुके लुङ्के रूप अगात् आदि बनते है। यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है, क्या इस √गा का √गम् से कोई संबंध है? हमारे मतानुसार इस √गा को भी उसी प्रा० भा० यू० धातु *ग्वम् से विकसित मानना संगत है। इस *ग्वम् के, जो स्वयं शून्यरूप [zero–form] है, *ग्वेम् तथा *ग्वेम् क्रमशः गुण तथा वृद्धि रूप माने जा सकते हैं। यह वृद्धि रूप *ग्वेम् संस्कृतमे आकर ध्वनि-शास्त्रीय नियमोंके अनुसार गा हो जायगा।

असमापिका क्रिया [infinite verbs]:—अब तक हमने समापिका क्रियाओ [finite verbs] का उल्लेख किया है। यहाँ संक्षेपमे असमापिका क्रियाओंका संकेत कर देना आवश्यक होगा। इन्हे मोटे तौरपर तीन वर्गोंमे बाँट सकते हैः—[१] वर्तमानकालिक, भूतकालिक तथा भविष्यत्कालिक कृदन्त प्रत्यय। [२] तुमन्तरूप, [३] पूर्वकालिक क्रिया रूप।

१. [अ] वर्तमानकालिक कृदन्त प्रत्यय—न्त्[—त्—], —मान, तथा —आन हैं। इनमे '—न्त्' परस्मैपदी रूपोके साथ जुड़ता है; शेष दो आत्मनेपदीरूपोंके साथ। संस्कृत वैयाकरण इन्हे क्रमशः 'शतृ' तथा 'शानच्' कहते हैं। आन अथेमेटिक [अ-विकरणहीन] आत्मनेपदी धातुओंमे प्रयुक्त होता है, शयानः, ददानः, दधानः, जबकि—मान थेमेटिक [अ-विकरणयुक्त] आत्मनेपदी धातुओमे प्रयुक्त होता है—भाषमाणः, भरमाणः,

वर्तमानः। इन प्रत्ययोंकी व्युत्पत्तिका संकेत हम कर चुके हैं। लैतिनमें इसके समानान्तर रूप क्रमशः–'ऐन्त्' [–न्त्] तथा–मिनि, 'म्नुस्' पाये जाते हैं:— **रेगेन्ते·स** [reg-ent-es]; **अलुम्नुस्** [alumnus]। ग्रीकमें कर्तृवाच्य परस्मैपदी क्रियाओंमें–ओन्–ओन्त् वाले कृदंत रूप पाये जाते हैं:—**फेरोन्त्**; **एसोन्त्**। कर्मवाच्य तथा आत्मनेपदी रूपोंमें ग्रीकमें–'मेनोस्' तथा–म्नो प्रत्यय पायें जाते हैं:—**फेरोमेनोस्** [सं० भरमाणः], **बेले-म्नोन्**। संस्कृतमें इन प्रत्ययोंके उदाहरण ये हैं:—

भवत् [**भवन्त्**–], **भवमान**, **द्विषन्त्**, **द्विषाण**, **यन्त्**, **इयान**, **जुह्वत्**, **जुह्वान**।

[आ] **भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्तः**—'त[क्त]'तथा '**न**'। इनकी व्युत्पत्तिका संकेत हम कर चुके हैं। इनका ग्रीकमें –'तोस्' तथा लैतिनमें '–तुस्' रूप मिलता है:–ग्रीक '**बतोस्**' [सं० गतः], **क्लुतोस्** [सं० श्रुतः], लै० (इन–) **क्लुतुस्** [सं० श्रुतः]। संस्कृतमें इस प्रत्ययसे निष्पन्न रूपोंमें ध्वन्यात्मक तथा सन्ध्यात्मक [Prosodic] परिवर्तन पाये जाते हैं:—

दग्ध[√दह्], **नद्ध** [√नह्], **मत्त**[√मद्], **लब्ध** [√लभ्], **दिष्ट** [√दिश्], **सिक्त** [√सिच्], **श्रुत** [√श्रु], **मूढ** [√मुह्], **पृष्ट** [√पृच्छ्], **जात** [√जन्], **खात** [√खन्], हित [=*धित; ∠धा], **मित** [∠मा], **दत्त** [∠दा], **शयित** [∠शी], **गलित** [√गल्], **मिलित** [√मिल्], **गृहीत** [√ग्रह्]

कतिपय धातुओंमें कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त रूपोंमें 'न प्रत्यय मिलता है। इसका ग्रीकमें 'नोस्'तथा लैतिनमें'नुस्'रूप पाया जाता है:— ग्री०, **हग्नोस्**, **स्तुग्नोस्**; लै० प्लेनुम् दिग्नुस्। संस्कृतमें इस प्रत्ययके उदाहरण ये हैं:—**खिन्न** [√खिद्], **भिन्न** [√भिद्], **विषण्ण** [√सद्], **आपन्न** [√पद्,] **क्षीण** [√क्षी], **हीन** [√ही], **गीर्ण**

[√गिर्], **जीर्ण** [√जर्], **भग्न** [√भञ्ज्], **भुग्न** [√भुज्], **मग्न** [√मज्ज्], **लग्न** [√लग्]

[इ] कर्तृवाच्य भूतकालिक कृदंतः—इनमे–तवत् [तवन्त्] [सं० क्तवत्] प्रत्यय पाया जाता है जो वस्तुतः उक्त 'त' वाले रूपोके साथ–'वन्त्' [वत्] जोडकर बनाया है। **उक्त-उक्तवन्त्** [**उक्तवान्**], **चिन्तित–चिन्तितवन्त्**[**चिन्तितवान्**],**आदिष्ट-आदिष्टवन्त्**[**आदिष्टवान्**]।

[ई] भविष्यकालिक कर्मवाच्य कृदंत [Gerunds]—इनमें संस्कृतमे तीन प्रत्यय पाये जाते है:— **–य–**, **–तव्य–**, **–अनीय–**। इनमे प्रथमका संबंध प्रा० भा० यू० ***यो** [io] से जोडा जाता है, जो ग्रीक **ह्ग्योस्** ['agios] से स्पष्ट है। इसके संस्कृत उदाहरण ये है:—**ज्ञेय** [√ज्ञा], **ध्येय** [√ध्या], **विक्रय** [वि + √क्री], **नेय** [√नी], **भाव्य** [√भू], **पाक्य** [√पच्], **वाच्य** [√पच्]। द्वितीय प्रत्ययका संबंध प्रा० भा० यू० ***–तेवो** [teuo] से जोडा जाता है, जो ग्रीक '**दोतेओस्**' [doteos] [सं० **दातव्यम्**] मे स्पष्ट है। इसके–उदाहरण ये है—

स्थातव्य [√स्था], **कर्तव्य** [√कृ], **वर्तितव्य** [वृत्]।'**अनीयर्**' [अनीय] की व्युत्पत्ति संदिग्ध है, वैसे इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू० –*एनो,–*ओनोसे मानी गई है, जो संस्कृतमे '**अन**'–[ल्युट्] के रूपमे भी पाया जाता है [**पचनम्, मननम्, पठनम्** आदिमे]। इसके उदाहरण है:—**करणीय**[∠कृ], **दर्शनीय** [∠दृश्], **भोजनीय** [भुज्], **पठनीय** [√पठ्], **पानीय** [√पा]।

संस्कृतमे भविष्यत्के कर्तृवाच्य कृदन्त रूप भी मिलते है, जो वस्तुतः वर्तमानकालिक कृदन्तोमें ही–'स्य'–जोडकर बनाये जाते है:—**भविष्यत्, करिष्यमाणः**।

[२] तुमन्त कृदंत प्रत्यय [Infinitives]:—वेदोमे तुमन्त अर्थमे कई प्रत्यय पाये जाते है, जिनका संकेत हम कर चुके है। लौकिक

संस्कृतमें–'तुं' ही बचा है। इससे मिलता-जुलता तुमन्त कृदन्त केवल लैतिन तथा लिथुआनियनमें पाया जाता है:—लै० **दतुम्** [सं० **दातुम्**], लिथु० **देतुम्** [सं० धातुं], इसके रूप ये हैं:—**जेतुम्** [√जि], **भेतुम्** [√भी], **श्रोतुम्** [√श्रु], **वक्तुम्** [√वच्], गन्तुम् [√गम्], **रोढुम्** [√रुह्], **द्रष्टुम्** [√दृश्], **भवितुम्** [√भू], **शयितुम्** [√शी], **र्वात्तुम्** [√वृत्], **चेष्टितुम्** [√चेष्ट्], **ग्रहीतुम्** [ग्रह्]।

[३] पूर्वकालिक क्रिया रूप [Absolutives] :—पूर्वकालिक क्रियार्थमें संस्कृतमें दो प्रत्यय पाये जाते हैं:— –'**त्वा**', –'**य**' [ल्यप्]। इनमें प्रथम शुद्ध [अनुपसर्ग] धातुके साथ जोड़ा जाता है, द्वितीय सोपसर्ग धातुके साथ। दोनोंके उदाहरण क्रमशः ये हैं:—

जित्वा [√जि], **नीत्वा** [√नी], **श्रुत्वा** [श्रु], **भूत्वा** [भू], **मुक्त्वा** [√मुच्], **लब्ध्वा** [√लभ्], **त्यक्त्वा** [√त्यज्], **ज्ञात्वा** [√ज्ञा], **दत्त्वा** [√दा], **हित्वा** [√धा], **पीत्वा** [√पा]।

उपनीय [उप + √नी], **अव-तीर्य** [√तॄ], **नि-पत्य** [√पत्], **प्र-विश्य** [√विश्], **आ-हूय** [√ह्वे], **आ-ज्ञाय** [√ज्ञा], **आ-दाय** [√दा], **आ-गत्य** [√गम्], **अनु-मत्य** [√मन्]।

क्रियाविशेषण:—

संस्कृत क्रियाविशेषणोंको हम दो वर्गोंमें विभक्त कर सकते हैं:—एक वे क्रियाविशेषण जो मूलतः सविभक्तिक रूप थे; ये वस्तुतः संज्ञा शब्द विशेषण या सर्वनामसे बने वे सविभक्तिक रूप है, जो धीरे-धीरे अव्ययके रूपोंमें प्रयुक्त होने लगे हैं; दूसरे वे क्रियाविशेषण जो किन्हीं प्रत्ययोंसे बने हैं। ग्रीक तथा लैतिनमें दोनों तरहके क्रियाविशेषण पाये जाते हैं। वहाँ भी कई सविभक्तिक शब्द क्रियाविशेषणोंके रूपमें प्रयुक्त देखे जाते हैं।[1]

१. Atkinson : Greek Language PP. 100–101. **साथ ही** Papillon : Comparative Philology applied to Greek anp Latin Inflexions. Appedix II C.D. P. 253.

१. सविभक्तिक क्रियाविशेषण :—

[अ] द्वितीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

[i] संज्ञा रूपोंसे बने क्रियाविशेषण :—**कामम्, समकालम्, अहर्निशम्, सुखम्, रहः।**

[ii] विशेषणोंसे बने क्रियाविशेषण :—**अनन्तरम्, चिरम्, नित्यम्, प्रत्यक्षम्, बाह्यम्, साम्प्रतम्, आशु, साधु।**,

[iii] सर्वनाम शब्दोसे बने क्रियाविशेषण:—**तत्, यत्, किम्, यावत्, तावत्।** ग्रीकमें भी द्वितीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण पाये जाते हैं:—**विकेन्, खरिन्**; इनके साथ ही तुलनात्मक विशेषण रूपोके द्वितीया ए० व० ब० व० के रूप ही क्रियाविशेषणके रूपमें प्रयुक्त होते हैं:—**मकोन्।** लैतिनमें भी संज्ञा सर्वनाम तथा विशेषणोंके द्वितीया ए० व० ब० व० के रूप क्रियाविशेषणोंके रूपमें प्रयुक्त होते हैं:—**पर्वोम्, क्वम्,** [ए० व०] **क्विम्, अलिअस्** [ब० व०]।

[आ] तृतीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण:—

[i] संज्ञावाले रूप :—**क्षणेन, दिष्ट्या, सहसा।**

[ii] विशेषणोंसे बने रूप :—**दूरेण, दूरतरेण, तिरश्चा, उच्चैः, प्रोच्चैः, शनैः।**

[इ] चतुर्थी विभक्तिवाला केवल एक ही क्रियाविशेषण संस्कृतमे पाया जाता है:—**अर्थाय।**

[ई] पञ्चमी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण प्रचुर हैं :—

[i] संज्ञावाले रूप :—**बलात्, संक्षेपात्।**

[ii] विशेषणवाले रूप:—**अचिरात्, दूरात्, कृच्छ्रात्, साक्षात्।**

[iii] सर्वनामवाले रूप:—**तात्, कस्मात्,** ग्रीक तथा लैतिनमें अपादान [Ablative] वाले सविभक्तिक विशेषण प्रचुर हैं. कतिपय उदाहरण ये हैं:—**ग्रीक होस्** [सं० तात्]; **होपोस्** [सं० कस्मात्];

लैतिन रेक्तेद् [rected], फकिलूमेद् [facillumed], मेरितोद् [meritod]

संस्कृतमें षष्ठी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण नहीं पाये जाते; लैतिनमें भी इनका अभाव है, ग्रीकमें कतिपय सर्वनाम शब्दोंके संबंध कारकीय [genitive] क्रियाविशेषण पाये जाते हैं, जैसे— होउ [सं० तस्य], हूपोउ [सं० कस्य]।

[ऊ] सप्तमी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

अग्रे, अर्थे, ऋते।

ग्रीक तथा लैतिनमें अधिकरण [locative] कारकवाले क्रियाविशेषण पाये जाते हैं; कुछ उदाहरण ये हैं :—ग्रीक होइ [सं० तस्मिन् अथवा तत्र], पोइ [कस्मिन् अथवा कुत्र], होथि [सं० तत्र] पोथि [सं० क्व, कुत्र]; लैतिन उबि, इबि [सं० तत्र, अत्र]।

२. सप्रत्यय क्रियाविशेषण:—

[अ] –वत् प्रत्यय, जो सादृश्यके अर्थमें पाया जाया है :—खगवत्, पुत्रवत्, मूकवत्, चित्रकर्णवत्, यथावत्। इस प्रत्ययका संबंध पूर्वोक्त तद्धित प्रत्यय 'वत्'–'वन्त्' से जोड़ा जा सकता है।

[आ] –तः [तसिल्] प्रत्यय :—अतः, इतः, ततः, यतः, कुतः, परतः, पुरतः, सर्वतः, दूरतः, आवितः, अर्थतः, दैवतः।

इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० यू० *तोस् से मानी गई है, जिसका रूप ग्रीकमें *तोस् तथा लैतिनमें *तुस् पाया जाता है। यथा, ग्रीक एक्तोस्, ऐक्तोस्, लैतिन इन्तुस्, राबिकितुस्।[1]

[इ] –ति प्रत्यय—'इति'।

[ई] –त्र प्रत्यय :—अत्र, कुत्र, तत्र, यत्र, अन्यत्र, सर्वत्र।

---

१. ThuMb : Handbuck des Sanskrit § 403. p. 276.

इस प्रत्ययका वैदिक भाषामें –त्रा रूप भी मिलता है, यत्रा। अवेस्तामें इसका थ्र रूप पाया जाता है :—अथ्र [aϑra], यथ्र [yaϑra]। इसका विकास गॉथिकमें भी पाया जाता है :—विथ्र [viϑra]। हिद्रे [hidre], [यहाँ, मि० अंगरेजी हिदर [hither]] थुम्बने संस्कृत अन्तः [अन्तर्] [लै० इन्तेर [inter], प्रातः [प्रातर्] का भी इस 'त्र' से संबंध जोड़ा है, जिसका यहाँ 'तर्' रूप पाया जाता है, वस्तुतः ये दोनों [त्र तथा तर्] मूलतः प्रा० भा० यू० *तॆरो; 'तॆर' से संबद्ध हैं।[1]

[उ]–था प्रत्यय [प्रकारबोधक]:—कथा, तथा, यथा, अन्यथा, सर्वथा। इस प्रत्ययका अवेस्तामे था-थ रूप पाया जाता है।

[ऊ] –थम् प्रत्यय [प्रकारबोधक] :—कथम्, इत्थम्, [इद् + थम्]।

[ए] –दा प्रत्यय [कालबोधक] :—तदा, यदा, कदा, एकदा, सदा [स + दा]।

–दि प्रत्यय :—यदि [प्राचीन फारसी यदिय्]।

ग्रीकमें इससे मिलते-जुलते प्रत्यय रूप पायें जाते है :—दोन्,–देन्,–द, यद्यपि वहाँ ये प्रत्यय प्रकारबोधक हैं :—अपोस्त-दोन् [अलगसे], इल-दोन् [झुण्डमें]।

[ऐ]–शः प्रत्यय :—खण्डशः, गणशः, शतशः, भागशः, नित्यशः। प्राकृत ग्रीक [Vulgar Greek] में इसका 'खस्' रूप मिलता है :—अन्द्रोखस् [androkhas], हेकस् [hekas]।

[ओ]–व प्रत्ययः—इव, एव।

–ह प्रत्यय :—इह, कुह।

वैदिक संस्कृतमें इस 'ह' प्रत्ययका घ रूप भी मिलता है :—सध [लौ० सं० सह]। प्राकृतमें भी ह के स्थानपर घ प्रत्यय ही मिलता है,

1. Thumb: p. 277.

इध [महाराष्ट्री प्रा०] [सं० इह]। इससे यह अनुमान होता है कि ये दोनों मूलतः एक ही प्रत्यय हैं, वैभाषिक भेदसे वैदिक कालमें इसके दोनों रूप रहे होंगे। प्राकृतने ध वाला रूप सुरक्षित रक्खा है, लौकिक संस्कृतने ह वाले रूपको अपनाया है। भाषाशास्त्रियोंने इनका सम्बन्ध ग्रीकके –थ प्रत्यय तथा लैतिनके –दे प्रत्ययसे जोड़ा है जो–ग्रीक, पोथि [pothi] प्रोस्थे [न] [prosthen], एन्थ [entha], लैतिन इन्दे [inde] में पाये जाते हैं।[1]

---

१. Thumb : Handbuch des Sanskrit § 407 p. 278

संस्कृत वाक्य-रचना

जैसा कि हम प्रथम परिच्छेदमे बता आये है, प्रा० भा० यू० भाषाकी वाक्य-रचनाके विषयमे भाषाशास्त्रियोने कोई अनुमान नही लगाये हैं। यद्यपि ध्वनि तथा पदरचनाकी दृष्टिसे इस काल्पनिक भारोपीय भाषा [Grundsprache] का अत्यधिक विवेचन हो चुका है, किन्तु इसकी वाक्यरचनापर कोई कार्य नही हुआ है। वैसे कुछ विद्वानोने, जिनमें प्रमुख नाम श्लाईखर [Schleicher] का लिया जा सकता है, इस काल्पनिक भाषामें हमे "एक भेड़ तथा एक घोडेकी कहानी" देनेकी चेष्टा की है। इसका एक वाक्य यहाँ इसलिए दिया जाता है कि इस काल्पनिक वाक्य-रचनाका थोड़ा संकेत पाठकोंको मिल जाय। यद्यपि श्लाइखरने इसकी ध्वनियोंका प्राचीन रूप दिया है, पर हम यहाँपर नये संकेतोंका प्रयोग करेंगे, जो ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे विशेष शुद्ध हैः—

*ओविस्....देदोर्के एक्वम्स् तेम् बाघे गेरुम् वेघेन्तेम्, तेम् भारे मेघेम्.......ओविस् एक्वम्भ्यम्स अ वेवेकत् ।]

[*owis dedorke, ek^{w}ms, tem, baghem, gerum, weghentem tem bharem, meghcm...owis ek^{w}mb^{b}yms a weweket]

सं० [अविः....ददर्श अश्वं तं बाहं गुरुम् वहन्तं, तं भारं महान्तं,.... अविः अश्व अवोचत् ।]

किन्तु जैसा कि हम बता चुके है इस काल्पनिक भाषाके रूप सूत्रमात्र [formulae] हैं। अतः इस प्रकारके पुनर्निमित [reconstucted] वाक्योंकी कल्पना वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती, न इससे भाषाविज्ञानमें

तब तक कोई सहायता ही पहुँच सकती है, जब तक कि इस वाक्यरचनात्मक विशेषताकी पुष्टि हम किसी बाह्य प्रमाणसे न कर सकें। अत: ऐसी कल्पनाओं-की अवहेलना करना ही विशेष श्रेयस्कर तथा वैज्ञानिक है। वस्तुत: प्रा० भा० यू० भाषाकी वाक्यरचनाके विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते।

संस्कृतकी वाक्य-रचना विशेष जटिल नहीं है। प्रत्येक वाक्यमें प्राय: एक क्रिया तथा एक कर्त्ता होता है, यदि क्रिया सकर्मक है, तो कर्म भी होता है। विशेषण संज्ञाके साथ प्रयुक्त होते हैं तथा क्रियाविशेषणोंका भी प्रयोग होता है। प्रत्येक नाम शब्द वचन, लिंग तथा कारकसे युक्त होता है। प्रत्येक क्रियामें वाच्य, लकार, पुरुष एवं वचन रहता है। कुछ ऐसे भी अव्यय संस्कृत वाक्योंमें प्रयुक्त होते हैं, जिन्हें वैसे तो हम संबंधबोधक पर-सर्ग [postpositions] कह सकते हैं, किन्तु संस्कृत वैयाकरणोंकी परि-भाषामे इन्हें 'कर्मप्रवचनीय' कहना अधिक उपयुक्त होगा। ये 'कर्मप्रवचनीय' वाक्यकी क्रियाके साथ किसी कर्तृभिन्न संज्ञा या सर्वनामका संबंध व्यक्त करते हैं। शब्दो तथा वाक्योंको परस्पर कुछ अन्य प्रकारके अव्ययोंसे जोड़ा जाता है, जो समुच्चय बोधक होते हैं, यथा, **च, परं, तथा, अथवा**।

संस्कृतकी सबसे बड़ी वाक्यरचनात्मक विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक पदका पारस्परिक संबंध विभक्तिके द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसीलिए संस्कृत वाक्यमें किसी पदका ठीक उसी तरह नियत स्थान नहीं होता, जैसा हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओंमें है। उदाहरणके लिए एक वाक्य ले लीजिए—**"स पुरुषः तं श्वानमताडयत्"** इस वाक्यको हम **"स पुरुषोऽ-ताडयत्तं श्वानं"** अथवा **"तं श्वानमताडयत् स पुरुषः"** के रूपमें भी रख सकते हैं। प्रत्येक दशामें इसका ठीक वही अर्थ होगा—उस आदमीने उस कुत्तेको पीटा। ठीक यही बात ग्रीक या लैतिनमें पाई जाती है। संस्कृतके इसी वाक्यके समानान्तर वाक्यको ले लें।

हो़ अन्थ्रोपोस् तोन् कुन् एप्ताजेन्।

[ho anthropos ton kun eptazen]

[उस आदमीने उस कुत्तेको पीटा ।]

इस वाक्यको यो भी रख सकते हैः—[१] **तोन् कुन् ऍपताज़ेन् हो अन्थ्रोपोस्** अथवा [२] **हो अन्थ्रोपोस् ऍपताज़ेन् तोन् कुन्** ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आरम्भिक स्थितिमे प्रा० भा० यू० वाक्य-रचनाकी एक विशेषता यह रही होगी कि वहाँ पदोकी कोई नियतस्थिति न थी, उनका प्रयोग वाक्यमे कही भी हो सकता था, उनके संबधका बोध विभक्तिके द्वारा करा दिया जाता था ।

वाक्यरचनाकी दृष्टिसे सर्वप्रथम हम नाम शब्दोको लेगे । नाम शब्दोंकी पदरचनाको हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमे देख चुके हैं । नाम शब्दोके वचनके विषयमे दो बाते कह देना आवश्यक होगा । संस्कृतमे द्विवचन पाया जाता है । वैसे बादमे प्राकृतमे आकर यह वचन ठीक उसी तरह लुप्त हो गया है, जैसे 'हेलेनिस्टिक' कालमे आकर ग्रीकका द्विवचन लुप्त हो गया है । जैसा कि हम बता चुके है द्विवचनका बीज उन दो वस्तुओके वर्णनमे था, जो युग्म रूपमे पाई जाती थी । दूसरी विशेषता यह है कि वैदिक संस्कृतमे कही-कही नपुंसक लिगके बहुवचन कर्ताके साथ एकवचन क्रियाका प्रयोग पाया जाता है । यह सम्भवतः इसलिए कि नपुंसक लिग ब० व० के 'आकारान्त' वैकल्पिक रूपको 'आकारान्त' स्त्रीलिंगके प्रथमा ए० व० के तुल्य माना जाता हो । यह हम देख चुके है कि नपुंसक लिगके प्रथमा-द्वितीया ब० व० का विभक्तिचिह्न 'आ' भी था [**भुवनानि विश्वा**] । यह विशेषता ग्रीकमे भी पाई जाती है । होमरकी भाषामे तथा ग्रीककी एक विभाषा 'एतिक' [Attic] मे यह विशेषता पाई जाती है[1] । 'हेलेनिस्टिक' कालमे आकर यह प्रयोग बहुत कम हो गया । संस्कृतमे भी इस तरहके प्रयोगका धीरे-धीरे लोप हो गया तथा लौकिक संस्कृतमे यह प्रयोग नही पाया जाता ।

संस्कृतमें वाक्यके कर्त्ताके लिए प्रथमा तथा तृतीया दोनो विभक्तियोका प्रयोग पाया जाता है । तृतीयाका प्रयोग कर्मवाच्यमें होता है, प्रथमाका

१. Atkinson : Greek Language p. 104.

कर्तृवाच्यमें। तृतीयाका प्रयोग कर्त्ताके अतिरिक्त करणमे भी पाया जाता है, तभी तो पाणिनिने कहा है—कर्तृकरणयोस्तृतीया। कर्तृवाच्यके प्रयोगमें जहाँ सत्तार्थक क्रियाका [भू या अस्का] वर्तमाने प्रयोग होता है, कभी-कभी यह क्रिया प्रयुक्त नहीं होती। किन्तु ऐसी दशामे प्रायः विधेयको उद्देश्यके पूर्व रखते है या बादमें। साथ ही ऐसी दशामें विशेषक सर्वनामका सदा प्रयोग होता है। उदाहरणके लिए 'स पुरुषः शूरः' या 'शूरः स पुरुषः' में [अस्ति या भवति] क्रियाका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं, उसके बिना भी काम चल सकता है। किन्तु, यदि विधेयका प्रयोग विशेषक सर्वनाम तथा कर्त्ता [उद्देश्य] के बीच किया जायगा, तो क्रियाके प्रयोगके बिना काम नहीं चलेगा। 'स शूरः पुरुषः' [अस्ति], में 'अस्ति' की आकांक्षा बनी रहती है। ठीक यही विशेषता ग्रीकमे पाई जाती है। उदाहरणके लिए, हो अन्थ्रोपोस् कलोस् [ho anthropos kalos] तथा 'कलोस् हो अन्थ्रोपोस्' पूरे वाक्य हैं, किन्तु हो कलोस् अन्थ्रोपोस् में एस्ति [esti] की आवश्यकता है। इस वाक्यका अर्थ है, "यह पुरुष अच्छा है"। संबोधनके अर्थमें कभी-कभी संस्कृतमें हे का प्रयोग पाया जाता है, हे देव, हे हरे, हे विष्णो। ग्रीकमें संबोधनके अर्थमें ओ [ō] पाया जाता है, जो शब्दके पहले प्रयुक्त होता है, यथा ओ लेओस् [ō leos] [हे सिंह], ओ क्रीत [ō krita] [हे न्यायाधीश]।

द्वितीया विभक्तिका प्रयोग प्रायः सकर्मक क्रियाके लिए पाया जाता है। यह वह वस्तु है, जो किसी क्रियाके कर्त्ताका ईप्सिततम कर्म है। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'। ईप्सिततम पदमे तमप् का प्रयोग इसलिए किया गया है कि प्रमुख कर्म करते समय जो और कर्म होंगे, वे क्रियाके मुख्य कर्म न होनेके कारण कर्म नहीं माने जायँगे, तथा उनमे द्वितीया विभक्ति नहीं होगी। यथा, 'दध्ना ओदनं भुङ्क्ते' इस वाक्यमे केवल 'ओदन' ही कर्म

है, क्योंकि खानेवालेको ईप्सिततम वही है, कृषि नहीं। कर्मवाच्यमें यह कर्म प्रथमा विभक्तिमें प्रयुक्त होता है। ठीक ऐसा ही कर्मवाच्य प्रयोग ग्रीकमें पाया जाता है, जहाँ कर्म क्रियाका कर्त्ता [nominative] बन जाता है। किन्तु ध्यान रखिए, जहाँ ग्रीकमें कर्मवाच्यके कर्मको कर्त्ता माना जाता है, वहाँ संस्कृतमें इसे कर्त्ता नहीं माना जाता। हमारे वैयाकरणोंके मतानुसार यहाँ प्रथमा विभक्ति होनेपर भी कर्मत्व ही माना जायगा, 'रामेण हन्यते वालिः' में 'वालिः' प्रथमा विभक्तिमें होते हुए भी कर्म है; 'रामेण' की विभक्ति तृतीया है, किन्तु इस वाक्यका कर्त्ता यही है। यही कारण है कि हमारे व्याकरणमें प्रथमा तथा कर्त्ता, द्वितीया तथा कर्म, तृतीया तथा करणका ठीक वैसा ही अविच्छेद्य संबंध नहीं है, जैसा अन्य भाषाओंमें। वस्तुतः अन्य भा० यू० भाषाओंमें प्रथमा, द्वितीया जैसी कोई गणना है ही नहीं।

कर्मका प्रयोग क्रियासे बने कई कृदन्तोंके साथ भी होता है। यथा शतृ तथा शानच्, क्त-क्तवतु आदिके साथ कर्मकारकका प्रयोग पाया जाता है, यदि वे सकर्मक क्रियासे बने है :—

[१] दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्।

[२] सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम्।

इसी तरह तुमुन्के साथ भी कर्मका प्रयोग पाया जाता है, वसंते प्रियकामिनां प्रियास्त्ववृते प्रापयितुं क ईश्वरः। वैसे वैदिक संस्कृतमें तुमुन् तथा उसके समानान्तर तवे, तवै आदिके लिए द्वितीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी तीनोंका वैकल्पिक प्रयोग देखा जाता है—महये हन्तवै, परमेतवे। किन्तु लौकिक संस्कृतमें आकर केवल द्वितीया ही प्रयुक्त होने लगी।

संस्कृतमें कुछ क्रियाओंके साथ दो कर्म पाये जाते हैं। ये क्रियाएँ द्विकर्मक कहलाती हैं।[1] इन क्रियाओंमें प्रमुख [कथित] तथा गौण [अकथित]

---

१. दुह्याच्-पच्-दण्ड्-रुधि-प्रच्छि-चि-ब्रू-शास्-जि-मन्थ-मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृ-कृष्-वहाम्॥

दोनों कर्म द्वितीया विभक्तिमें होते हैं। इसी बातको महर्षि पाणिनिने अपने सूत्र **'अकथितञ्च'** में संकेतित किया है। यह अकथित कर्म प्रायः अन्य किसी कारकका रूप रहता है, जो द्विकर्मक क्रियाओंके साथ कर्म हो जाता है। यथा, **गां दोग्धि पयः** [गायसे दूध दुहता है], **माणवकं पन्थानं पृच्छति** [लड़केसे मार्ग पूछता है], **सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति** [समुद्रसे अमृत मथता है] आदि वाक्योंमें **गां, माणवकं, क्षीरनिधिं** में यह अकथित कर्मवाली द्वितीया विभक्ति ही है। ग्रीकमें भी कुछ क्रियाओंके साथ दो कर्मोंका प्रयोग देखा जाता है।[1]

संस्कृत णिजन्त प्रक्रियामें जहाँ द्विकर्मकक्रिया होती है, प्रमुख कर्म द्वितीयामें ही बना रहता है, किन्तु गौण कर्मका प्रयोग तृतीयामें होता है; यथा **"अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः"** [नैषध, प्र० सर्ग] में प्रधान कर्म **भ्रमीः** द्वितीयामें है, गौण कर्म **हयेन** तृतीयामें। जहाँ तक नी, हृ, कृष् तथा वह् धातुका प्रश्न है, इनमें गौण कर्म विकल्पसे तृतीया तथा द्वितीया दोनोंमें होता है—**भारं वाहयति भृत्यं भृत्येन वा।**

जैसा कि हम बता चुके हैं संस्कृतके कुछ अव्यय आदि ऐसे हैं, जो भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे परसर्ग [postposition] हैं, तथा जिनके साथ उनसे संबद्ध नाम शब्दोंमें द्वितीया विभक्ति पाई जाती है। जैसे, **"द्या मन्तरा वसुमतीमपि गाधिजन्मा, यद्यन्यमेव निरमापयत नाकलोकम्"** [नैषध, ११ सर्ग], में **'अन्तरा'** के योगसे **'द्यां'** में द्वितीया विभक्ति पाई जाती है। पाणिनिके सूत्र **'अन्तरान्तरेण युक्ते'** के अनुसार यहाँ द्वितीया विभक्ति होती है। इस तरहके शब्दोंको पारिभाषिक शब्दावलीमें 'कर्मप्रवचनीय' कहते हैं। ग्रीकमें भी ऐसे कर्मप्रवचनीय पाये जाते हैं, जिसके साथ कर्म [द्वितीया] का प्रयोग होता है। फिर भी वाक्यरचनाकी दृष्टिसे ग्रीकमें तथा संस्कृतमें एक भेद पाया जाता है। संस्कृतमें जहाँ ये कर्मप्रवचनीय

1. Atkinson : Greek Language p. 106.

भिन्न रूपसे उस कर्मके बाद प्रयुक्त होते है, जिससे इनका सम्बन्ध होता है, ग्रीकमे ये सदा उसके पूर्व प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए जहाँ ग्रीकमे ये पुर.सर्ग [preposition] हैं, यहाँ संस्कृतमे ये परसर्ग [postposition] है। संस्कृतमें 'अन्तरा त्वां' जैसा प्रयोग व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध होगा।

यहाँपर परसर्गोंकी उत्पत्तिपर थोडा विचार कर लिया जाय। वस्तुत ये सभी परसर्ग [कुछको छोड़कर] उपसर्गोंसे विकसित हुए है। वैदिक संस्कृतमे उपसग क्रियाके अविच्छेद्य अंग न होकर कर्मके बाद प्रयुक्त होते थे, वैस ये वाक्यमे किसी भी स्थानपर रख दिये जा सकते थे। वैदिक संस्कृतमे ये सदा क्रियासे अलग प्रयुक्त होते रहे हैं, यथा प्र नूनं पूर्णवन्धुरः स्तुतो याहि [१. ८२. ३] में, जहाँ 'प्र' लौकिक संस्कृतमे आकर याहि का अविच्छेद्य अंग बनकर प्रयाहि रूप बन जाता है। इन्ही उपसर्गोंमेसे कई उपसर्ग क्रियाके अविच्छेद्य अग न रहकर परसर्ग बन गये। कुछमे उपसर्गोंसे भिन्नता बतानेके लिए अन्य ध्वन्यात्मक अंश जोड़ दिये गये है। उदाहरणके लिए 'अभितः' तथा 'परितः' को लीजिए। वस्तुतः ये अभि तथा परि के ही विकसित रूप हैं, जिनमें तः [*तोस्] जोड़कर ये नये रूप बना दिये गये हैं। बादमें आकर इनके शुद्ध रूप क्रियाके अविच्छेद्य अंग—उपसर्ग बन गये, जो अभिषिञ्चति, परिषिञ्चति में स्पष्ट हैं, किन्तु ये '–तः' वाले रूप 'कर्मप्रवचनीय' बन गये हैं। यह उपसर्गोंका दो प्रकारका विकास हमें लौकिक संस्कृतमें कहीं-कहीं स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरणके लिए अनु को लीजिए, यह जब अब उपसर्ग [क्रियाके अंग] के रूपमे प्रयुक्त होता है, तो क्रियाकी स ध्वनिको ष बना देता है, अनुषिञ्चति। किन्तु यदि यह उपसर्गके रूपमें प्रयुक्त नहीं होता, तो क्रियाकी 'स' ध्वनि अविकृत रहती है, अनु सिञ्चति। ग्रीकमें प्रोस् [pros] [सं० प्र], एपि [epi] [सं० अपि], परा [para] [सं० परा], हुपो [hupo] [सं० उप], अव [awa] [सं० अव], हुपर [huper] [सं० उपरि], पेरि [peri]

[सं० परि], म्फ़िक [amphi] [सं० अभि] के योगमें कर्मकारक [accusative case] का प्रयोग पाया जाता है। हम देखते हैं कि उपसर्गोंमें से अधिकांश संस्कृतमें कर्मवचनीय रूपमें प्रयुक्त होते हैं। संस्कृतसे इस प्रकारके प्रयोगके कुछ उदाहरण दे देना ठीक होगा। संस्कृत व्याकरणके प्रसिद्ध वार्तिक 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' के आधारपर इन उदाहरणोंको ले लें

[१] अभितः कृष्णं देवाः।

[२] विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति।

[३] हा देवदत्तम्।

'हा' का प्रयोग इसी ढंगका ग्रीकमें भी पाया जाता है, जहाँ इसका होस् [hos] रूप पाया जाता है।

इसके पूर्व कि करण, सम्प्रदान तथा अपादानको लें, पहले संबंध या षष्ठी विभक्तिको ले लें। संबंधको संस्कृत वैयाकरण कारक नहीं मानते। इसका कारण यह है कि कारक वह है, जिसका क्रियासे साक्षात् संबंध हो। षष्ठी विभक्तिका संबंध किसी संज्ञा या नाम शब्दसे होता है, यथा "दशरथस्य पुत्रः लङ्कायां बाणेन रावणं जघान" में दशरथस्य का जघान से कोई संबंध नहीं है, उसका संबंध पुत्रःसे है। वस्तुतः षष्ठ्यन्त संबंधीका सम्बद्ध नाम शब्दसे वही संबंध होता है, जो क्रियाका अपने कर्मसे होता है। किसी संज्ञा या नाम शब्दसे अन्य संज्ञा या नाम शब्दके साक्षात् संबद्ध होनेपर प्रथम संज्ञा या नाम शब्द षष्ठ्यन्त होता है। किन्तु कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनमें कर्म षष्ठ्यन्त पाया जाता है। पाणिनिके प्रसिद्ध सूत्र "अधिगर्थदयेशां कर्मणि" में इसका संकेत किया गया है। मातुः स्मरणम्, सर्पिषो दयनम् में कर्म षष्ठ्यन्त है। अथवा जैसे, "अद्यापि तद्गजघटापटलस्य शेते, भीत्या स्मरन् हरिरहोऽतलमंबुराशाम्" में गजघटापटलस्य में स्मरन् के कारण ही षष्ठीविभक्ति कर्मकी द्योतक है। ग्रीकमें भी कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनमें कर्म [object] में संबंध कारक [Genative Case] पाया जाता है।

ये क्रियाएँ भक्षार्थक, स्पर्शार्थक, इच्छार्थक, शासनार्थक तथा अनुभवार्थक हैं।[1] षष्ठी विभक्तिका प्रयोग कुछ अव्ययोके साथ भी पाया जाता है, उदाहरणके लिए 'उपरि' के साथ, यथा "वक्षिरण्स्या भ्रुव उपरि"; "तस्योपरिष्टात् पवनावधूतः"। ग्रीकमे भी जब हुपेर [huper] का प्रयोग "ऊपर" अर्थमे होता है, तो संबंधी नाम शब्द संबध कारकमें ही होता है। षष्ठी विभक्तिका अन्य कई स्थलोपर प्रयोग होता है, जिनमे विशेष महत्त्वपूर्ण प्रयोग निष्ठा प्रत्ययके साथ विकल्पसे तृतीया तथा षष्ठीका है। जहाँ निष्ठा प्रत्ययका प्रयोग समस्त शब्दमे हो गया है [प्रायः बहुव्रीहि समासमे], वहाँ यदि नाम शब्दका संबध निष्ठा प्रत्ययके कर्ताके रूपमें है तो तृतीया होगी, किन्तु यदि उसका संबध निष्ठा प्रत्ययसे न होकर समासके अन्य पदसे है, तो षष्ठी विभक्ति होती है:—

[१] प्रतीहार्या गृहीतपञ्जरः [तृतीया]; [२] श्रुतदेहविसर्जनः पितुः [षष्ठी]।

तृतीया विभक्तिका प्रयोग करणके अर्थमें होता है। कर्मवाच्यमें क्रियाका कर्त्ता भी तृतीयान्त होता है, इसे हम बता चुके हैं। कई ऐसे परसर्ग भी हैं जिनके पूर्व तृतीया विभक्ति पाई जाती है। सह, समं, सार्धं, विना, नाना, आदि कईके साथ तृतीयाका प्रयोग होता है। इसमे सह, समं, सार्धं का प्रयोग पाया भी जाता है, ये लुप्त भी हो सकते हैं। पित्रा समं गतः पुत्रः मे समं का प्रयोग पाया जाता है। देवो देवेभिरागमत् जैसे प्रयोगोमे ये लुप्त है। ग्रीकमे ठीक ऐसा ही प्रयोग 'सुन्' [sun] का पाया जाता है। ये दोनों प्रा० भा० यू० *सऍम् [*sem] से विकसित माने जा सकते हैं। ग्रीकमे वैसे तृतीया [करण, instrumental] तथा सप्तमी [अधिकरण locative] दोनो ही चतुर्थी [सम्प्रदान, dative] मे समाहित हो गई है, अतः वहाँ 'सुन्' के साथ सम्प्रदानका प्रयोग पाया जाता है।

१. Atkinson : Greek Language P. 114.

चतुर्थीका प्रयोग सम्प्रदानके अर्थमें होता है। वस्तुतः यह 'दानार्थक' क्रियाका गौण कर्म होता है, यथा '**ब्राह्मणाय गां ददाति**' में। दानार्थक क्रियाके अतिरिक्त कभी-कभी कथनार्थकमें भी इसका प्रयोग पाया जाता है। संस्कृतमें **क्रुध्, द्रुह्, ईर्ष्या, असूया** अर्थवाली क्रियाओंके कर्म भी चतुर्थीमें पाये जाते हैं :—**क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः**। कुछ ऐसे भी परसर्ग और शब्द हैं, जिन्हें चतुर्थीका कर्मप्रवचनीय कहना अनुचित न होगा। इनका उल्लेख "**नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च**" इस प्रसिद्ध सूत्रमें हुआ है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमें जर्मनमें चतुर्थी विभक्ति या सम्प्रदान कारक पाया जाता है। कई पुरःसर्गोंके बाद जर्मनमें संज्ञा या सर्वनाम सम्प्रदान कारकमें होता है। **इश कान निश्ट ओने इन गेहेन** [Ich kann nicht ohne ihn gehen] [मैं उसके बिना नहीं जा सकता], में '**इन**' [ihn] कर्मकारक [accusative case] है, जो **ओने** [ohne] के साथ प्रयुक्त होता है। लेकिन फोन [von] के साथ सम्प्रदान कारक [dative Case] पाया जाता है, यथा **नेमेन सी दास बुख फोन इम** [Nehmen Sie das Buch von ihm] [उससे किताब ले लो।] ध्यान दीजिए '**इन**' [ihn] कर्मकारकमें है, तो **इह्म** [ihm] सम्प्रदान कारकमें।

पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग अपादानमें पाया जाता है, यथा **वृक्षात् पर्णं पतति** में। पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग दो वस्तुओंकी तुलना कर एककी निकृष्टता और दूसरेकी उत्कृष्टता बतानेके लिए भी होता है—**पापीयान् अश्वात् गर्दभः**। कुछ ऐसे परसर्ग भी हैं, जिनके साथ पञ्चमीका प्रयोग होता है, जैसे **तस्मात् बिना** में। भयार्थक तथा त्राणार्थक धातुओंमें भय पैदा करनेवाले हेतुका अपादानमें प्रयोग होता है—[**भीत्रार्थानां भयहेतुः**], यथा, **कृष्णाद् बिभेति कंसः; कंसात् त्रायते गोपान् कृष्णः**।

सप्तमीका प्रयोग अधिकरणके अर्थमें पाया जाता है, जैसे **गृहे तिष्ठति** में। कभी-कभी वैदिक संस्कृतमें **उप** के साथ सप्तमीका प्रयोग पाया जाता

है, यथा उप सूर्ये। ग्रीकमें भी हुपो तथा प्रोस्के साथ अधिकरण कारकका प्रयोग देखा जाता है। जैसा कि हम बता चुके हैं ग्रीकमे अधिकरण कारक, सम्प्रदानमें समाहित हो गया है, वस्तुतः वहाँ सम्प्रदान कारक पाया जाता है, जो अधिकरणका भी काम करता है। संस्कृतकी सप्तमी विभक्ति किसी क्रियाके देश तथा कालकी बोधक होती है।

संज्ञाओकी भाँति ही संस्कृतके सर्वनाम शब्दोंका वाक्यगत प्रयोग देखा जाता है। लौकिक संस्कृतमे सर्वनामोके प्रयोगमें एक विशेषता पाई जाती है, कि 'अस्मद्', 'युष्मद्' शब्दोके वैकल्पिक रूपो—मा, त्वा, मे, ते आदिका प्रयोग वाक्यके आदिमें नहीं होता, जैसे आगतस्ते पिता वाक्य शुद्ध है, किन्तु ते पिता आगतः के स्थानपर तव पिता आगत [त्वत्पिता आगतः] शुद्ध माना जायगा।

विशेषणोंका प्रयोग सस्कृतमे ठीक संज्ञा जैसा ही होता है। ये उसी लिंग, वचन तथा विभक्तिमे प्रयुक्त होते है, जो लिंग, वचन तथा विभक्ति विशेष्य नाम शब्दकी होती है, यथा, कृष्णः पुरुषः, कृष्णा स्त्री, कृष्णं वस्त्रं आदिमे।

अब हम परस्मैपद तथा आत्मनेपदके वाक्यगत प्रयोगकी ओर आते हैं। ग्रीकमें भी ये दोनो प्रकारके पद पाये जाते है, जो वहाँ क्रमशः "एक्टिव" एवं "मिडिल वॉयस" कहलाते हैं। आरंभमें आत्मनेपदका प्रयोग प्राय. कर्त्ताके अपने-आप क्रियाफलके भोक्ता होनेके अर्थमे होता था, किन्तु धीरे-धीरे परस्मैपद तथा आत्मनेपदका इस प्रकारका भेद नष्ट हो गया। लौकिक संस्कृतमे आकर हम देखते हैं कि कुछ क्रियाएं [धातु] केवल परस्मैपदी है, कुछ केवल आत्मनेपदी। कुछ क्रियाएँ ऐसी भी है, जिनके रूप दोनों प्रकारके पदोमे पाये जाते है। ये उभयपदी धातु हैं। लौकिक संस्कृतमें यह भी देखा जाता है कि कुछ उपसर्गोके प्रयोगसे धातुका पद भी बदल जाता है। उदाहरणके लिए √स्था धातुको लीजिए। इस धातुके पूर्व सम्, अव, प्र, वि उपसर्गोंमेंसे किसी एकके होनेपर, यह धातु आत्मनेपदी बन जाता है, [समवप्रविभ्यः स्थः]। इसके उदाहरण संतिष्ठते अवतिष्ठते,

वितिष्ठते, प्रतिष्ठते; संतस्थे, अवस्थे, वितस्थे प्रतस्थे, दिये जा सकते हैं, अन्यथा परस्मैपदके रूप तिष्ठति, तस्थौ बनते हैं। इसीं प्रकार √जि धातुके पूर्व वि, परा उपसर्ग होनेपर आत्मनेपद होता है, [विपराभ्यां जेः] जयति; विजयते, पराजयते। इस प्रकार हम देखते है कि परस्मैपद तथा आत्मनेपदका अब लौकिक संस्कृतमे ठीक वही रूप नहीं रह गया है, जो मूलतः था। ठीक ऐसा ही परिवर्तन ग्रीकमे भी हो गया है। ग्रीकमे तो यहाँ तक पाया जाता है कि कुछ धातु जो वस्तुतः 'एक्टिव वॉयस' के हैं, उनके भविष्यत् [Future Indefinite] रूप 'मिडिल वॉयस' मे पाये जाते हैं, तथा कुछ धातु जो वस्तुतः 'मिडिल वॉयस' [आत्मनेपदी] हैं उनके परोक्षभूत 'एक्टिव वॉयस' [परस्मैपदी] है। उदाहरणके लिए संस्कृत √दृश् धातुके समानान्तर ग्रीक धातुको ले लें। इसका उत्तम पुरुष एकवचनका वर्तमान कालिक [Present Indefinite, संस्कृत लट्] रूप "दर्कोमइ" [derkomai] [सं० *दृशे [पश्यामि]] है, जो वस्तुतः मिडिल वॉयसका रूप है। किन्तु इसका परोक्षभूत रूप ग्रीकमे देदोर्क [dedorka] [सं० ददर्श] पाया जाता है, जो एक्टिव वॉयसका रूप है। संस्कृतमें दृश् के स्थानपर पश्य् के आदेशके भाषावैज्ञानिक तथ्यका संकेत हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें कर चुके हैं। वैदिक संस्कृतसे भी इसी ढंगका एक दूसरा उदाहरण दिया जा सकता है, जहाँ वर्तते के साथ ही साथ उसका लिट् रूप ववर्त भी पाया जाता है। संस्कृतमे ये दोनों, आत्मनेपद तथा परस्मैपद कर्तृवाच्यमें प्रयुक्त होते हैं।

कर्मवाच्य रूपोंका प्रयोग प्रा० भा० यू० में नहीं होता था। किन्तु ज्यों-ज्यों सभ्यताका विकास हुआ, भावोंकी अभिव्यंजनाके लिए इसकी आवश्यकता हुई, इसकी पूर्तिके लिए कोई न कोई प्रणालीका आश्रय लिया गया। ग्रीकमे प्रायः अकर्मक आत्मनेपदी क्रियाओंके द्वारा कर्मवाच्यका

१. Atkinson. Greek Language p. 139.

बोध कराया जाने लगा। उदाहरणके लिए तिथेमि [tithemi] [सं० दधामि] के कर्मवाच्यका बोध केइमइ [keimai] [धीये] [मैं धारण किया जाता हूँ] के द्वारा कराया जाने लगा। संस्कृतने भी वैसे तो कर्मवाच्यके लिए आत्मनेपदी रूपोंका ही आश्रय लिया, किन्तु इसमें धातुके मूल रूपके साथ बीचमें 'य' का प्रयोग भी जोड़ना आरंभ किया। यथा संस्कृत पठति, गच्छति, ददाति से क्रमशः पठ्यते, गम्यते, दीयते रूप बनाये गये। ध्यान रखिए, संस्कृतके कर्मवाच्य सदा आत्मनेपदी होते हैं, परस्मैपदी नहीं। इन्हींसे संबद्ध वे धातु हैं, जिनके भाववाच्य रूप मिलते हैं। ये भाववाच्य रूप क्या हैं? जिन धातुओंको सकर्मक श्रेणीमें रक्खा जाता है, उनके कर्मवाच्य प्रयोगमें कर्त्ता तृतीया विभक्तिमें तथा कर्म प्रथमा विभक्तिमें होता है, यथा तेन पुस्तकं पठ्यते में। इसमें क्रियाका पुरुष तथा वचन कर्मके अनुकूल होता है। किन्तु अकर्मक क्रियाओं[1] के भी कर्मवाच्य जैसे आत्मनेपदी रूप पाये जाते हैं। इन्हें भाववाच्य रूप कहते हैं। वाक्यरचनाकी दृष्टिसे इनमें तथा कर्मवाच्य रूपोंमें यह भेद होता है कि इनका कर्त्ता तो तृतीयान्त होता है, किन्तु कर्मके अभावके कारण क्रिया सदैव प्रथम पुरुष एकवचनमें होती है— यथा मया स्थीयते, तेन भूयते, रामेण शीयते, तैर्म्रियते, अस्माभिः क्षीयते आदिमें।

काल तथा लकारके वाक्यगत प्रयोगकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि संस्कृतमें तीन काल तथा दस लकार पाये जाते हैं। यहाँ हमने वैदिक लकार लेट्को अलगसे नहीं माना है। वर्तमानके लिए लट् लकारका प्रयोग होता है, किन्तु यह वर्तमान कई भावोंका बोध करानेके लिए प्रयुक्त होता है। सर्वप्रथम यह किसी शाश्वत सत्यका बोध कराता है, यथा जले

१. लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम्।
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः॥

पथ्यं उत्पद्यते। दूसरे, यह वर्तमानकालिक क्रियाका बोध कराता है, यथा **अहं ओदनं भुञ्जे।** इसका तीसरा प्रयोग ऐतिहासिक रूपमें अतीतकी घटनाओंके वर्णनके लिए पाया जाता है, यथा **अस्ति ब्रह्मस्थलं नाम नगरम्। तत्र काचित् दीना ब्राह्मणी प्रतिवसति।** संस्कृतमें **यावत्** तथा **पुरा** के योगमें वर्तमान कालका प्रयोग पाया जाता है [**यावत् पुरानिपातयोर्लट्**] ऐसी ही विशेषता ग्रीक तथा लैतिनमें भी पाई जाती है। ग्रीकमें **पारोस्** [paros] [सं० **पुरा**] तथा **पलइ** [palai] के योगमें क्रिया सदा वर्तमानकालमें पाई जाती है। वर्तमान फ्रेंचके बोलचालमें इस प्रकारका प्रयोग पाया जाता है, जहाँ वर्तमान कालका प्रयोग भूतकालके अर्थमें होता है, जब कि कार्य पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ है, यथा '**जे स्विज़िसी देप्वा लाँ तॉप** [Je suis ici depuis long temps] [मैं यहाँ बड़ी देर से हूँ।] इसी भावके बोधनके लिए प्रा० भा० यू० में परोक्षभूते लिट्का प्रयोग होता था।

इस सम्बन्धमें हम पहले परोक्षभूते लिट्को ले लें। जैसा कि हम बता आये हैं 'लिट्' का प्रा० भा० यू० प्रयोग शुद्ध भूतकालिक न था। साथ ही वैदिक साहित्यमें भी इसका प्रयोग वर्तमानके अर्थमें होता रहा है। लौकिक संस्कृतमें आकर यह 'लिट्' लकार उस भूतकालिक घटनाके लिए प्रयुक्त होने लगा, जो हमारे परोक्षमें हुई है। किन्तु यहाँ परोक्षका तात्पर्य उस कालसे है, जब वक्ता उस समय उत्पन्न ही न हुआ हो जब कि घटना घटित हुई थी। अतः वक्ताके जीवनकालमें हुई घटनाके लिए लङ् लकारका या लुङ्का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार लौकिक संस्कृतमें आकर लिट्का प्रयोग अर्थकी दृष्टिसे बहुत संकुचित हो गया है। अतीतकी प्रत्यक्ष घटनाके वर्णनमें लिट्का प्रयोग लौकिक संस्कृतमे अशुद्ध माना जाने लगा है। "**रामो रावणं जघान**" का लिट्वाला प्रयोग शुद्ध है, किन्तु "**अहं काशीं जगाम**" का प्रयोग अशुद्ध माना जायगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि लिट् लकारका प्रयोग उत्तम पुरुषके साथ कभी भी प्रयुक्त नहीं होता।

वैयाकरणोने बताया है कि जहाँ व्यक्ति स्वयं वर्तमानकालमे अपने द्वारा किये गये भूतकालिक व्यापारको किन्ही कार्योंमे अत्यधिक व्यस्त होनेके कारण नही जान पाता, वहाँ भी इस तरहका प्रयोग हो सकता है। इसी तरह प्रथम पुरुष एवं अन्य पुरुषके विषयमे भी जहाँ कोई कार्य आपके सम्मुख न हुआ हो, तथा उस क्रियाका केवल साधन ही आपका प्रत्यक्ष विषय हो, वहाँ भी लिट्का प्रयोग हो सकता है, जैसे **अय पपाच** [इमने पकाया], त्वं **पेचिथ** [तुमने पकाया]।[1] उत्तम पुरुषके साथ लिट्के प्रयोगका उदाहरण माघका एक प्रसिद्ध पद्य है :—

बहु जगद पुरस्तात् तस्य मत्ता किलाहं **चकर** च किल चाटु प्रौढयोषिद्वदस्य।
विदितमिति सखीभ्यो रात्रिवृत्त विचिन्त्य व्यपगतमदयाऽह्नि व्रीडितं मुग्धवध्वा॥
[११-३९]

इस पद्यमे उत्तम पुरुषके साथ लिट् [जगद, चकर] का प्रयोग इसलिए अदुष्ट है कि मुग्धानायिका उम समय शराबके नशेमे चूर थी, पर अब सुबह सखियोको ठिठौली करते देखकर वह समझ गई है कि रातको उसने पतिके समक्ष प्रौढाको तरह आचरण किया था। पर वह तो नशेमे थी, उसे अभी भी पूरो तरह पता नही है, अत. अपने उक्त आचरणका वह अनुमान भर लगा पाती है, मदके कारण उसे उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नही। फलत: यहाँ कविने लिट्का प्रयोग किया है, जो इस बातको व्यंजना करता है कि नायिकाने जो भी किया वह मदके कारण था, मद न होनेपर मुग्धा-नायिका ऐसा आचरण कदापि न करती, साथ ही मदके उतरनेपर स्वयं उसे ही पता नही है कि उसने मदाविष्ट होकर क्या किया था।

भूतकालके द्योतनके लिए अनद्यतनभूते लङ् तथा सामान्यभूते लुङ् दो रूप और पाये जाते हैं। जैसा कि पारिभाषिक मंज्ञासे स्पष्ट है, लङ्का

---

१. देखिए सिद्धान्तकौमुदीमें 'परोक्षे लिट्' [३-२-११५] सूत्रकी ज्ञानेन्द्र सरस्वतीकृत तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

प्रयोग उस घटनाके लिए होता है, जो आज घटित नहीं हुई है, तथा लुङ्का प्रयोग किसी भी भूतकालिक घटनाके लिए हो सकता है। किन्तु लङ् तथा लुङ्का प्रा० भा० यू० रूप थोड़ा भिन्न था। ग्रीकमें यह भिन्नता पाई जाती है। वहाँ लङ् [Imperfect] क्रियाकी अपूर्णावस्थाको व्यक्त करता है, तो लुङ् [Aorist] क्रियाकी पूर्णताको।

भविष्यत् कालके लिए संस्कृतमें दो लकार पाये जाते हैं, लृट् तथा लुट्। वैसे तात्त्विक दृष्टिसे इनके प्रयोगमें विशेष भेद नहीं जान पड़ता। संस्कृतमें अधिकतर वाक्यगत प्रयोग 'लृट्' का ही देखा जाता है। इसीसे रूपकी दृष्टिसे मिलता-जुलता हेतुहेतुमत् है, जो हेतु वाक्य तथा हेतुमत् वाक्य दोनोंमें भूतकालिक स्थितिको बतानेके लिए किया जाता है। इन वाक्योंमें 'यदि' तथा "तर्हि" [तदा] का प्रयोग समुच्चयबोधक अव्ययके रूपमें होता है, यथा "यदि त्वमपठिष्यः तर्हि परीक्षामुवत्तरिष्यः।" जैसा कि हम बता चुके हैं लृङ् वस्तुतः लृट् तथा लङ् रूपोंके योगसे बना है।

अब हमारे सामने तीन लकार और रह जाते हैं; आज्ञार्थ लोट्, विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ्। जैसा कि हम बता आये हैं, आज्ञाबोधक तथा विध्यात्मक प्रयोग प्रा० भा० यू० में पाये जाते थे। आज्ञात्मक रूपोंमें कोई तिङ् चिह्न नहीं पाया जाता था। संस्कृतका आशीर्लिङ् विधिलिङ्का ही विकसित रूप है। संस्कृत वाक्यरचनामें अधिकतर विधिलिङ्का प्रयोग देखा जाता है। कभी कभी विधिके लिए आशीर्लिङ्का तथा 'आशीः' के लिए विधिलिङ्का प्रयोग भी देखा जाता है। लोट्का प्रयोग अवश्य स्वतन्त्र है। वस्तुतः लोट् आज्ञा या 'मिलिट्री कमान्ड' के भावका वहन करता है। लिङ्में वक्ता केवल अपनी इच्छा प्रकट करता है। यहाँ लोट्के विषयमें एक बात कह दी जाय। संस्कृत वाक्यरचनामें लोट्के साथ निषेधार्थक रूपमें 'मा' [माङ्] का प्रयोग पाया जाता है। इस आज्ञार्थक रूपमें कभी-कभी मा के साथ 'लुङ्' का भी प्रयोग पाया जाता है, किन्तु

इस दशामें माङ् के योगमें लुङ्के अ आगमका लोप हो जाता है। उदाहरणके लिए, वत्से मा गा विषावं वाक्यको ले लें, यहाँ क्रियाका मूल रूप 'अगाः' है, जहाँ मा के कारण अ का लोप हो गया है। ध्यान रखिए, यह अगाः व्याकरणके मतानुसार √इण् [इण् गतौ] के लुङ्का रूप है [इणो गा लुङि], किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे इसका सबंध किसी-न-किसी रूपमें √गम् धातुसे अवश्य रहा होगा, इसका संकेत हम कर आये हैं। वस्तुतः यह गमनार्थक √गा धातुका रूप है, जो √गम् का ही सबल रूप है तथा जिसका प्रयोग लौकिक संस्कृतमें लुप्त हो गया है। यह जुहोत्यादिगणका धातु था जिसके रूप जिगाति आदि होते थे।

जैसा कि हम अगले परिच्छेदमें बतायेंगे सारल्य-प्रवृत्तिके कारण संस्कृतकी वाक्यरचना तथा उसके कारक-नियम धीरे-धीरे सरलताकी ओर बढ़ने लगे। प्राकृतने फिर भी संस्कृत वाक्यरचनाकी परम्पराको एक तरहसे अक्षुण्ण बनाये रक्खा। अपभ्रंश कालमें सुप् चिह्न घिसकर परसर्गोंका रूप ले रहे थे, भाषा विश्लिष्ट प्रवृत्तिकी ओर बढ़ रही थी, फलतः संस्कृत वाली वाक्यपरम्परामें परिवर्तन दिखाई देता है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंने इसी विश्लिष्ट प्रवृत्तिका आश्रय लिया है। यही कारण है कि हमें संस्कृतकी वाक्यरचना आजकी भाषाओं व बोलियोंकी वाक्यरचनासे भिन्न दिखाई देगी। किन्तु आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंकी व्यवहित प्रवृत्तिके मूलके लिए हमें संस्कृत वाक्यरचनाका पर्यवेक्षण करना आवश्यक होगा।

संस्कृतका परवर्ती विकास

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "लेंग्वेंज, इट्स नेचर, डेवलपमेंट एण्ड ऑरिजिन" [भाषा, उसकी प्रकृति, विकास तथा उद्भव-स्रोत] की भूमिका[1] में एक स्थानपर भाषाविज्ञानको ओत्तो येस्पर्सनने भाषात्मक प्राणिशास्त्र [linguistic biology] कहा है। भाषावैज्ञानिकोंका अभिनवतम दल भाषाके जीवनको विकासशील मानता है, साथ ही यह भी कि भाषाके जीवनमें उसका व्यवहार करनेवाली मानव-जातिका इतिहास, उस जाति-विशेषका विकास तरलित रहता है। यही कारण है कि भाषाविज्ञान समाज-विज्ञानका महत्त्वपूर्ण अंग है। भाषाके विकासको गति देनेमें राजनीतिक, भौगोलिक, साहित्यिक कई परिस्थितियाँ हाथ बँटाती हैं। विशेषकर भाषाको रूढ रूप देनेमें साहित्य बहुत हाथ बँटाता है। किन्तु दूसरी ओर इसी कारणसे भाषाकी नैसर्गिकता फूट निकलती है। ज्यों-ज्यों व्याकरणके नियमों-के द्वारा भाषाके वास्तविक रूपको मार्जित, परिष्कृत, प्रौढ तथा साहित्यिक रूप देनेका प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों भाषाका रूढ रूप स्थिर या "मृत" हो जाता है, पर बोल-चालकी भाषाकी गत्यात्मकता जारी रहती है, उसमें कोई अवरोध नहीं होता। अब प्रश्न यह होता है, कि भाषाकी गत्यात्मकताकी विशेषता क्या है, और इसे हम एक शब्दमें यों कह सकते हैं कि भाषाके विकासकी सबसे बड़ी विशेषता विशेषीकरण [Specialization] है। यदि आप किसी भी प्राणिशास्त्रीसे पूछें कि प्राणियोंकी विभिन्न जातियों [Species] के विकासमें प्रमुख विशेषता क्या है, तो संभवतः वह यही बतायेगा कि प्रत्येक प्राणी अपने वर्गकी सीमाके अंतर्गत

1. Otto Jespersen : Language, its Nature, Development and Origin P. 8.

विशेषीकरणकी ओर अग्रसर होता है। इस विशेषीकरणमे, जितनी भी अव्यवहृत तथा अनावश्यक वस्तुएँ है, वे नष्ट होती रहती हैं। उदाहरणके लिए प्राणिशास्त्रके "सरीसृप-वर्ग" [रेप्टाइल्स] के इतिहासको देखिए। प्राणिशास्त्रियोका कहना है कि हजारो वर्ष पूर्व इन प्राणियोके छोटे-छोटे पाँव होते थे, किन्तु धीरे-धीरे ये पेटके बल चलने लगे और वैसे इस जातिके कई प्राणियोमे जैसे मगर आदिमे अब भी पैर होते ही है। पर इनमेंसे कुछ उपवर्गके प्राणियोमे आज पैर नही पाये जाते, जैसे सर्प उपवर्गके प्राणियोमे।[1] इसी प्रकार भाषामे ज्यो-ज्यो विकास होता है, अव्यवहृत तथा अनावश्यक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, वह सरलताकी ओर बढती जाती है।

ओत्तो येस्पर्सनने एक अन्य स्थानपर कहा है—"भाषाकी यह सरलता-प्रवृत्ति विकासवती तथा लाभदायक है, इस बातको पुरानी पीढीके भाषा-वैज्ञानिकोने उपेक्षित ही समझा, क्योकि प्राचीन भाषाओके रूपमे उन्होने एक रम्य सुव्यवस्थित विश्वका दर्शन किया और वे उसके आदी हो गये थे, फलतः उन्होने उस व्यवस्थाका नवीन भाषाओमे अभाव पाया।"[2] चाहे पुराने विद्वान् भाषाकी इस सारल्य-प्रवृत्तिको ह्रास समझें, भाषाके भ्रष्ट होनेका लक्षण मानें, भाषावैज्ञानिक तो इस प्रवृत्तिको भाषाके विकासके लिए उपयोगी ही समझता है। भाषावैज्ञानिक भाषाके निरन्तर प्रवहमान

१. प्राणिशास्त्रमें इसी संबंधमें एक सिद्धान्त है, जो लेमार्कियन थियरीके नामसे प्रसिद्ध है। यह मत Theory of use and disuse कहलाता है। इसके मतानुसार प्राणियोके वे अंग जो ज्यादा काममें आते हैं विकसित और अभिवृद्ध होते हैं, और वे जो काममें कम आते हैं या नहीं आते, नष्ट होते जाते हैं। उसके मतसे ऊँट या जिराफकी लंबी गर्दन भी ज्यादा काममें आनेका ही फल है। पर अब लेमार्कके सिद्धान्तका मेन्डेलके 'हेरेडिटरी लाज' [Hereditary Laws] [पैतृक नियम] के द्वारा खंडन हो गया है।

२. Otto Jespersen : Language. ch. XVIII. P. 366.

निर्झरको ही नैसर्गिक रूप मानता है, व्याकरणके आलबालसे परिवेष्टित कलुषित पल्वलवाले रूढ रूपको नहीं। और इस दृष्टिसे पुरानी भाषाओंको, जो आज प्रवहमान निर्झरकी स्थितिमें नहीं हैं, वह 'मृत' कहता है, तो इसमें उसका यही भाव है, तथा लोगोंको इसमें कोई आपत्ति होनेकी गुंजायश नहीं। 'मृत' विशेषणसे उसका यह भाव नहीं, कि ये विगत साहित्यिक रूढ भाषाएँ अब अध्ययनकी चीज नहीं हैं। अपितु भाषा-वैज्ञानिकके लिए उनके अध्ययनका बहुत बड़ा महत्त्व है, वह उसके वैज्ञानिक अध्ययनकी निश्चित दृढ आधार-भित्ति जो है। भाषावैज्ञानिकके लिए ही नहीं, समाजवैज्ञानिकके लिए भी इन 'मृत' भाषाओंके साहित्य तथा भाषावैज्ञानिक स्वरूपका अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है, इसे भूल जाना भ्रान्त दिशाकी ओर ही ले जायगा।

तो, येस्पर्सनके द्वारा संकेतित सारल्य-प्रवृत्ति भाषाके विकासकी जान है। हम देखते हैं कि आधुनिक ग्रीक, होमर या अरस्तूकी ग्रीककी अपेक्षा कम जटिल है। इसी प्रकार आधुनिक फारसी, अवेस्ताकी भाषा, या पहलवी [प्राचीन फारसी] से अधिक सरल है। ठीक यही बात संस्कृत तथा उसके परवर्ती विकासके बारेमें देख सकते हैं। यदि जटिलताकी दृष्टिसे देखा जाय तो भा० यू० परिवारमें संस्कृतका व्याकरणात्मक संघटन सबसे अधिक जटिल है। इस दृष्टिसे ग्रीक या लैतिन भी संस्कृतसे कम जटिल है। इसका संकेत हम यह यत्र-तत्र दे चुके हैं। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमें व्याकरणात्मक दृष्टिसे रूसी तथा जर्मन कुछ जटिल हैं, संस्कृत उनसे भी जटिलतर है। पर संस्कृतका परवर्ती विकास धीरे-धीरे व्याकणात्मक [ध्वन्यात्मक भी] सरलता की ओर बढ़ता है। जैसा कि हम देखेंगे प्राकृतकालमें व्याकरणा-त्मक सारल्य बढ़ गया और अपभ्रंशकालमें तो आजकी व्यवहित प्रवृत्ति पाई जाने लगी। संस्कृतकी अपेक्षा शौरसेनी एवं मागधी विशेष सरल हैं, और आजकी हिन्दी या बंगला इन सभीसे अधिक सरल है। इसका कारण यह है कि आधुनिक [वर्तमान] भारतीय भाषाएँ अपने प्राचीन रूपोंको

छोडती हुई विशेष सारल्य तथा विशेषीकरणकी ओर बढ गई हैं। उदाहरणके लिए सुप्–तिङ् रूपोको लीजिए। संस्कृतके इन रूपोकी जटिलता कम हो गई है। द्विवचन प्राकृतकालमे ही लुप्त हो गया है, प्राकृतकालमे चतुर्थी-षष्ठी, पञ्चमी-तृतीयाका समाश्लेष हो गया है। यह सरलता इतनी बढी कि आधुनिक भारतीय भाषाओमे दो ही विभक्ति रूप रह गये हैं:—अविकारी तथा विकारी। इनमे संबंधतत्त्वका बोधन करानेके लिए "परसर्गों" [postpositions] का विकास हो गया है, जो कभी सुप् चिह्नोसे, कभी किन्ही अव्ययोसे विकसित हुए हैं। लिगोकी दृष्टिसे हम देखते हैं कि नपुंसक लिंगका लोप हो गया है। इसी प्रकार तिङ्रूपोका भी विशेषीकरण हो गया है। हिन्दीके वर्तमानके रूप शतृप्रत्ययान्त रूपोसे विकसित हुए हैं, तो भूत एवं भविष्यत्के[1] रूप क्त प्रत्ययान्त रूपोसे।

संस्कृतके परवर्ती विकासको भाषावैज्ञानिकोने तीन स्थितियोमें माना है:—[१] प्राकृत-कालीन विकास, [२] अपभ्रंश-कालीन विकास, [३] आधुनिक भाषागत विकास। इन्हे हम क्रमश. प्राकृत, अपभ्रश तथा आधुनिक भाषाएँ इन तीनके अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं। वैसे प्रत्येकके अन्तर्गत भी विकासकी कई स्थितियाँ रही होगी, जिनमेसे कुछका संकेत भाषावैज्ञानिकोने किया है। यहाँ हम सस्कृतके परवर्ती विकासको दो भागोमे विभक्त करेंगे:—[१] **मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ**, [२] **आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं**। इन्हीको दृष्टिमें रखकर इस विकासका अध्ययन किया जायगा।

× × ×

संस्कृतकी वैदिक कालीन विशेषताओंका सिंहावलोकनः—

इसके पहले कि हम सस्कृतके परवर्ती विकासको लें, दो बातोको समझ लेना जरूरी होगा—पहले तो वैदिक भाषाकी कुछ विशेषताओंका सकेत;

---

१. हिन्दी भविष्यत्का 'गा' संस्कृत "गतः" के क्तप्रत्ययान्त रूपसे विकसित हुआ है।

तथा दूसरे, संस्कृतमें कौन-कौन विजातीय तत्त्व आकर प्राकृतवाले विकासमें सहायक हुए हैं। यहाँ हम प्रथमको ले रहे हैं।

जैसा कि हम देखते हैं ऋग्वेदके मन्त्रोंकी भाषा प्राचीनतम भारतीय भाषा है। यह भाषा अवेस्ताकी भाषाके अत्यधिक निकट है, तथा प्रा० भा० यू० "ग्रुन्दस्प्राख" [Grundsprache] का पूर्णतः प्रतिनिधित्व करती है। इसीका विकसित रूप लौकिक संस्कृत तथा प्राकृते[1] हैं। अवेस्ताकी प्राचीनतम भाषा अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे वैदिक संस्कृतसे भिन्न नहीं मानी जा सकती। देखा जाय तो वह कालिदासकी संस्कृतसे वैदिक भाषाके कहीं अधिक नजदीक है। ऋग्वेदकी भाषा आज भी विश्वस्त रूपमें मिलती है, उसका अपरिवर्तित रूप आज तक सुरक्षित रहा है। किन्तु, फिर भी कुछ स्थलोंपर ऋग्वेदकी भाषाको ठीक उसी रूपमें नहीं लेना होगा, जो हस्तलेखोंमें रहा है। जैसा कि हम बता आये हैं, ऋग्वेद कालकी भाषामें कई कालकी कई विभाषाओंका संग्रह मानना होगा। सम्पूर्ण ऋग्वेदको दस मण्डलोंमें विभक्त किया गया है। यह मण्डल-विभाजन ऐतिहासिक आधारपर है, पर इसमें कुछ अपवाद भी है। द्वितीयसे लेकर सप्तम मण्डल तक "गोत्र-मण्डल" कहलाते हैं। इन गोत्र-मण्डलोंमें प्रत्येक मण्डलके सारे मन्त्र एक ही गोत्रके ऋषियोंके बनाये हुए हैं, यथा, सप्तम मण्डलके ऋषि वशिष्ठ गोत्र-वाले हैं, इसी तरह द्वितीय मण्डलके ऋषि गृत्समद गोत्रके हैं, तो तृतीयके विश्वामित्र गोत्रके। द्वितीयसे सप्तम मण्डल तकके ऋग्वेदांशकी भाषा प्राचीन-तम है। प्रथम तथा दशम मण्डलमें कुछ भाग प्राचीन हैं, कुछ बादके। वैसे लोगोंका मत है कि दशम मण्डलका प्रायः सारा ही अंश बादका है। ऐतिहासिक दृष्टिसे नवम मण्डलका विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि इसमें सोम देवता संबंधी सभी मन्त्रोंका समावेश हो गया है। अतः यह मण्डल

१. यहाँ 'प्राकृत' शब्दका प्रयोग हम कुछ विस्तृत अर्थमें कर रहे हैं, जिसमें अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ भी सम्मिलित हैं।

'सोममण्डल' कहलाता है। अष्टम मण्डल प्राचीन तो है, पर इसमें कई गोत्रोंके ऋषियोंके मन्त्र समाविष्ट हैं। यद्यपि यह निश्चित हो गया है कि ऋग्वेदकी भाषा प्राचीनतम है, तथापि वैदिक संहिताओमे आज उपलब्ध वर्तनियो [Spelling] पर पूरा विश्वास न कर उसके उच्चारण तत्त्वकी भी खोज करना होगा। यहाँ इस तरहके लिपि-उच्चारण-भेदके कुछ उदाहरणोका संकेत दिया जाता है।

वैदिक संस्कृतके पावक शब्दको ले लीजिए, जिसका स्त्रीलिंग रूप पावका पाया जाता है। पाणिनि व्याकरणके मतानुसार यह रूप पाविका होना चाहिए, क्योंकि क प्रत्ययान्त शब्दके स्त्रीलिंग रूपोमे पूर्ववर्ती अ ध्वनि 'इ' हो जाती है, यथा कुमारक—कुमारिका। ऋग्वेद संहितामे यद्यपि यह शब्द पावक लिखा मिलता है, पर इसका उच्चारण पवाक होता होगा।[1] इसीलिए स्त्रीलिंगमे पावका रूप बनता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि वैदिक भाषाके भाषाशास्त्रीय अध्ययनके लिए यह आवश्यक है कि इसका उच्चारण कैसे होता था। ऋग्वेदसे इन दो उदाहरणोंको ले लें, जो स्पष्ट कर देंगे कि यहाँ छन्दके कारण पावक का उच्चारण पवाक ही होता है :—

शोचिष्केशो घृतनिर्णिक् पावकः [३।१७।१]।

प्रेतीषणिम् इषयन्तं पावकम् [६।१।६]।

इसी तरह जहाँ कही य तथा व संयुक्ताक्षरमें उत्तर ध्वनिके रूपमें पाये जाते है, वहाँ उनका उच्चारण 'इय' 'उव' होता है। यथा,

विश्वे देवस्य नेतुर्मर्तो वृणीत सख्यम्।

विश्वे राय इषुध्यसि द्युम्नं वृणीत पुष्यसे ॥ [५।५०।१]

में सख्यं का उच्चारण सखियम् होगा। वाजसनेयी संहिता [यजुर्वेद] में 'स्वर्' [स्वः] को एकाक्षर [monosyllabic] माना गया है, किन्तु

१. Wackernagel : Altindische Grammatik vol I. P. XI.

यजुष्की तैत्तिरीय संहिताके पाठमें यह द्वयक्षर [disyllabic] है, तथा इसका उच्चारण तैत्तिरीय शाखामें 'सुवर्' है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मणमें राजन्य तथा द्यौः को क्रमशः चतुरक्षर [राजनिय] तथा द्वयक्षर [दियौः] माना गया है।[1] किन्तु किन्हीं-किन्हीं पदोंके उच्चारणमें यह बात नहीं पाई जाती। सत्य, अश्व जैसे शब्दोंका उच्चारण सदा द्वयक्षर ही पाया जाता है। इससे एक अनुमान यह होता है, कि जहाँ य्, व् वस्तुतः प्रा० भा० यू० *य्, *व् से विकसित हैं, वहाँ उनका उच्चारण *इय् *उव् नहीं होता, किन्तु जहाँ ये संस्कृतमें इ + अ, उ + अ का विकास है, वहाँ इनका इय, उव वाला उच्चारण पाया जाता है। उदाहरणके लिए, उक्थं वाची-न्द्राय देवेभ्यः में देवेभ्यः का उच्चारण देवेभियः होता है।

वैदिक संस्कृतकी अन्य विशेषता औ–आ, आसः–आः, एभिः–ऐः वाले वैकल्पिक सुप् रूप है, जो हम देख चुके हैं। रूप देवौ–देवा, देवासः–देवाः, देवेभिः–देवैः जैसे वैकल्पिक रूपोंमें देखे जा सकते हैं। इसका विशद विवेचन संस्कृत पदरचनाके सम्बन्धमें किया जा चुका है। ऋग्वेदकी भाषामे अन्य विशेषताएँ ये हैं:—

[१] पद्भिः का वहाँ पड्भिः रूप पाया जाता है।

[२] वहाँ भ ध्वनि कभी-कभी ह पाई जाती है :—√ग्रभ्–जग्राह, 'भरति-हरति'।

[३] स्वरमध्यगत ड, ढ क्रमशः ळ ळ्ह हो जाते हैं।

[४] पु० लि० अकारान्त शब्दोंके सप्तमी बहुवचनके रूप कभी-कभी 'ए' अन्तवाले, तथा नपुंसक अकारान्त शब्दोंके प्रथमा-द्वितीया ब० व० के रूप कभी-कभी 'आ' अन्तवाले भी पाये जाते है, यथा त्रिषु रोचने; भुवनानि विश्वा।

[५] ऋग्वेदमे परोक्षभूते लिट्के चकार आस या बभूव वाले रूप नहीं पाये जाते। इनमे चकार या आस वाले रूप सर्वप्रथम यजुर्वेदमे मिलते

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५।१।५।१४ तथा १४।८।१५।१

है—आमन्त्रयाञ्चकार, आमन्त्रयामास। यजुर्वेदके गद्यभाग, ऋग्वेदकी ऋचाओंके बहुत बादकी रचना हैं, यह ध्यानमें रखनेकी बात है।

संस्कृत तथा उसके परवर्ती विकासमें विजातीय तत्त्वोंका प्रभावः—

जब आर्य भारतमें आये थे, तब यहाँ उनके पूर्व द्राविड तथा आस्ट्रिक परिवारके लोग रहते थे। इन लोगोंकी अपनी अलग-अलग भाषाएँ थी। यह निश्चित है कि आर्योंकी भाषाको ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक दृष्टिसे इन भाषाओंने चाहे कम प्रभावित किया हो, शब्द-सम्पत्तिकी दृष्टिसे अत्यधिक प्रभावित किया है। गोंड तथा संथाल जातिके पूर्वज मुण्डा लोगोंकी भाषा 'आस्ट्रिक परिवारकी' थी। इसी परिवारकी कई बोलियाँ आज भी भारतके कई भागोंमें बोली जाती हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इन्हें 'कोलवर्गके' नामसे अभिहित करना ठीक समझते हैं। इनका सम्बन्ध भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे, इन्डोनेशिया तथा आस्ट्रेलियाके निवासियोंकी भाषाओंसे जोडा जाता है, तथा इसे 'आस्ट्रो-एशियाटिक' या 'मोन-ख्मेर' भाषावर्गके नाममें पुकारा जाता है। मुण्डा-वर्गकी भाँति ही द्राविड़वर्गकी भाषाने भी उस कालमें आर्योंकी भाषाको प्रभावित किया था। द्राविड लोगोंकी भाषाएँ भिन्न परिवारकी मानी जाती हैं, तथा भाषाविज्ञानमें 'द्राविण-वर्ग' के नामसे प्रसिद्ध हैं। वैसे कुछ विद्वान् इन्हें 'यूराल-अल्ताइ' परिवार [जिसकी प्रमुख भाषा तुर्की है] से जोड़नेकी कल्पना करते हैं।

मुण्डा तथा द्राविण भाषाओंने, जहाँ तक ध्वन्यात्मकता तथा शब्दकोषका प्रश्न है, नि:सन्देह संस्कृतको प्रभावित किया है, साथ ही आधुनिक आर्य भाषाओंके, जो प्राकृत द्वारा विकसित हुई है, विकासमें भी उनका योग रहा है। किन्तु व्याकरण या पदरचनात्मक प्रभावके विषयमें विद्वानोंके दो मत हैं। प्रो० टॉमसनके मतानुसार आ० आर्य भाषाओंकी विभक्तियोंके विशेषीकरणमें मुण्डाका ही प्रभाव है, किन्तु डॉ० स्तेन कोनो [Sten Konow] इस बातसे सहमत नहीं। वैसे स्तेन कोनो स्वयं भी बिहारी

भाषाके कुछ क्रियारूपोंके विकासमें मुण्डा पदरचनाका प्रभाव मानते हैं।[1] ध्वनियोंके विकासके सम्बन्धमें विद्वानोंका मत है कि प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] ध्वनियाँ मुण्डा या द्राविड प्रभाव है, क्योंकि वहाँ दोनों वर्गोंमें मूर्धन्य ध्वनियाँ पाई जाती हैं। यही नहीं, गुजराती तथा पश्चिमी राजस्थानी एवं भीलोकी "त्स [च]" ध्वनि, संभवत: किसी मुण्डा विभाषाका ही प्रभाव है, क्योंकि भारतीय आर्य परिवारमें यह ध्वनि नहीं पाई जाती। वैसे बाल्तो-स्लाव्हिक भाषाओंमें इसका अस्तित्व है, यथा रूसीमें 'त्स' [च] [ts] ध्वनि पाई जाती है, जो उसके "त्सार" शब्दमें है, जिसका अर्थ जार होता है।

आधुनिक आर्य भाषाओंमें चार या बीसवाली गणना मुण्डा भाषाओं का ही प्रभाव हैं। साथ ही इसी गणनाके सांकेतिक शब्द **गण्डा** [४], **कोडी** [२०], मुण्डा भाषाओंसे आये हैं। इसी तरह कई ऐसे शब्द हैं, जिन्हें हमारे प्राकृत वैयाकरणोंने देशी या देशज मानकर तत्सम तथा तद्भव कोटिमे भिन्न माना है। इनमेंसे बहुतसे शब्द मुण्डा या द्राविड शब्दकोषसे आये हैं। प्रो० प्रजीलुस्की [Przyluski], ब्लॉख, सिलवाँ लेवी [Sylvan Levi], तथा डॉ० चाटुर्ज्याने कई ऐसे शब्द ढूंढ़े हैं, जो संस्कृतमें मुण्डा या द्राविड भाषाओंसे आये जान पड़ते हैं। इनमेंसे कुछ शब्दोंका संकेत यहाँ दिया जाता है, विशेष अध्ययनके लिए डॉ० पी० सी० बागची द्वारा सम्पादित 'प्रि—आर्यन एवं प्रि—ड्रेविडियन' नामक पुस्तिकामें उपर्युक्त पण्डितोंके लेखोंको देखना चाहिए।

बाण, पिनाक, दोनों संस्कृत शब्दोंका संबंध **पिन + आक** से जोड़ा जाता है। **आक, अनक, आग** शब्द इसी अर्थमे मुण्डा भाषामें पाये जाते हैं। वहाँ इनका अर्थ धनुष तथा बाण है।

१. Dr. Bagchi : "Pre-Aryan and Pre-Dravidian." [Introduction]. p. XI.

कपोल संस्कृत शब्द मुण्डा भाषाके[१] कापो, तपोम्र आदि रूपोंसे जोड़ा जाता है, जिनमे मूल रूप "–पोल" है। मुण्डा भाषाओंमे 'प' 'त' का विपर्यय पाया जाता है।

नारिकेल संस्कृत शब्द मुण्डा शब्द नियोर [नारियलका वृक्ष], तथा कोलई [फल] इन दो शब्दोके संयोगसे बना माना जा सकता है।

भेक शब्द मुण्डा तवेग, बुम्राक से संबद्ध माना गया है, जिसका अर्थ 'मेंढक' है।

अङ्कुर का संबंध मुण्डा ख्राम-ख्रोंग, अंग्गा, [संथाली], ओंग, बुङ्ग से जोड़ा जाता है।

कपोत शब्दका संबंध मुण्डा कपोल, कबोत से जोड़ा जाता है।

काक शब्दका संबंध मुण्डा बुयाग, ग्राग, गाग, कएक से बताया गया है।

हलाहल [अर्थ, जहर] संस्कृत शब्द भी मुण्डा हाले, हलेक से संबद्ध माना गया है, जहाँ इनका अर्थ 'काला साँप' है।

इनके अतिरिक्त जितने भी 'म्ब' 'बु' ध्वनिवाले संस्कृत शब्द हैं, उनमेंसे अधिकतर शब्दोको प्रो० प्रजीलुस्की [Przyluski] ने मुण्डा भाषाकी देन कहा है। दाडिम्ब, कदम्ब, शिम्ब, निम्ब, रम्भा, स्तम्ब, तुम्ब, तुम्बुरु, उदुम्बर, निम्बु[क], जम्बु, जम्बीर, लाबु, अलाबु जैसे कई शब्द मुण्डा-वर्गकी ही देन माने जाते हैं।[१] संस्कृतका गुड शब्द भी मुण्डाके गुल, गुला, गूल, हूलो से संबद्ध है, जिसका अर्थ 'शक्कर' है। क्या हिन्दीके गुलगुला शब्दका भी उद्गम मुण्डामें ही है ? प्रो० सिलवाँ लेवीने बताया है कि कई भौगोलिक स्थानोके नाम भी संस्कृत भाषामे मुण्डासे ही आये हैं। उनके मतानुसार कोसल-तोसल, अंग-वंग, कलिंग-त्रिलिंग, उत्कल-मेकल, पुलिंद-कुलिंद आदि देश नाम मुण्डासे ही आर्य भाषाओमें आये

---

१. ibid. p. xxviii. and also pp. 149. to 1›0.

हैं।[1] आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंमेंसे कईमें जो प्रतिध्वनि शब्द [जैसे, घोड़ा-वोडा, पैसा-वैसा, जल-वल, रोटी-वोटी, जलेबी-वलेबी] हैं, क्या वे मुण्डा प्रभाव तो नहीं हैं ?

द्राविड़ भाषाओंसे भी संस्कृतमें कई शब्द आये हैं। प्रो० ब्लॉखने अपने निबन्ध 'संस्कृत तथा द्राविड़' में इसपर प्रकाश डाला है।[2] 'घोड़े' के लिए वास्तविक आर्य शब्द 'अश्व' है, किन्तु बादमें संस्कृतमें घोटक [घोट–] शब्दका प्रयोग पाया जाता है। यह शब्द सर्वप्रथम आपस्तम्ब श्रौतसूत्रमें पाया जाता है। वस्तुतः यह द्राविड़ भाषाके गुर्रामु [तैलगू], कुदुर [कन्नड़], कुदिरेइ [तामिल] से सम्बद्ध है। यहाँसे पहले यह बोलचालको प्राचीन भाषामें आया है, और बादमें सस्कृतमें भी गृहीत हो गया है। दूसरा उदाहरण हम हिन्दी पेट शब्द ले सकते हैं। संस्कृतमें इसके लिए उदर शब्द है। प्राकृत तथा परवर्ती भा० आ० भाषाओंमे यह शब्द विकसित नहीं हुआ है। जब कि प्राकृतमें पेट्ट शब्द पाया जाता है। वैसे संस्कृतने भी पेट शब्दको अपनाया है, पर भिन्न अर्थमे। संस्कृतके पेटक, पेटिका [संदूक, संदूकची] जैसे शब्द मूलतः इसीसे संबद्ध है। संस्कृतका बिडाल शब्द लीजिए, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम रामायण व महाभारतमें पाया जाता है। इसीसे हिन्दी बिल्ली, बिलैय्या, जिप्सी बलारी, शब्द निकले हैं। इसका संबन्ध भी द्राविड़ शब्द पिल्लो [कन्नड] से माना जाकर, इसे द्राविड़ प्रभाव कहा गया है। संस्कृतके गर्दभ शब्दके विषयमे यह मत है कि इसमे दो अंश है, एक मूलशब्द [*गर्द] दूसरा–भ प्रत्यय। यह शब्द ऋग्वेद तकमे पाया जाता है। यह तो निश्चित है कि यह आर्य शब्द नहीं है, पर कहाँ से आया है यह प्रश्न समस्या बना हुआ है। विद्वानोंने यह तो कहा कि यह द्राविड़ भाषाका प्रभाव है, पर यह

१. ibid. Prof. Sylvan Levi's article "Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India" PP. 63 to 123.

२. ibid. Prof. Bloch's article. pp. 37 to 59.

समस्या अभी सुलझ न पाई है। छान्दोग्य-उपनिषद्में एक शब्द मटची मिलता है, इसका सम्बन्ध विद्वानोंने कन्नड़ मिडिचे से जोड़ा है, जिसका अर्थ 'घासका घोड़ा' [एक कीड़ा] है। संस्कृतका 'मयूर' शब्द जो ऋग्वेदमें पाया जाता है, द्रविड़ शब्द मयिल [तामिल], मय्लु [कन्नड़], मलि [तैलगू] से जोड़ा जाता है।

संस्कृतमें द्राविड़ भाषासे आये शब्दोंमें कतिपय निम्न हैं :—

सं० अनल [आग]; तामिल अनल, [अग्नि, धातु 'जलाना'], मल० कन्नड, नल, [अग्नि, ताप], अनलु [ताप]।

सं० अलस [आलसी]; ता० अलचु; म० अलयुक, कन्नड, अलसु [थका हुआ]।

सं० उलूखल [ओखल], ता० उलक्कइ, म० उलक्क, कन्नड, ओलके, तेल० रोंकली।

सं० एड [भेड़], ता० याटु, आटु [बकरी, भेड़], कन्नड, आडु [बकरी], ते० एट [मेढा]।

सं० कज्जल, ता० करिकल [कालिमा]।

सं० कटु [कडवा], ता० कटु, म० कटु, तेलगू, कडु।

सं० करीर [बाँस], क० करिले; तु० कणिले, ब्राहुई खरिंग। [बाँसकी कोंपल, अंकुरित होना]

सं० कानन [वन], ता० का, कान, कानन, कानल, म० कावु, कानल।

सं० कुटी, ता० कुटी, ते० गुडी।

सं० कुटिल, ता० कोटु, कूट, म० कोटु, कन्नड, कुडु।

सं० कुद्दाल [कुदाली], ते० गुद्दलि, क० गुद्दु।

सं० कुंतल [बाल], ता० म० कूंतल, क० कूदल।

सं० कुवलय [कमल], ता० कुवळइ, कन्नड, कोमळे, कोवळ, कोळे [तु० सं० कमल]।

सं० खल, ता० कल, कळ्वान [चोर], कन्नड कळ्ळ [चोर], ते० 'कळ्ळ' [धोखा] ।

सं० घुण [कीडा], कन्नड गोण्णे [-पुरु] [कीड़ा] ।

सं० घूक [उल्लू], ता० कूकइ, कन्नड, गूगि, गूगे, गूबि, ते० गूबि, गूब ।

सं० चंदन, ता० चांतु, चात्तु म० चांतु, चांतु, कन्नड, सादु, ते० चांदु ।

सं० √चुम्ब् [चूमना], ता० चूप्पु [चूसना] ।

सं० चूडा [बालोंका गुच्छा], ता० चूटु [सिरपर पहनना; सिरके बालोंका गुच्छा], म० चूट्टु [मुर्गेकी कलंगी], कन्नड सूडु ।

सं० दण्ड, ता० तण्टु, कन्नड दण्टु, ते० दण्टु ।

. सं० निर्गुण्डी [गिलोय], ता०, म० नोच्चि, क० नेक्कि, लेक्कि, लक्कि ।

सं० नीर [जल], ता०, म० कन्नड, नीर, ते० नीरु, ब्राहुई, दीर ।

सं० √पण् [शर्त करना], ता० पणइ [बाँधना], कन्नड, पोणे [जमानत] ।

सं० पण्डित [विद्वान्], ते० पण्डु 'परिपक्व', पण्ड, 'बुद्धि' ।

सं० पालि [पंक्ति], क० पारि, म० पालि, ते० पाळि ।

सं० बक, ता० वक्का, वंक, ते० वक्कु ।

सं० बिल्व [बेल] ता० विळा, विळावु, वेल्लिळल, म० विळ्ळ, कन्नड बेल़ावल ।

सं० मीन, [मछली], ता० मीन, कन्नड, मीन, ते० मीनु ।

सं० मुकुल [कली] ता० म० मुकिर्, ता० मुकइ, कन्नड़ मुगुल ।

सं० वलय [कड़ा], ता० वलइ, कन्नड बले ।

सं० शव [मुर्दा], ता० चा [मरना], चावु, [मृत्यु], कन्नड 'सा' [मरना], सावु [मृत्यु] ।

सं० हेरम्ब [भैंसा], ता० एरुमइ, म० एरिम [भैंसा] ।

भाषाओंके परस्पर शब्द-ग्रहणके संबंधमें, साथ ही भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनमे उनके शब्द-कोषकी तुलनामें हमें बहुत सतर्क रहना होगा। ऊपर हमने उन मुण्डा-द्राविड़ शब्दोंको देखा, जो संस्कृतमें ध्वन्यात्मक परिवर्तनके बाद विकसित हुए हैं। इनमें हमें कुछ शब्द ऐसे भी मिल सकते हैं जो ऋण [loan word] नही माने जा सकते। हमें ऐसे शब्दोंको एक ओर रखकर फिर आदान-प्रदानके तत्त्वका अध्ययन करना होगा। मेरा तात्पर्य "काक"—कोटिके शब्दोसे है। इस कोटिके जितने भी शब्द होंगे, उन्हें मैं भाषावैज्ञानिक अध्ययन करते समय उपेक्षित समझूँगा। इस कोटिमें मैं उन शब्दोको लूँगा, जिन्हें हम ध्वन्यात्मक या अनुकरणात्मक [onomatopoeic] शब्द कहते हैं। प्रो० जे० आर० फर्थ इस कोटिके शब्दोंको प्रतीकात्मक [symbolic] कहना विशेष ठीक समझते हैं, जिस पारिभाषिक सञ्ज्ञामें अनुकरणात्मकसे अधिक क्षेत्रका समावेश होता है। ये प्रतीकात्मक शब्द विभिन्न भाषाओंमें स्वतन्त्र रूपसे भी विकसित हो सकते हैं, और यदि ये किसी भाषामे किसी अन्यसे लिये भी गये हों, तो इसके लिए हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नही है। अतः किन्ही भी दो भाषाओंके शब्द-कोषकी तुलनामे ऐसे शब्दोंको हम पहले से ही निकाल कर एक ओर रख देंगे। संस्कृतमें काक, कोकिल, कुक्कुट, निर्झर, मर्मर ऐसे कई शब्द इस 'काक-कोटि'में गृहीत होगे। इसलिए शब्दावलीके आदान-प्रदानके बारेमें निर्णय देते समय भाषावैज्ञानिकको बड़ा सतर्क होकर चलना है। इस सम्बन्धमे एक बात याद आ गई। फ्रेंच भाषामे 'टोप' के लिए एक शब्द पाया जाता है, उसका उच्चारण 'शापो' [chapeau] होता है, ठीक यही उच्चारण एक राजस्थानी शब्दका है:—'स्यापो' [स्यापो] [हि० साफा], जिनका अर्थ 'पगड' है, पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इनका एक दूसरेसे कोई सम्बन्ध नही है। इसी प्रकार संस्कृत 'नारंग' शब्दको लीजिए; 'सन्तरे' के लिए स्पेनिश भाषामे इसीमे मिलते-जुलते शब्द 'नारंख' [naranja] का प्रयोग पाया जाता है। पर जब तक हमारे

पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं कि संस्कृतको यह शब्द विदेशी देन है, तब तक कुछ कहना अनर्थ प्रलाप होगा। यदि हमारे पास यह प्रमाण है कि कुछ विदेशी जातियाँ [संभवतः हूण] इस शब्दको एक ओर संस्कृत और दूसरी ओर स्पेनी जैसी रोमान्स भाषा तक ले गये, तो भी दोनों जगह विदेशी तत्त्व होनेसे यह शब्द न तो स्पेनी भाषाकी ही शब्द-संघटनाका, न संस्कृतकी ही शब्द-संघटनाका शुद्ध उदाहरण बन सकेगा। इसके प्रतिकूल अंगरेजी भाषाकी 'स्लैंग' [slang] में प्रयुक्त 'पाल' [pal] [इसका उच्चारण कुछ-कुछ 'फाल' [p'al] जैसा होता है], तथा 'चॅल' [chal] शब्दको हम संस्कृतके भ्राता तथा चेट शब्दसे पूर्णतः संबद्ध मान सकते हैं। ये दोनों शब्द वस्तुतः अंगरेजीमें जिप्सी [रोमानी] भाषासे आये हैं। जिप्सी भाषा संस्कृतसे निकली हुई भारतीय आर्य भाषा है,जो उन घुमक्कड़ोंकी भाषा है, जिनके पूर्वज ईसाकी पहली तथा तीसरी शताब्दीके बीचमें घूमते हुए यूरोप पहुँच गये थे। जिप्सी भाषाकी यह विशेषता है कि वहाँ संस्कृत 'त' ध्वनि [साथ ही 'ट' ध्वनि भी] 'ल' हो जाती है, तथा संस्कृत'भ'ध्वनि'फ' हो जाती है। इस प्रकार संस्कृतके भ्राता तथा चेट जिप्सीमें जाकर 'फाल' और 'चॅल' हो गये हैं। वहींसे ये अंगरेजीकी 'स्लैंग' में आ गये हैं। इस संबंधमें यह भी कह दिया जाय कि संस्कृत चेट शब्द भी शुद्ध आर्य न होकर मुण्डा या द्राविड देन है। क्या अपभ्रंशवाला 'छइल्ल' [हि०छैला] शब्द इसीका तो विकास नहीं ?

आगे जाकर लौकिक संस्कृतमें कई ऐसे भी शब्द आ गये हैं, जो प्राकृत रूप थे, और संस्कृत माने जाने लगे। ये प्राकृत शब्द वस्तुतः संस्कृतसे ही विकसित हुए थे, पर बादमें ये संस्कृतमें भी प्रयुक्त होने लगे। प्राकृतसे संस्कृतमें आये कुछ शब्द ये हैं:—वट ∠ वृत; नापित ∠ √स्ना, लांछन ∠ लक्षण, पुत्तल ∠ पुत्र + ल, भट्टारक ∠ भर्ता, भट ∠ भृत, मनोरथ ∠ मनोऽर्थ। [दे० डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिंदी पृ० ९७]·उदाहरणके लिए पुनः मारिष, इंगाल, मैरेय इन शब्दोंको

लीजिए। ये तीनों प्राकृतके शब्द हैं। वैसे 'मारिष' प्राकृतमें मारिस है, यहाँ संस्कृतके ध्वनि नियमके अनुसार ष ध्वनि आ गई है। इस शब्दका अर्थ 'मित्र' है तथा यह प्राकृत रूप संस्कृत 'मादृशः' से विकसित हुआ है। प्राकृतसे ही यह शब्द संस्कृत नाटकोंमें आकर 'मारिष' हो गया है। 'इंगाल' शब्द संस्कृत अंगार का प्राकृत रूप है। विद्वानोंने वैसे इस शब्दको भी शुद्ध आर्य न मानकर अंगु, इंगुग आदि मुण्डा शब्दोंसे जोड़नेकी चेष्टा की है। यह प्राकृत इंगाल फिरसे संस्कृतमें प्रयुक्त होने लगा है। श्रीहर्षने नैषधमें इसका प्रयोग किया है:—"वितेनुरिंगालमिवायशः परे" [प्रथम सर्ग]। मैरेय शब्दकी भी ऐसी ही कहानी है। संस्कृतके मद शब्दसे दूसरा शब्द बनता है मदिर, इसीका प्राकृत रूप मइर होता है। इसी प्राकृत मइर से फिर दूसरा शब्द बनता है 'मइरेअ' [मइरेय][1]इसीका संस्कृत रूप मैरेय है जिसका शुद्ध संस्कृत रूप *मदिरेय बनता है। मैरेय शब्दका प्रयोग 'शराब' के अर्थमें लौकिक संस्कृतमें बहुत पाया जाता है। माघने शिशुपालवधमें इसका प्रयोग बहुत किया है:— "......पीतमैरेयरिक्तं कनकचषकमेतद्रोचनालोहितेन", [एकादश सर्ग]। इसीके बादके कालमें साहित्यिक संस्कृतमें अरबी फारसी शब्द भी आ गये हैं, पर बहुत कम। श्रीहर्ष नैषधके चौदहवें सर्गमें श्लेषके रूपमें 'भूरितरवारि' पदका प्रयोग करते हैं, जहाँ 'तरवारि' शब्द 'तलवार' के अर्थमें भी आया है। आगे जाकर वैद्यकवि लोलिम्बराजने तो 'पात-शाह' शब्दको भी संस्कृत पदावलीमें समाविष्ट कर "लोलिम्बराजःकवि-पातशाहः" की खिचड़ी पकाई थी। हिन्दी शब्द 'खिड़की' का प्राकृत रूप'खडक्किआ' या 'खिडक्किआ' रहा होगा। मैंने इसका लौकिक संस्कृत साहित्यमें 'खिडक्किका'[2] प्रयोग भी देखा है। वैसे बादमें कई अँगरेजी, फारसी आदि शब्दोंके नये संस्कृत शब्द गढ़ लिये गये हैं, पर वे

१. मइरेय वस्तुतः मइरेअका ही य–श्रुति [y-glide]वाला रूप है।

२. पं० भट्ट मथुरानाथका साहित्यवैभव नामक काव्यग्रन्थ।

भाषावैज्ञानिकके लिए किसी कामके नहीं हैं। बानगीके तौरपर ये तीन शब्द ले लें—**कूलेजः** [College]; **क्षिप्राशिष्** [सिफारिश], **व्यक्तोर्जाः** [Victoria]।

संस्कृतके परवर्ती विकासका ऐतिहासिक क्रम :—

वैदिक कालमे ही वैदिक संस्कृत बोलनेवाले आर्य सप्तसिन्धु प्रदेश तथा अन्तर्वेद [दोआब] से आगे बढ़ गये थे। धीरे-धीरे इनकी विभाषाएँ एक दूसरेसे अलग होती गईं, उनपर यहाँकी विजातीय मुण्डा तथा द्राविड़ भाषाओंका भी प्रभाव पड़ने लगा। इनके प्रभावसे संस्कृत ध्वन्यात्मकता तथा पदरचनामें भी कुछ विकास होने लगा। जब अनार्य जातियोंने भी विजेता आर्योंकी भाषाको अपनाया, तो संस्कृतकी ध्वनियोंका उच्चारण नये रूपमें विकसित हो गया। इसी कालमे एक ओर उच्चारण-सौकर्यके कारण संस्कृत ध्वनियोंके प्राकृत उच्चारणका विकास होने लगा, दूसरी ओर इस प्रवृत्तिको वैदिक मन्त्रोंमें रोकनेके लिए प्रातिशाख्य-ग्रन्थों तथा शिक्षाओं का निर्माण हुआ, जिन्होंने संस्कृतके शुद्ध उच्चारणको सुरक्षित रखनेकी चेष्टा की। वैसे यह नहीं भूलना होगा कि प्राकृत रूपोंके विकासके दो-तीन सौ साल बाद प्रातिशाख्योंकी रचना हुई होगी, साथ ही शिक्षाग्रन्थोंकी रचनाके बारेमे कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। इनमेंसे कई तो ईसाकी दूसरी तीसरी शताब्दीके आसपासकी रचना है। प्राकृतोंकी वैभाषिक प्रवृत्तियोंका विकास ब्राह्मणकालमे स्पष्टतः परिलक्षित होने लगा था। पूर्वके अनार्योंके प्रभावसे पूर्वमे एक ऐसी विभाषाका विकास हो गया था, जिसे आर्य बिगड़ा हुआ अशिष्ट उच्चारण मानते थे।[1] यह विभाषा उन लोगोंकी थी जो आर्यधर्म—वैदिक धर्ममे विश्वास नहीं रखते

---

१. "अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुः" [वे लोग ठीक तौरपर उच्चारण किये जा सकनेवाले वाक्यको भी उच्चारण करनेमें कठिन बताते हैं।]

—ताण्ड्यब्राह्मण १७।४

थे। इन्हींको वैदिक साहित्यमें 'व्रात्य' नामसे अभिहित किया गया है। इन लोगोंको वैदिक ध्वनियोंमें प्रायः ऋ, ऐ, औ, र, स, व ध्वनियोंके उच्चारण में बड़ी कठिनाई प्रतीत होती थी। ठीक इसी तरह संयुक्त ध्वनियोंके उच्चारण करनेमें भी वे असमर्थ थे, विशेषकर तब, जब कि संयुक्त ध्वनियाँ दो भिन्न प्रकृतिकी होती थीं।

ब्राह्मण कालकी प्राकृतोंको मोटे तौर पर तीन तरहकी माना जाता है :—[१] उदीच्य, [२] मध्यदेशीय तथा [३] प्राच्य। उत्तरवैदिक कालमें विकसित प्राकृतोंमें उदीच्य विभाषा [प्राकृत] संस्कृतके अत्यधिक समीप थी। इसी उदीच्य विभाषाके आधारपर महर्षि पाणिनिने साहित्यिक तथा परिष्कृत रूप देनेके लिए व्याकरण [अष्टाध्यायी] सूत्रोंका निबन्धन किया था। मध्यदेशीय प्राकृत अन्तर्वेदकी विभाषा थी, तथा प्राच्य प्राकृत मगधके आसपासकी। कुछ लोगोंके मतानुसार दाक्षिणात्य जैसा चौथा वैभाषिक रूप भी उन कालमें रहा होगा। किन्तु बहुत बाद तक दक्षिणकी आर्य विभाषा मध्यदेशीयके ही अन्तर्गत रही है। यहाँ तक कि महाराष्ट्री तथा शौरसेनीको विद्वानोंने एक ही प्राकृतकी दो शैलियाँ माना है; जिसमें प्रथम पद्यमें पाई जाती है तथा द्वितीय गद्यमे।

तो, अशोकके पूर्वकी प्राकृतें मोटे तौर पर तीन तरहकी मानी जा सकती हैं। अशोकके समयकी वैभाषिक प्रवृत्तियोंको हम तत्प्रदेशके शिलालेखकी भाषामें देख सकते हैं। उदाहरणके लिए जहाँ लिख् का णिजन्त रूप गिर-नारके शिलालेखमें 'लेखापिता' मिलता है, वहाँ शहबाजगढ़ीवाले लेखमें लिखपितु, जौगढ़वाले लेखमे लिखापिता, तथा मानसेरके लेखमे लिखपित पाया जाता है। अशोकके गिरनार शिलालेखमे इसका भविष्यत् रूप लिखापयिसम् पाया जाता है, जब कि बादमे मागधीमें यह 'लिहावइस्शम्' [मृच्छकटिक पृ० १३६] हो गया है।

ईसासे २०० वर्ष पूर्वके लगभग ये विभाषाएँ कुछ निश्चित भाषाओंके रूपमें विकसित हो गईं। इस समय ये विभाषाएँ मोटे तौर पर चार

प्राकृतोंमें—पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधीमें—विभक्त मानी गई हैं। प्राकृत वैयाकरणोंने इन सब प्राकृतोंमें साहित्यिक दृष्टिसे महाराष्ट्रीको परिनिष्ठित प्राकृत माना है। यद्यपि इन सभी प्राकृतोंमें कई ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक तत्त्व समान रहे हैं, पर अपनी निजी विशेषताओंके आधारपर यह वर्गीकरण किया गया है। 'प्राकृत' शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयमें पण्डितोंके दो मत हैं। प्राकृत वैयाकरण अधिकतर यही मानते आये हैं कि प्राकृत भाषाएँ संस्कृतसे निकली हैं। इसी आधारपर वे 'प्राकृत' शब्दकी व्युत्पत्ति यों करते है।

प्रकृतिः संस्कृतं। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। [हेमचन्द्र १।१]
प्रकृतिः संस्कृतं। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते ॥ [मार्कण्डेय पृ० १]
प्रकृतेरागतं प्राकृतं, प्रकृतिः संस्कृतम्। [धनिक दशरूपकवृत्ति २।६०]
प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्। [प्राकृतचन्द्रिका]
प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतं योनिः। [वासुदेव–कर्पूरमञ्जरीटीका]

इस प्रकार सभी प्राकृत वैयाकरणों या प्राचीन पण्डितोंके मतानुसार प्राकृतकी उत्पत्ति संस्कृतसे मानी जाती है। दूसरी ओर आधुनिक विद्वान् इस मतसे संतुष्ट नहीं, क्योंकि वे यह मानते है कि प्राकृत संस्कृतसे उत्पन्न न होकर वैदिक कालकी बोलियोंसे विकसित हुई है। यदि हम संस्कृत शब्दका रूढ़ अर्थ न लेकर वैदिक कालकी समस्त वैभाषिक प्रवृत्तियोंके अन्तस्में निहित एकरूपता वाला अर्थ लें, तो सारी समस्या सुलझ जायगी। वैसे पाणिनिवाली लौकिक संस्कृतसे तो प्राकृतें उत्पन्न नहीं हुई हैं, यह निश्चित है; किन्तु वैदिक [संस्कृत] भाषाका परवर्ती विकास तो ये निःसंदेह हैं ही। पुराने पण्डितोंके मतमे जो त्रुटि थी वह यही कि वे इन्हें प्रायः लौकिक संस्कृतसे उत्पन्न मानते थे।

प्राकृतोंके द्वितीय विकास काल [२०० ई० पू०–६०० ई०] में शौरसेनी प्राकृत विशेष महत्त्वपूर्ण थी। महाराष्ट्री इसीकी एक विशेष शैली थी। पर प्राकृत वैयाकरणों तथा अन्य प्राचीन पण्डितोंने महाराष्ट्रीको ही

'स्टैण्डर्ड' तथा उत्तम प्राकृत माना। दण्डीने अपने काव्यादर्शमें इसी बातका संकेत करते कहा था, "महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।"[१] दण्डीके बहुत पहले ही प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण वररुचिने शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची प्राकृतोंकी विशेषताओंका उल्लेख करनेसे पहले महाराष्ट्री प्राकृतके नियमोंका निबंधन किया है तथा उससे जो विभिन्नताएँ इन दूसरी प्राकृतोंमे पाई जाती हैं, वे बताकर "शेषं महाराष्ट्रीवत्"[२] लिख दिया है। इसी कालमे आकर प्राकृत भी साहित्यिक रूप लेने लगी। इस कालके अंतिम दिनोंसे लेकर १० वी शती तक महाराष्ट्रीमे सेतुबन्ध, गउडवहो जैसे काव्य लिखे गये। वैसे हालकी 'सत्तसई' का रचना काल बहुत पुराना माना जाता है; किन्तु 'गाहा-सत्तसई' किसी कविकी रचना है या लोक-काव्योंके रूपमे प्रचलित गाथाओंका संग्रह, जिनका विकास ईसाकी प्रथम शताब्दीके आसपास हुआ होगा, यह प्रश्न समस्या ही है। अनुमान ऐसा होता है कि हाल इसके संग्राहक थे और सत्तसईका यह संग्रह ईसाकी दूसरी या तीसरी शतीके लगभग हुआ होगा। संभवतः हालने इन लोक-काव्योंको कुछ परिष्कृत रूप भी दिया हो, पर यह निश्चित है कि यह परम्परा लोककाव्योंकी ही रही होगी।

प्राकृतोंके इस द्वितीय विकास कालमे हमारे सामने एक समृद्ध धार्मिक तथा साहित्यिक भाषा आती है, वह है पालि। पालिमे बौद्धोंका 'थेरवादी' साहित्य तथा हीनयान शाखाका साहित्य मिलता है। पालि कहाँकी विभाषा रही है, तथा इसका विकास कैसे हुआ, इस विषयमें विद्वानोंके दो मत थे, किन्तु अब यह निश्चित हो गया है कि पालि मूलतः मध्यदेशकी प्राकृत [शौरसेनी] से विकसित हुई थी[3], यद्यपि इसमे कई मागधी तत्त्व भी

१. काव्यादर्श १।३४।

२. प्राकृतप्रकाश १२।३२।

३. Dr. Chatterjea: Origin and Development of Bengali Language, P. 57 Vol. I [Intro.]

सम्मिलित हो गये। भगवान् बुद्धने जिस भाषामें उपदेश दिया था, वह निःसंदेह मागधी थी, पालि नहीं। वैसे इस संबंधमें एक प्रसिद्ध गाथा भी है।[1] बौद्ध विद्वानोंमेसे अधिकतर पालिको मागधीकी ही विभाषा मानते थे। पर पालिमें मागधीसे कुछ मौलिक भिन्नताएं है। यथा, मागधीमें श्, ष्, स् के स्थानपर केवल तालव्य श् ध्वनि पाई जाती हैं, इसी तरह मागधीमें केवल ल् ध्वनि ही है, वहाँ र् का अभाव है। जब कि पालिमें केवल स्; र् और ल् दोनों ध्वनियां पाई जाती है। इसी तरह मागधीमें प्रथमा विभक्तिके [अकारान्त शब्दोंके] रूपोंमें 'ए' विभक्ति होती है, [धम्मे]; तो पालिमें शौरसेनीकी भाँति ओ विभक्ति होती है [धम्मो]।

शौरसेनी तथा मागधीकी कतिपय प्रमुख ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक प्रवृत्तियोंका संकेत हम परवर्ती पृष्ठोंमे करेंगे। जहाँ तक पैशाची प्राकृतका प्रश्न है, उसका विवेचन हम यहाँ न लेंगे। भाषावैज्ञानिकोंका मत है कि पैशाची प्राकृत संभवतः दरदवर्गकी प्राकृत रही होगी, जिसमें काश्मीरी, स्वाती तथा अन्य कई सुदूर उत्तरकी तथा पामीरके आस-पासकी भाषाएँ विकसित हुई हैं। दरदवर्गके नामसे भारत-ईरानी शाखाके एक तीसरे वर्गकी कल्पना की जाती है। भारत-ईरानी शाखाको इस प्रकार तीन वर्गोमें विभक्त किया जाता है:—[१] भारतीय आर्य [संस्कृत] वर्ग, [२] ईरानी [अवेस्ता-पारसी] वर्ग, [३] दरद वर्ग। दरद वर्गमें संस्कृत वर्ग तथा ईरानी वर्ग दोनोंका प्रभाव पड़ा होगा। यह एक मिश्रित विभाषा रही होगी। पैशाची संभवतः इसीका रूप थी। पैशाचीकी यह प्रवृत्ति जो प्राकृत वैयाकरणोंने बताई है, आज भी काश्मीरी आदिमें देखी जाती है:—जैसे, पिशाच भाषाओंमें सघोष महाप्राण नहीं होते; साथ ही संस्कृत सघोष अल्पप्राण वहाँ अघोष अल्पप्राण हो जाते हैं:—मेघः [मेखो], गगनं [गकनं]। इसीका संकेत हम काश्मीरीमें देख सकते हैं:—भ्राता [काश्मीरी, बोयु];

१. सा मागधी मूलभासा नरायायादिकप्पिया।
ब्रह्मणो च स्सुतालावा संबुद्धा चापि भासिरे॥

सं० घोटक [काश्मीरी, गुडु]; सं० खड्ग [का० खड्क]।[1] हम देखते हैं कि पैशाची प्राकृतने उदीच्य प्राकृतको प्रभावित कर कई मिश्रित विभाषाओंको जन्म दिया था। यही कारण है, इस तरहके कुछ प्रभाव हम लहँदा तथा पंजाबीमें भी देखते हैं। संभवतः व्राचड अपभ्रंश जिससे लहँदा और सिन्धी विकसित हुई पैशाचीसे प्रभावित मध्यदेशीय प्राकृतका विकसित रूप थी।

गाथा सप्तशतीके संग्रहकालमें ही प्राकृत साहित्यिक रूप ले चुकी थी। और प्राकृतके बोलचालवाले कालके समाप्त होनेके बहुत बाद तक यह साहित्यिक भाषा बनी रही। इसी कालमें कुछ प्राकृत कवियोंने प्राकृत भाषाकी मधुरताकी महत्ता घोषित की तथा सस्कृतसे अधिक प्राकृतकी प्रशंसा की।

अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणंति।

कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते कहं न लज्जंति॥ [गा० श० २]

[जो लोग अमृतके समान मधुर प्राकृत काव्यको पढ़ना और सुनना [समझना] नहीं जानते, वे लोग कामकी तत्त्वचिन्ताको करते हुए भी लज्जित क्यों नहीं होते ?]

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।

पुरिसमहिलाणं जेत्तिय मिहंतरं तेत्तियमिमाणं॥ [कर्पूरमञ्जरी सट्टक]

[संस्कृतके काव्य परुष होते हैं; किन्तु प्राकृतके काव्य अत्यधिक कोमल होते हैं। इन दोनोंमें ठीक वही अन्तर है, जो पुरुषों व रमणियोंमें।]

अपभ्रंश-काल—ईसाकी छठीं शतीसे ईसाकी दसवीं शती तक, भारतीय आर्य भाषाओंका जो विकास पाया जाता है, उसे मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओंकी तीसरी स्थिति कह सकते है। संस्कृत तथा प्राकृत दोनोंसे भिन्न बतानेके लिए उसे 'अपभ्रंश' संज्ञा दी जाती है, जिसका अर्थ

१. The Linguistic conception of Kashimri [Sir G. A. Grierson] [Indian Antiquity] Nov. -Dec. 1915.

है "बिगड़ी हुई", अर्थात् यह "बिगडी हुई भाषा" थी। अपभ्रंश शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग पातञ्जल महाभाष्यमे मिलता है :—"**एकस्यैव हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद् यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः।**[1]" [एक ही शब्दके बहुतसे अपभ्रंश रूप मिलते है, जैसे एक [शुद्ध] शब्द 'गौः' के गावी, गोणा, गोता, गोपोतलिका आदि बहुत अपभ्रंश रूप होते है।] पर यहा पतञ्जलि '**अपभ्रंश**' शब्दका प्रयोग किसी भाषा-विशेषके अर्थमे नही करते। उनके मतानुसार अपभ्रंश शब्द वे हैं, जो पाणिनीय व्याकरणके विरुद्ध तथा असंस्कृत है, किन्तु लोकमे प्रचलित है। पतञ्जलि वाला यही मत बादके संस्कृत वैयाकरणोंमे, यथा वाक्यपदीयकार भर्तृहरिमे भी देखा जा सकता है[2]। इसके बाद 'अपभ्रंश' शब्दका भाषाके अर्थमे प्रयोग दण्डीमे मिलता है। दण्डीके मतानुसार 'अपभ्रंश' भाषा [बोली] आभीर आदि जातियोंके द्वारा व्यवहृत होती थी [**आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः**—काव्यादर्श १।३६]। भरतके नाटयशास्त्रमे 'अपभ्रंश' शब्दका प्रयोग नही मिलता, किन्तु आभीर आदि जातियोंकी भाषाको भरतने माना है[3]। इस प्रकार अपभ्रंशके आभीरोके साथ सम्बन्धवाले संकेतको हम नाटयशास्त्रमें ही ढूंढ सकते है। इस सम्बन्धमे यह भी कह दिया जाय कि भरतने हिमवत्, सिन्धु, सौवीर आदि देशोके वासियोंकी भाषाकी प्रमुख विशेषता उकारबहुलत्व बताई है[4], जो अपभ्रंशमे पाई जाती है। इस प्रकार अपभ्रंश

१. महाभाष्यः [पस्पशाह्निक]
२. शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥
—वा० प० प्रथमकाण्ड का० १४८
३. नाटयशास्त्र १७।४४ [पृ० २१८]।
४. हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः।
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्॥
वही १८।४६ [पृ० २१८]

लोक-भाषाके रूपमें दण्डीके कुछ पहले ही प्रतिष्ठापित हो गई होगी। भरतके समय [२००-४०० ई०] के पहले लगभग यह कुछ जातियोंकी ही बोली थी। धीरे-धीरे संस्कृत आलंकारिकोंने भी इसे एक विभाषाके रूपमें स्वीकार कर लिया तथा बादके प्राकृत वैयाकरणोंने तो इसका शिष्ट भाषाके रूपमें प्रयोग किया और हेमचंद्रने इसका व्याकरण भी निबद्ध किया। ग्यारहवीं शतीमें पुरुषोत्तमने इसे शिष्ट समुदायकी भाषा माना है। यह वह काल है जब कि अपभ्रंशका साहित्यिक रूप भी समृद्ध हो गया। हेमचन्द्रके द्वारा संगृहीत दोहे उनसे कुछ पहलेके ही रहे होंगे। साथ ही जैन अपभ्रंश साहित्यकी परंपरा नवीं शतीसे ही आरंभ हुई मानी जा सकती है। वैसे पूर्वी अपभ्रंश साहित्यकी परंपरा कुछ विद्वानोंके मतानुसार आठवीं शती आरंभके लगभग जाती है।[1]

यद्यपि प्रत्येक आधुनिक आर्य भाषा, प्राकृतके बाद अपभ्रंशकी स्थितिसे गुजरती हुई आजकी दशामें आई है, पर प्राकृत वैयाकरणोंमें प्रायः **नागर**, **उपनागर** तथा **व्राचड** इन तीन अपभ्रंशोंका नाम दिया है। वैसे बादमें आकर मार्कण्डेयने तो अपभ्रंशके २७ भेद गिनाये हैं। पर मार्कण्डेयने तत्तद्देशके नाम गिनाकर वहाँ वहाँकी अपभ्रंशका संकेत किया है। अपभ्रंशका सबसे पहला साहित्यिक रूप कालिदासके विक्रमोर्वशीयमें चतुर्थ अंककी विरहाकुल पुरूरवाकी कुछ उक्तियों [पद्यरूप उक्तियोंमें] में मिलता है। इनके विषयमें विद्वानोंका मतभेद है। कुछ इन्हें कालिदासरचित ही मानते हैं, कुछ क्षेपक। एक तीसरा मत यह भी है कि ये कालिदासके समयके कुछ लोक-गीत हैं, जिनका समावेश कालिदासने कर दिया था और इस प्रकार अपभ्रंशका काल कालिदास [ईसाकी चौथी शताब्दी] तक चला जाता है। अपभ्रंश साहित्यमें एक ओर हम पश्चिमी अपभ्रंशका जैनी साहित्य देखते हैं, जिनमें 'महापुराण' 'हरिवंश पुराण' 'भविसयत्त

---

१. डॉ० शहीदुल्ला : ले शाँ मिस्तीके [पृ० २५-२६]।

कहा' 'सनत्कुमार चरिअउ' आदि काव्य प्रसिद्ध है, दूसरी ओर पूर्वी अपभ्रंशमें सिद्धों [बौद्धसिद्धों] के गान और दोहे।

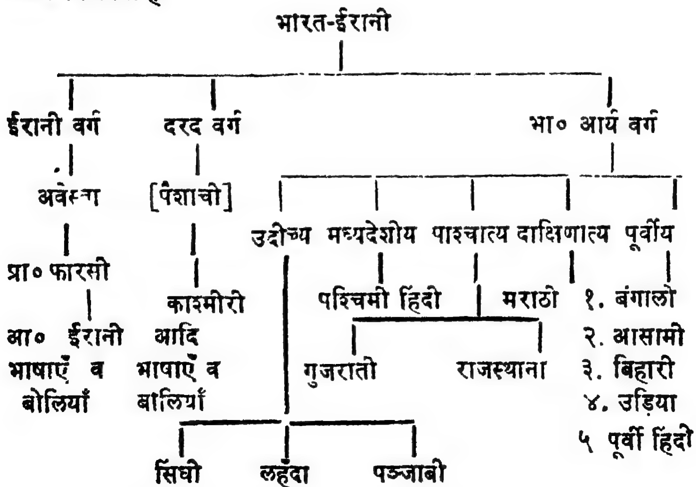
आधुनिक भा० आर्य भाषाएँ:—आधुनिक भा० आर्य भाषाओंका विकास अपभ्रंश-कालके बाद [१००० ई० के बाद] मे माना जा सकता है। इनके विकासमें भी हम दो स्थितियाँ मान सकते है। प्रथम स्थितिमे हम इन आ० भा० आर्यभाषाओंका प्राचीनतम विकास मानते हैं, जो १००० ई० से १४०० ई० के लगभग तक माना जा सकता है। हिन्दीका यह प्राचीन रूप हम 'प्राकृतपैंगलम्' तथा उसके साथ ही 'रासो' [पृथ्वीराजरासो] की भाषामें देख सकते हैं।[1] आधुनिक भा० आ० भाषाओंको सर ग्रियर्सनने एक निश्चित ढंगसे कुछ वर्गोंमें विभक्त किया था। सर ग्रियर्सनके इस वर्गीकरणपर हॉर्नलीके वर्गीकरणका प्रभाव पडा था, जिसे मूल आधार बनाकर उसने अपनी 'कम्पेरेटिव ग्रामर आव् गौडियन लेंग्विजेज' में आ० भा० आ० भाषाओंको अंतरंग तथा बहिरंग इन दो वर्गोंमें बाँटा था। उनके मतानुसार सुदूर पूर्व तथा सुदूर पश्चिमकी आ० आर्य भाषाओंमें [यथा बंगाली और सिन्धीमे] कुछ ऐसी पदरचनात्मक समानताएँ हैं, जो उन्हें एक ही वर्गकी सिद्ध करती है। हॉर्नली तथा ग्रियर्सन दोनों ही यह मानकर चले है कि भारतमे आर्योंके दो दल बाहरसे आये थे, एक दल जो पहले आया, बादके आर्योंके द्वारा मध्यदेशमे बाहर खदेड़ दिया गया। फलतः उसे सिन्ध, बिहार, बंगाल आदि स्थानोंकी शरण लेनी पड़ी। बादमें आनेवाले आर्योंकी भाषासे ही मध्यप्रदेशीय प्राकृत तथा उसकी परवर्ती स्थितिका विकास हुआ। इस प्रकार ग्रियर्सनने अन्तरंग वर्गके अंतर्गत शौरसेनी प्राकृतसे विकसित भाषाओंको माना, जिनमें प्रमुख पश्चिमी हिन्दी

---

१. 'रासो'की तिथिके विषयमें बड़ा मतभेद है। प्रस्तुत लेखकका यह मत है कि 'रासो' में निःसन्देह चन्दके समयकी भाषा वाले कुछ अंश हैं, यद्यपि 'रासो' में अधिकांश प्रक्षिप्त है तथा सोलहवीं शताब्दीके बादकी छौंक हैं।—लेखक

है, तथा बहिरंग वर्गमें मागधी प्राकृतको तथा उससे विकसित भाषाओंको तथा सिन्धी, लहँदा, सिंहली और जिप्सीको सम्मिलित किया ।[१]

हॉर्नली तथा सर ग्रियर्सनके इस वर्गीकरणसे कई विद्वान् संतुष्ट नहीं । डॉ० चाटुर्ज्याने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "बंगाली भाषाका उद्‌गम और विकास" में एक नया वैज्ञानिक वर्गीकरण दिया है, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है । उनके मतानुसार वेदोंमें ही हम कई विभाषाओंके चिह्न देख सकते हैं । ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी प्राच्योंकी विकृत भाषाका संकेत मिलता है । साथ ही अशोकके शिलालेखोंमें भी वैभाषिक प्रवृत्ति प्रान्तोंके आधारपर देखी जाती है । अतः इन भाषाओंका वर्गीकरण भौगोलिक आधारपर करना विशेष ठीक होगा । यही कारण है कि डॉ० चाटुर्ज्याने भौगोलिक आधारपर आ० भा० आ० भाषाओंका [आ० भा० आ० भाषाओंका ही नहीं, प्राकृतोंका भी] वर्गीकरण दिया है ।



१. Dr. chatterjea: Origin and Development of Bengali Language. Vol. I [Introduction.]P. 30-31

इस प्रकार डॉ० चाटुर्ज्या उदीच्य, मध्यदेशीय, पाश्चात्य, दाक्षिणात्य तथा पूर्वीय ये पाँच वर्ग मानते हैं। उदीच्यसे वे सिन्धी तथा लहँदाको, तथा मध्यप्रदेशीय प्राकृतसे प्रभावित उदीच्यसे पंजाबीको उद्भूत मानते हैं। मध्यदेशीयमें वे पश्चिमी हिंदीको लेते हैं, तथा पाश्चात्यमें गुजराती एवं राजस्थानीको; इन्हींके मिश्रित वर्गमें वे पहाड़ी बोलियोंको मानते हैं। दाक्षिणात्य वर्गमें मराठीका समावेश होता है। पूर्वीय वर्गके दो उपवर्ग किये जाते हैं:—[१] कोसली जिसमें पूर्वी हिंदी—अवधी आदि आती हैं, दूसरी मागधी जिसके अंतर्गत बंगाली, आसामी, उड़िया तथा बिहारीका समावेश होता है।

भाषाओंका वर्गीकरण कर लेनेके बाद हम मोटे तौरपर प्राकृत कालसे लेकर आज तककी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक परिणतिका विहंगम दृष्टिसे अध्ययन करेंगे। यही कारण है, परवर्ती पृष्ठोंमें प्राकृत, अपभ्रंश तथा परवर्ती प्रवृत्तियोंकी खास विशेषताओंका ही संकेत किया जायगा।

संस्कृत स्वरध्वनियोंका परवर्ती विकास—

सर्वप्रथम हम देखते है कि संस्कृतके **ऋ**, ऌ स्वर प्राकृत कालमें आकर सर्वथा लुप्त हो गये है। ऌ का तो संस्कृतमें भी एक प्रकारसे अभाव ही था, क्योंकि वहाँ यह केवल √**क्लृप्** धातु या उससे बने एक दो रूपोंमें पाया जाता था। **ऋ** प्राकृतमें आकर तीन प्रकारसे विकसित हुआ है :—**अ**, **इ**, तथा **उ**। इसके पहले कि हम इसके **अ** वाले विकसित रूपको लें, **इ** तथा **उ** वाले विकासका संकेत कर दें। प्राकृतप्रकाशमें बताया है कि **'ऋष्यादि'** गण के शब्दोंमें **ऋ** प्राकृतमें **इ** पाया जाता है।[1] उदाहरणके लिए, **ऋषि**, **भृंगार**, **शृंगार**, **शृगाल** के प्राकृतमें **इसी**, **भिंगारो**, **सिंगारो**, **सिआलो** रूप पाये जाते हैं। कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनमें **ऋ** के **अ** तथा **इ** दोनों रूप पाये जाते हैं। **दृढ**, **मृग**, **गृध्र** जैसे शब्दोंके **ढो-दिढो**, **मओ-मिओ**, **गद्धो-गिद्धो** ये वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। **'ऋत्वादिषु'** के

१. इदृष्यादिषु [१।३०]—प्राकृतप्रकाश

शब्दोंमें प्राकृतमें **ऋ** का **उ** विकास पाया जाता है।[1] उदाहरणके लिए, **ऋत, वृत्तान्त, मृणालं, पृथिवी** के प्राकृत रूप **उदु, वुत्तन्तो, मुणालं, पुहवी** रूप पाये जाते है। बाक़ी शब्दोंमें यह **ऋ** प्राकृतमे **अ** के रूपमें विकसित हुआ है,[2] जैसे **तृष्णा** का प्राकृतरूप **तण्हा**।

प्राकृत-कालकी दूसरी विशेषता **ऐ, औ** ध्वनियुग्मोंका लोप है। प्राकृतप्रकाशकारने **'ऐत एत्'** [१।३६] तथा **औत ओत्** [१।४१] इन सूत्रोंमें बताया है कि संस्कृत **ऐ, औ** प्राकृतमें आकर प्रायः **ए, ओ** हो जाते हैं। उदाहरणके लिए **शैल, कैलाश, सैन्य, सौभाग्य, यौवन, कौशाम्बी** के प्राकृत रूप **सेलो, केलासो, सेण्णं, सोहग्गं, जोव्वणं, कोसंबी** पाये जाते हैं। किन्तु कई स्थानोंपर ये ध्वनियाँ क्रमशः **अइ**, तथा **अउ** के रूपमें भी विकसित हुई हैं। **"दैत्यादिगण"** मे **'अइ'** [**दैत्यादिषु अइत्** १।३७] तथा **"पौरादिगण"** में **'अउ'** [**पौरादिषु अउत्** १।४२] का विकास हुआ है। उदाहरणके लिए, **दैत्य, कैतव, वैशाख** के प्राकृत रूप **दइच्चो, कइतवो, वइसाहो**, तथा **पौर, रौरव, गौड** के प्राकृत रूप **पउरो, रउरवो, गउडो** पाये जाते है। कभी **ऐ** तथा **औ** क्रमशः **ई** तथा **उ** के रूपमें भी विकसित मिलते हैं—**धैर्यं** [प्रा० **धीरं**]; **सौन्दर्यं** [प्रा० **सुन्देरं**]।

प्राकृतकालमे ह्रस्व विवृत **ऐ, ओ** ध्वनियोंके होनेका संकेत मिलता है। यह संकेत प्राकृत छन्दोको देखनेसे मिलता है, जहाँ कभी-कभी **ऐ, ओ** ह्रस्व या एकमात्रिक देखे जाते है। संस्कृतमे इन ह्रस्व ध्वनियोंका अभाव है। फिर भी इस तरहके उच्चारणका अस्तित्व सामवेदीय शाखाओं के वैदिक उच्चारणमे था, इस बातका संकेत महर्षि पतञ्जलिने महाभाष्यमें किया है। प्राकृतप्रकाशमें इस विशेषताका उल्लेख नहीं। हेमचन्द्रने

१. **उदृत्वादिषु** [१।३१]—**वही**।

२. **ऋतोऽत्** [१।२९]—**वही**। **साथ ही दे०** Pischel : Prakrit Sprachen, pp. 49–50.

अवश्य इसका उल्लेख किया है। पिशेलने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "प्राकृत स्प्राखेन" में इस बातपर विशद विवेचन प्रस्तुत किया है कि प्राकृतमें ऍ, ऑ ध्वनियाँ थीं :—

[१] प्राकृतमें जहाँ इ, उ अथवा ई, ऊ किसी संयुक्त व्यंजनके पूर्व होते थे, तथा वह इ, उ संस्कृत ऋ का ही विकास था, वहाँ यह इ, उ प्राकृतमें ह्रस्व ऍ, ऑ के रूपमें विकसित हो गया था, यथा

*दृक्षति [पश्यति]——>*दिक्खइ——>दॆक्खइ[1]

[२] संयुक्त व्यञ्जनध्वनि [संयुक्ताक्षर] के पूर्व ए तथा ओ क्रमशः ऍ, ऑ के रूपमें विकसित हो गये थे। यथा, प्रेक्षते, प्रेक्षणीय, ओष्ठ, अन्योन्य के प्राकृत रूप ये हैं :—पॆच्छइ, पॆच्छणिज्ज, ऒट्ठ, अण्णॊण्ण।[2]

[३] यदि प्रथम पदके अन्तमें ए या ओ ध्वनि है और उत्तर पदकी प्रथम ध्वनि प्राकृतमें संयुक्त व्यजन ध्वनि है, तो भी ये ध्वनियाँ ऍ, ऑ हो जाती हैं। यथा, तुम्हॆत्था [वै० सं० युष्मे स्था], अणुराअॊत्ति [अनुराग इति], समॊत्ति [सम इति], साअरॆत्ति [सागरे इति]।[3]

अधिकतर ऐसा समझा जाता है कि ऐ, औ का ही विकास आ० भारतीय आर्य भाषाओंमें विवृत ऍ, ऑ के रूपमें पाया जाता है। किन्तु पिशेलने यह सिद्ध कर दिया है कि इनका विकास अन्य दिशाओंसे भी हुआ है। यहाँ हमें यह समझ लेना है कि मध्यकालीन भा० आर्य भाषाओं तथा आधुनिक भा० आ० भाषाओंमें ह्रस्व ऍ, ऑ ध्वनियाँ पाई जाती हैं। वैसे इन ध्वनियोंके लिए रूढ़ लिपि [conventional ortho-

---

१. Pischel : Prakrit Sprachen, p. 61.

२. ibid. p. 73.

३. ibid. p. 74.

graphy] में कोई संकेत नहीं पाया जाता। हिन्दीमें इनके लिए प्रायः **ऐ, औ** लिपिचिह्नोंका ही प्रयोग पाया जाता है, जैसे **जाइऍ कॅसे** को **जाइहै, कैसे** लिखा जाता है।

हॉर्नलीने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "कम्पेरेटिव ग्रामर गौडियन लेंग्विजेज" में इसपर प्रकाश डाला है कि प्राकृतमें ह्रस्व ऍ तथा **ओ** अवश्य रहे होंगे। प्राकृतप्रकाशमें इनका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर हॉर्नलीका अनुमान है कि **निद्रा, नीडं, शैन्यं, शय्या, सेवा, एकं, मुक्ता, यौवनं, त्रैलोक्यं** के प्राकृत रूप **णॅद्दा, णॅड्डु, सॅण्णं, सॅज्जा, सॅव्वा; ऍक्कं, मॉत्ता, जॉव्वणं, तॅलोक्कं** में प्रथम स्वर ध्वनि ह्रस्व ऍ, ओ ही हैं। हॉर्नलीका यह अनुमान ठीक है,[1] तथा पिशेलके मतसे भी इसकी पुष्टि होती है।

अपभ्रंशमें ह्रस्व ऍ, ऑ का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। हैम व्याकरणमें स्पष्ट रूपसे इसका संकेत करते हुए हेमचन्द्रने बताया है कि व्यञ्जन ध्वनिसे पूर्व होने पर ए, ओ ध्वनियोंका उच्चारण लघु होता है।[2]

य, व-श्रुतिः—

संस्कृतमें एक साथ दो स्वर ध्वनियाँ पदमें नहीं पाई जातीं, उनमें संधि हो जाती है, किन्तु यह बात प्राकृतमें नहीं पाई जाती। वहाँ दो स्वर ध्वनियाँ एक साथ भिन्न अक्षर-प्रक्रियाका संपादन करती पाई जाती हैं। हम कुछ संस्कृत शब्दोंके प्राकृत रूप लेते हैं। **मयूख, मयूर, आदर, आतप, आकाश, जाया, आकुल, वादयति** के प्राकृत रूप **मऊह, मऊर, आअर, आअव, आआस, जाआ, आउल, वाएइ** हैं, जहाँ इन पदोंके प्रथम तथा द्वितीय अक्षरोंमें एक साथ [बिना किसी व्यंजनके व्यवधानके] दो

---

१. Hornle : Comp. Grammar of Gaudian Languages. 6. pp. 45.

२. "**कादिस्थैदोतोरुच्चारलाघवम्**" :—**हेमचन्द्र ४।४१०।**

स्वर ध्वनियाँ पाई जाती हैं। यहाँ संस्कृतकी भाँति स्वरसंधि नहीं हुई है। [वैसे कई स्थलोंपर प्राकृत तथा पालिमे स्वरसंधि होती है, पर वह यहाँ हमारा विषय नहीं है।] संभवतः इसका कारण संस्कृत-पदोंके मूल अक्षर-भार [Syllabic weight] को सुरक्षित रखनेकी प्रवृत्ति है। अपभ्रंश कालमें ऐसे कई स्थानों पर **य** तथा **व** श्रुति [glide] का प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणके लिए संस्कृत **नागदत्त, युगल** के प्राकृत रूप **णाअदत्त, जुअल** हैं, किंतु अपभ्रंशमें इनके रूप **णायदत्त** तथा **जुयल** पाये जाते हैं। ऐसे अनेकों उदाहरण देखे जा सकते हैं।[1] यहीं नहीं, जैन महाराष्ट्रीमें इनका प्रचुर प्रयोग है तथा मागधी प्राकृतमे भी कुछ स्थानोंपर **य** श्रुतिका प्रयोग पाया जाता है। हार्नलीने **योजनं** के मागधीरूप **योयणं** को लेकर बताया है कि **ज** यहाँ पर **य** हो जाता है। वस्तुतः मागधीमें **ज** का परिवर्तन **य** रूपमें नहीं होता। ध्यानसे देखा जाय तो **ज** का लोप होता है, [**कगचजतदपयवां प्रायो लोपः**] तथा बादमे स्वरमध्यगत **य** श्रुतिका प्रयोग होता है। यह श्रुतिप्रयोग इसलिए होता है कि प्राकृत रूप '**योअणं**' में **ओ** तथा **अ** में संधि न हो तथा अक्षर-भार भी अक्षुण्ण बना रहे। अथवा कुछ य- श्रुतिकी उच्चारणवाली विभाषाओंने मागधी प्राकृतको प्रभावित किया होगा। प्राकृतमे **व** श्रुतिका भी संकेत मिलता है। कात्यायनने बताया है कि कही **य** तथा कही **व** श्रुतिका उच्चारण विकल्पसे पाया जाता है, **गअणं-गयणं, सुहओ-सुहवो** [**सं० गगनं, सुभगः**]।[2]

हेमचन्द्रने भी इस श्रुतिके प्रयोगका संकेत किया है। हेमचन्द्रने अपने व्याकरणमें अपभ्रंशके सम्बन्धमे **य** श्रुतिका वर्णन किया है। श्रुतिके संबधमे ऐसा जान पड़ता है कि किन्हीं विशेष विभाषाओंमे कोई एक श्रुति [**य**

---

१. देखिए, मेरा लेख "**अन्तःस्थ ध्वनियाँ**" [शोधपत्रिका २००९]

२. **क्वचिद्यत्वं वा ॥ गअणं गयणं वा ॥ क्वचिद्वत्वं वा। सुहओ सुहवो वा।** [१।१। ४५–४६]

व] का प्रयोग प्रमुख हो जाता है। शौरसेनी अपभ्रंशकी श्रुतिगत विशेषता य–वाली रही होगी। हेमचन्द्रके अनुसार अ या उसके दीर्घ रूप आ के पूर्व तथा पर ध्वनि दोनों होनेपर य श्रुतिका प्रयोग होता था, तथा वे बताते हैं कि जहाँ क, ग, च, ज आदिका लोप हो जाता है, वहाँ अ, अ, आ, अ, अ, आ; आ आ के बीचमे य श्रुतिका प्रयोग होता है। 'य' का उच्चारण 'लघुप्रयत्नतर' होता है।[1] यहाँ हमें 'लघुप्रयत्नतर' शब्दपर विचार करना है। आजके पाश्चात्य ध्वनिशास्त्री श्रुति [glide] को ध्वन्यात्मक तत्त्व [phonematic element] न मानकर सन्ध्यात्मक तत्त्व [prosodic element] मानते है। संभवतः हेमचन्द्रका यही अर्थ है कि इस प्रकारके श्रुतिरूप य का उच्चारण इतना पूर्ण नहीं हो पाता, कि वह य वर्ण [phoneme] हो सके। यही कारण है कि अपभ्रंशके गयणं, णयणं के उच्चारणमें हेमचन्द्रकी साक्षीपर यहाँ केवल ५ ध्वनियाँ [phoneme] ग् [ण], अ, अ, ण, अ ही मानी जा सकती हैं, य को अलगसे ध्वनि माननेपर ६ ध्वनियाँ माननी होंगी। यदि कहीं अपभ्रंशके इस उच्चा॰॰णका ध्वनिशास्त्रीय प्रतिलिपीकरण करना हो तो यों होगा।

	स्थूल ध्व० लि०	सू० ध्व० लि०
गयणं	gəənə	gə'∧n∧['']
गयणं	nəənə	uə'∧n∧['']

यहाँ स्थूल ध्वन्यात्मक लिपीकरण [broad transcription] में हमने केवल ध्वनियोंको व्यक्त किया है, जब कि सूक्ष्म लिपीकरण [narrow-transcription] में एक ओर 'य' [y] श्रुतिको कुछ ऊपर लिखकर उसकी ध्वन्यात्मकता निषिद्ध करते हुए भी उसकी श्रुत्यात्मकता संकेतित की

---

१. अवर्णो यश्रुतिः [८।१८०] तथा इस सूत्रकी टीका कगचजेत्यादिना लुकि सति वर्णो अवर्णः अवर्णात्परो लघुप्रयत्नतरयकारश्रुतिर्भवति॥

है। साथ ही वहीं अन्तमें [m] के द्वारा अनुनासिकीय उच्चारणकी विशेषताका भी संकेत किया है। इनमें हम 'म्' [m] को अलगसे ध्वनि माननेके पक्षमें न होकर अनुनासिक स्वरकी ही विशेष प्रवृत्ति मानेंगे, जो उसके पदान्त होनेपर सदा पाई जायगी। साथ ही ə उदासीन केन्द्रीय स्वर [central vowel] के पश्च उच्चारणके लिए हमने ʌ चिह्नका प्रयोग किया है।[1]

जहाँ तक 'य' ध्वनिके विकासका प्रश्न है, प्राकृतमें यह ध्वनि शुद्ध संस्कृत ध्वनिके रूपमें विकसित नहीं हुई है, वहाँ संस्कृत पदादि **य** सदा **ज** हो जाता है। यदि संस्कृत **य** स्वरमध्यगत है तो वह प्राकृतमें लुप्त हो जाता है। इस तरह प्राकृतमें संस्कृत **य** का दुहरा विकास देखा जाता है। प्राकृतमें ही कुछ विभाषाओंमें **य** श्रुति रही होगी, वही श्रुति आगे जाकर अपभ्रंश भाषाकी खास विशेषता बन बैठी। हम देखते हैं कि जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनीमें 'य'–श्रुतिका प्रयोग पाया जाता है।

आजकी भा० आ० भाषाओंके उच्चारणमें यह श्रुतिगत प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्हीं विशेष भाषाओं या उनकी विभाओंमें **य** श्रुति प्रधान होती है, किन्हींमें **व** श्रुति। पछाँहमें '**य**' श्रुतिकी प्रवृत्ति देखी जाती है, तो पूरबमें '**व**' की, पर इसका अर्थ यह नहीं कि पछाँहमें '**व**' श्रुति [w-glide] का अभाव है। हम हिंदीसे कुछ शब्द लेकर उनके तीन

१. आधुनिक ध्वनिशास्त्री इस तरहकी सरणि आजकी बोलचालकी भाषाओंमें ही ग्रहण करता है, मृत भाषाओंमें नहीं। यहाँ हमने इस नियमका भंग-सा किया है। हमारा उद्देश्य इस नियम-भंग करनेमें हेमचंद्रके समयके उच्चारणको व्यक्त करना था, इसका साक्षी स्वयं हैम व्याकरण है। साथ ही हम यह नहीं कहते कि ऐसा उच्चारण था ही। हम केवल इतना कहते हैं कि हेमचन्द्रकी साक्षीपर इस तरहका उच्चारण रहा होगा। —लेखक

तरहके उच्चारणको व्यक्त करते हैं। यहाँ प्रथम उच्चारण शून्य-श्रुति [zero-glide] वाला या साधारण उच्चारण है, द्वितीय य-श्रुतिवाला है, तृतीय व-श्रुतिवाला।

शून्य-श्रुति	य-श्रुति	व-श्रुति
खाए [kha·-e]	खाये [khaʸe]	खावे [knaʷe]
पीए [pi · e]	पीये [pi · ʸe]	पीवे [pi · ʷe]
जाए [ja·e]	जाये [ja·ʸe]	जावे [ja·ʷ e]
कुई [kui]	कुयी [kuʸi][1]	कुवी [kuʷi][1]
सुई [sui]	सुयी [suʸi]	सुवी [suʷi][1]

इस परिच्छेदमें हम केवल उन्हीं परवर्ती विशेषताओंका संकेत कर रहे है; जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है, संस्कृत व्यञ्जनध्वनियोंके विकासको हम बड़े संक्षेपमें लेंगे। इसके पहले कि हम व्यञ्जनोंके विकासपर दो शब्द कहें आ० भा० आ० 'अनुनासिकीकरण' पर कुछ कह देना जरूरी होगा। स्वरोंके नासिक्य रूपको ऐतिहासिक दृष्टिसे दो तरहका माना गया है; १. पराश्रय या सकारण अनुनासिकता, तथा २. निराश्रय या अकारण अनुनासिकता। जहाँ किसी प्रत्यक्ष कारणसे स्वरकी अनुनासिकता पाई जाती है, उसे प्रथम कोटिमें माना जाता है, जैसे **राम, हनुमाना, जामवंत** के **राँम, हनुमाँना, जाँमवंत** इन रूपोंमें। दूसरे ढंगकी सानुनासिकता वह है जहाँ प्रत्यक्ष रूपमें कोई अनुनासिक ध्वनि उस पदमें नहीं है, जिसका प्रभाव अनुनासिकीकरणके रूपमें हो। जहाँ अनुनासिकीकरणका कोई कारण विद्यमान न हो, ऐसे निराश्रय अनुनासिकीकरणको ब्लॉख तथा

---

१. कुआँ शब्दके स्त्रीलिंग रूपका उच्चारण य तथा व श्रुतिवाला भी सुना जाता है। ठीक यही बात सुईके विषयमें है, पर इसका व वाला उच्चारण बहुत कम सुना जाता है—राजस्थानीकी पूरबी बोलीमें ही व-श्रुतिवाले रूप यत्र-तत्र सुने जा सकते हैं।

टर्नर "स्पोन्टेनियस नेज़ेलाइज़ेशन" कहते हैं।[1] इसके उदाहरण कंकर, आँख, साँप आदि दिये जा सकते हैं, जहाँ संस्कृत रूपोंमें या इनके प्राकृत रूपोंमें भी अनुनासिक तत्त्व नहीं हैं :—कर्कर [कक्कर], अक्षि [अक्खि], सर्प [सप्प]। अनुनासिकीकरणका विशेष विवेचन डॉ० सिद्धेश्वर वर्माके निबन्ध 'नेज़ेलाइज़ेशन इन हिंदी लिटररी वर्क्स' में देखा जा सकता है, जो कलकत्ता विश्वविद्यालयके डिपार्टमेंट आव् लेटर्स के १९२९ वाले जर्नलमें प्रकाशित हुआ है। मैंने इस विषयपर विस्तारसे अपने अन्य निबंध "भारतीय आर्य भाषाएँ तथा अनुनासिक ध्वनियाँ" में विचार किया है, अतः वहाँ द्रष्टव्य है। यह निबंध शोधपत्रिका [२००९] में प्रकाशित हुआ है। यहाँ संकेत मात्र दिया गया है।

संस्कृत व्यञ्जन ध्वनियोंका परवर्ती विकास :—

१. **प्राकृतकालीन विकास** :—[१] संस्कृत न, य, श के अतिरिक्त प्रायः सभी ध्वनियाँ प्राकृत कालमें शब्दोंके आदिमें अपरिवर्तित रही हैं। न, य, श क्रमशः ण, ज, स बन जाते हैं। जधा, णअरं, सेज्जा [यथा, नगरं, शय्या]

[२] संस्कृतके पदादि क, प कभी-कभी ख, फ हो जाते हैं, खुज्ज [कुब्ज], फणस [पनस] [हि० फालसा]

[३] संस्कृत श, ष, स तीनों शौरसेनी-महाराष्ट्रीमें स तथा मागधीमें श के रूपमें विकसित हुए हैं। सेसो [शेषः]; मागधी, शूपेण [सूपेन]।

[४] पदमध्यवर्ती संस्कृत क, ग, ज, च, त, द, प, य, व का प्राकृतमें

---

१. Bloch : La formation de la langue Marath § 70 साथ ही Prof. Turner : Gujerati Phonology [RAS].1916].

प्रायः लोप हो जाता है।[1] लोअ [लोक], सअल [सकल], अणुराअ [अनु-राग], जुअल [युगल], णअर [नगर], पउर [प्रचुर], भोअण [भोजन], रसाअल [रसातल], हिअअ [हृदय], रूअ [रूप], दिअह [दिवस]।

[५] पदमध्यवर्ती ख, घ, थ, ध, फ, भ प्राकृतमे प्रायः ह के रूपमे विकसित हुए है।[2] मुह [मुख], सही [सखी], मेह [मेघ], लहुअ [लघुक], रुहिर [रुधिर], वहू [वधू], सहर [शफर], अहिणव [अभिनव], णह [नभ, नख]।

[६] कही-कही स्वरमध्यगत व्यञ्जनका द्वित्व भी हो जाता है, उज्ज [ऋजु], एक्क [एक]।

[७] स्वरमध्यगत ट, ठ क्रमशः ड, ढ हो जाते है,[3] पड [पट], कुडिल [कुटिल], कुडुम्ब [कुटुम्ब], वड [वट], पढण [पठन]।

१. कगचजतदपयवां प्रायो लोपः—प्राकृतप्रकाश २।२ [साथ ही प्रायः कगजतदपयवां लोपः—प्राकृतसर्वस्व २।२ इस संबंधमें इतना संकेत कर दिया जाय कि संस्कृत अघोष-सघोष अल्पप्राण क, ग, च, ज, त, द लुप्त होनेके पूर्व एक और विकास स्थितिसे गुजरे होंगे। संभवतः इसमेसे अघोष अल्पप्राण पहले सघोष अल्पप्राण हुए होंगे, बादमें सभी सघोष अल्पप्राण 'ग, ज, द' सोष्म 'ग़, ज़, द़ होकर तब लुप्त हुए होंगे।' इस प्रकार इनका विकास क्रम यों रहा होगा।

लोक > लोग > लोग़ [loɣa] > लोअ,

अनुराग > अणुराग > अणुराअ [anuraɣa] > अणुराअ

प्रचुर > पजुर > पज़ुर [pazura] ∠ पउर

रसातल > रसादल > रसाद़ल [rasaðala] ∠ रसाअल

[दे० डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० ९१]

२. खघथधभां हः—प्रा० प्र० २।२७

३. टो डः। [२।२०] ठो ढः [२।२४]—प्राकृत प्रकाश।

[८] स्वरमध्यगत प यदि लुप्त नहीं होता, तो वह व के रूपमें विकसित होता है।[1] रूव [रूप], दीव [दीप], उवरि [उपरि], उवअरण [उपकरण], अवर [अपर] [हि० और]

[९] संयुक्त व्यंजन ध्वनियोंके परवर्ती विकासकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं:—

[क] क, ग, ड, त, द, प, ब, श, स संयुक्त ध्वनियोंमें प्रथम ध्वनि होनेपर परवर्ती ध्वनिके समान हो जाते हैं, अर्थात् प्रथम ध्वनिमें समीकरण हो जाता है। जुत्तं [युक्तं], मुद्धं [मुग्धं], खग्गो [खड्गः] उक्कण्ठा [उत्कण्ठा], उप्पलं [उत्पलं], मुग्गो [मुद्ग], सुत्तो [सुप्तः], सद्दो [शब्दः], खुज्जो [कुब्जः] छट्ठो [षष्ठः],

[ख] ल, व, र संयुक्त ध्वनिमें होनेपर स [लुप्त होकर] समीकृत हो जाते हैं—वक्कलं, [वल्कलं], सुक्को [शुक्र], बिल्लं [बिल्व] सक्को [शक्रः], अक्को [अर्कः]।

[ग] ष्क-स्ख; ष्ठ, ष्प [ष्फ], स्त [स्थ], स्प [स्फ] क्रमश: प्राकृतमें क्ख, ट्ठ, प्फ, त्थ, प्फ के रूपमें विकसित हुए हैं:—

पोक्खर [पुष्कर], सुक्ख [शुष्क], विट्ठि [वृष्टि], सुट्ठु [सुष्ठु], पुप्फ [पुष्प], निप्फल [निष्फल], हत्थ [हस्त], अवत्था [अवस्था], फलिह [स्फटिक], फुसइ [स्पृशति]।

[घ] क्ष, द्य, ह्म, क्रमशः क्ख, ज्ज, म्ह होते हैं:—अक्खि [अक्षि], वेज्जो [वैद्यः], विज्जा [विद्या], बम्हणो [ब्राह्मणः]।

[१०] शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीमें प्रायः ध्वनिपरिवर्तनकी दृष्टिसे

1. पो वः—प्रा० प्रकाश २।१५।

समानता ही हैं।[1] मागधी प्राकृतमें कुछ निजी विशेषताएँ हैं; उनका संकेत यहाँ किया जाता है।

[क] मागधीमें श, ष, स तीनोंके स्थानोंपर श का विकास हुआ है:— शमल [समर], शुश्क [शुष्क], पुलिशे [पुरुषः]।

[ख] मागधीमें र, ल दोनोंका विकास ल के रूपमें पाया जाता है। लाजा [राजा], शमल [समर], पुलिशे [पुरुषः]।

[ग] शौरसेनीकी तरह यहाँ भी स्वरमध्यगत द पाया जाता है:— भविश्शदि [भविष्यति]।

प्राकृत-पद-रचना

प्राकृतमें संस्कृतकी पदरचना सरलताकी ओर बढ़ी। यह सारल्यप्रवृत्ति शब्दों तथा धातुओं दोनोंके रूपोंमें दिखाई पड़ती है। संस्कृतके तीन वचन प्राकृतमें आकर केवल दो ही रह गये हैं। प्राकृतमें केवल एकवचन तथा बहुवचन हो हैं; द्विवचनका अभाव है।—प्राकृतकी इसी परम्पराका निर्वाह अपभ्रंश तथा आ० भारतीय आर्य भाषाओंमें पाया जाता है।

प्राकृतके प्रातिपदिक अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, आकारान्त, ईकारान्त, ऊकारान्त [स्त्रीलिंग] अधिक हैं। संस्कृतके हलन्त प्रातिपदिक यहाँ आकर प्रायः अदन्त हो गये हैं। यही हाल संस्कृतके ऋकारान्त शब्दोंका हुआ है। भत्तार [सं० भर्तृ] माआ [सं० मातृ] संस्कृत हलन्त

---

१. शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीमें प्रमुख भेद यह है कि शौरसेनीमें स्वरमध्यगत द लुप्त नहीं होता, आगदो [महा० आगओ, सं० आगतः]। इसी तरह शौरसेनीमें स्वरमध्यगत ध [सं० थ] सुरक्षित रहता है, वह ह नहीं होता। जैसे अध [महा० अह सं० अथ], कधम्, [महा० कहम्, सं० कथम्], णाध [महा० णाह, सं० नाथ]।

शब्दोंका विकास अदन्तांमें हो गया है :—राम्रा [राजन्], अप्पा, अत्ता, [आत्मन्], बह्मा [ब्रह्मन्]।

प्राकृत कालमें आकर संस्कृत लिंग सुरक्षित रहे हैं। पुल्लिग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग तीनों प्रकारके रूप वहां पाये जाते हैं। किन्तु नपुंसकलिंगके रूपोंको देखनेपर पता चलता है कि संस्कृतमें ही इनके रूपोंकी बहुत कमी है। प्रथमा-द्वितीया विभक्तिवाले रूपोंको छोड़कर बाक़ी विभक्तियोंमें ये पुल्लिग रूपोंमें ही समाहित रहे हैं। प्राकृतने इन नपुंसक शब्दोंके प्रथमा द्वितीया [कर्ता-कर्म] के एकवचन तथा बहुवचनके रूपोंको सुरक्षित रक्खा है :—वणं, कुसुमं [कर्ता-कर्म एकवचन रूप], वणाइं, वणाइ, वणाणि; कुसुमाइं, कुसुमाइ, कुसुमाणि [कर्ता-कर्म बहुवचन रूप], सिवाय इन दो रूपोंके अन्य सभी रूप पुल्लिग जैसे पाये जाते हैं। यही कारण है कि अपभ्रंशमें आकर ये नपुंसकलिंग रूप भी लुप्त हो गये हैं। इनमेंसे अधिकतर पुल्लिग रूप बन गये हैं।

प्राकृत कालमें आकर विभक्तियोंको भी सरलता पाई जाती है। संस्कृतमें आठ विभक्तियाँ पाई जाती हैं, किन्तु यहाँ चतुर्थीका लोप हो गया है, वह षष्ठीमें सम्मिलित हो गई है। इस प्रकार प्राकृतमें प्रथमा [कर्ता], द्वितीया [कर्म], तृतीया [करण], चतुर्थी-षष्ठी [सम्प्रदान-सम्बन्ध], पञ्चमी [अपादान], सप्तमी [अधिकरण] तथा सम्बोधन ये सात ही विभक्तियाँ पाई जाती हैं। यही नहीं रूपों तथा सुप् विभक्तियोंमें भी बड़ी सरलता हो गई है, तथा सभी पुल्लिग शब्दोंके रूप प्रायः अकारान्त शब्दोंके रूपोंसे प्रभावित हुए हैं। अकारान्त तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दोंके षष्ठी ए० व० रूपोंमें जो भेद था, वह लुप्त हो गया, तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दोंमें वे रूप भी सम्मिलित हो गये—वच्छस्स [वत्सस्य], अग्गिस्स [अग्नेः], अग्गिणो [अग्नेः], वाउस्स [वायोः], वाउणो [वायोः]। इसी तरह अकारान्त पुल्लिग शब्दोंके तृतीया ए० व० के रूप अन्य शब्दोंकी भाँति हो गयेः—वच्छेहिं-वच्छेहि [वत्सैः], अग्गीहिं-अग्गीहि [अग्निभिः], वाऊहिं-वाऊहि [वायुभिः]।

इसी प्रकार हलन्त शब्दोंके अजन्तीभूत प्राकृत शब्दोंके रूप भी अकारान्त पुंल्लिंग शब्दके रूपोंमे प्रभावित हुए। **करेन्तो** [**कुर्वन्**], **पुलोअन्तो** [**प्रलोकयन्**]।

स्त्रीलिंग आ, ई, ऊ अन्तवाले शब्दोंमे रूपोंकी समानता पाई जाती है। प्रथमा [कर्ता] बहुवचनमें सभीमें तीन तरहके रूप पाये जाते हैं, [१] शून्य अविकारी रूप [२] ओ-विभक्ति चिह्नवाला रूप; [३] उ विभक्ति चिह्नवाला रूप; यथा **माला, मालाओ, मालाउ, नई, नईओ, नईउ, वहू, वहूओ, वहूउ, माआ, माआओ, माआउ** [संस्कृत **मालाः, नद्यः, वध्वः, मातरः**]। स्त्रीलिंग शब्दोंके सुप् विभक्ति चिह्न दो-तीन रूपोंको छोड़कर प्रायः वे ही हैं, जो पुंल्लिंग रूपोंके प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपों [जिनका उदाहरण अभी-अभी दिया गया हैं] के अतिरिक्त षष्ठी [सम्बन्ध-सम्प्रदान] ए० व० के रूप भी स्त्रीलिंग शब्दोंमे भिन्न है। संबंध कारक ए० व० मे स्त्रीलिंग रूपोंके चिह्न इ, ए, उ, अ, आ कई देखे जा सकते हैं:—**वहूइ, वहूए, वहूउ, वहूअ, वहूआ** [सं० **वध्वा.**]। स्त्रीलिंग शब्दोंके तृतीया [करण] ए० व०, तथा सप्तमी—[अधिकरण] ए० व० के रूप भी प्रायः ये ही होते है। यही कारण है कि स्त्रीलिंग रूपोंमे करण, सम्प्रदान, सम्बन्ध तथा अधिकरण चारोंके एकवचन एक ही हैं। द्वितीया [कर्म] ए० व० के रूपोंमे प्रातिपदिककी अन्तिम स्वरध्वनिको ह्रस्व बनाकर '**म**' विभक्तिचिह्न प्रयुक्त होता है:—**मालं** [सं० **मालां**], **नइं** [सं० **नदीं**], **वहुं** [सं० **वधूं**]।

संस्कृतके सर्वनाम रूपोंमें **अस्मत् युष्मत्** शब्दोंके रूपोंमे कई तरहके परवर्ती विकास देखे जाते हैं। **अहंका** विकास **हं, अहं, अहम्मं**, तथा **त्वं** का विकास **तं, तुमं, तु** इन वैकल्पिक रूपोंमे देखा जाता है। कर्ता बहुवचन में क्रमशः **अम्हे** [शौर० **वअं**], **तुज्झे**—**तुम्हे** रूप पाये जाते हैं। अन्य कारकोंके ए० व० तथा बहुव० में इन दोनों शब्दोंमे अनेक वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। इनमे कई तो संस्कृतका प्रभाव है, कई अकारान्त पुंल्लिंग

शब्दोंका प्रभाव है, यथा—मइ, मए, ममम्मि, ममंसि [सं० मयि], **मत्तो, मइत्तो, ममादो, ममादु, ममाहि**; [सं० मत्] । इसी तरह युष्मत् शब्दके रूपोंका भी वैकल्पिक विकास देखा जा सकता है ।

संज्ञा तथा सर्वनाम रूपोंकी अपेक्षा प्राकृत क्रियारूपोंमें अत्यधिक परिवर्तन पाया जाता है । जिस प्रकार प्रातिपदिक रूपोंके अन्तमें एकरूपता लानेकी प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है । संस्कृत धातुओंमें अन्तमें व्यञ्जन ध्वनियाँ भी पाई जाती हैं । प्राकृतमें आकर ये सभी धातु स्वरान्त हो गये हैं । *इस प्रकार संस्कृतके दस गणोंका भेद यहाँ आकर लुप्त होने लगा है, और अपभ्रंशमें आकर तो केवल एक ही गण रह गया है । बादमें प्रायः सभी धातु रूप भ्वादिगणी बन गये हैं । शब्दरूपोंके साथ-ही-साथ धातुरूपोंमें भी द्विवचन लुप्त हो गया है । आत्मनेपदी रूपोंका प्रायः अभाव हो गया है । इसी प्रकार लिट् तथा लङ् भी धीरे-धीरे लुप्त हो गये हैं, तथा उनके लिए प्रायः कृदन्त रूपोंका प्रयोग होने लगा है । इस प्रकार मोटे तौरपर प्राकृतमें लट् [वर्तमान काल], लोट् [आज्ञात्मक], लृट् [भविष्यत्] रूपां तथा यदा-कदा लिङ् [विधिरूप] का अस्तित्व पाया जाता है । इसके साथ ही प्राकृतमें कर्मवाच्य भी रूप देखे जा सकते हैं, जिनका विकास संस्कृतमें 'य' वाले रूपोंसे माना जा सकता है । ये कर्मवाच्य रूप भी प्राकृतमें आकर प्रायः परस्मैपदी हो गये हैं :—**विज्जइ-विज्जहि** [सं० **वीयते**]; **गमीअदि** [शौ०] **गच्छीअदि** [शौ०], [सं० **गम्यते**] प्राकृत धातुरूपोंमें संस्कृत णिजन्त रूपोंके **–अय–**का विकास –ए–रूपमें देखा जाता है; **हासेइ** [**हासयति**] **णिव्वावेदि** [**निर्वापयति**] ।

प्राकृत वर्तमान काल तथा भविष्यत् कालके तिङ् चिह्न एकसे ही हैं । ठीक यही बात संस्कृतमें पाई जाती है । वैसे भविष्यत्के रूप उसीके स्य विकरणवाले रूप हैं । यह स्य प्राकृतमें आकर स्स हो गया है । वर्तमानके **पढति-पढइ, पढसि, पढामि, पढन्ति, पढम, पढामो** तथा

भविष्यत्के पढिस्सदि-पढिस्सइ, पढिस्सन्ति, पढिस्सामि, पढिस्सम्ति, पढिस्सध, पढिस्सामो रूप बनते हैं। लोट्में पढदु, पढ, [पढामु], पढन्तु, पढध, पढम्ह रूप पाये जाते हैं।

संस्कृतके शतृ प्रत्ययान्त रूप प्राकृतमें आकर '—न्तो–' वाले रूप बन गये हैं:—पुच्छन्तो, पढन्ता। इसी तरह संस्कृतके शानच् वाले रूप प्राकृतमें पुच्छमाणो, पुच्छिस्समाणो [स्यमान] हो गये है। संस्कृतके तुमुन्का विकास उं [दु] के रूपमें पाया जाता है। कहिउं-कहिदु [कथयितु]। संस्कृत त्वाका विकास प्राकृतमें नहीं पाया जाता। यहाँ अनुपसर्ग तथा सोपसर्ग दोनोंमें शौरसेनीमें अ तथा महाराष्ट्रीमें ऊण प्रत्यय पाया जाता है। शौरसेनी अ संस्कृत 'य' [ल्यप्] का ही विकास है। संस्कृत पृष्ट्वा, गृहीत्वा के प्राकृत रूप पुच्छिअ-पुच्छिऊण [महाराष्ट्री]; घेत्तूण होते हैं।

भूतकालके लिए प्राकृतमें कृदन्त रूपोंसे भी काम लिया जाता है। प्राकृतप्रकाशके सप्तम परिच्छेदमें प्राकृत धातुके भूतकालिक आदेशोंका संकेत मिलता है :—

१. ईअ भूते ॥ [भूतकालमें धातुमें तिङ् प्रत्ययको ईअ आदेश होता है]।

२. एकाचो हीअ ॥ [एक स्वर धातुमें भूतकालके तिङ् प्रत्ययको हीअ आदेश होता है]।

३. अस्तेरासिः ॥[1] [अस् धातुका भूतकालिक रूप आसि होता है।] स्पष्ट रूपसे देखनेपर पता चलता है कि ये वस्तुतः क्त प्रत्ययान्त रूपोंके ही विकास हैं। हुवीअ [अभवत्], हसीअ [अहसत्], होहीअ [अभूत्] को वस्तुतः भूतः, हसितः, भूतः का ही विकास माना जा सकता है। इसी तरह आसि को भी असतः [*असितः] का विकसित रूप माना जा सकता है पर इसे आसीत् से भी विकसित समझा जा सकता है—आसीत्-आसी [आसि]।

---

१. प्राकृतप्रकाश ७।२३; ७।२४; ७।२५।

अपभ्रंश कालकी प्रमुख विशेषताएँ—

अपभ्रंश कालमें स्वरध्वनियाँ प्रायः अविकृत रही हैं। यदि उनमें विकार हुआ है, तो वह प्रातिपदिकोंके अन्तमें स्थित स्वरोंमें पाया जाता है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। यही कारण है, हेमचन्द्रने यह कहा है कि स्वरोंके स्थानपर प्राकृतमें प्रायः स्वर ही पाये जाते हैं।[1] स्वरध्वनियोंमें अपभ्रंशमें भी प्राकृतकी भाँति ही संस्कृत **ऋ, ऐ, औ** ध्वनियोंका सर्वथा अभाव है। तथा वे क्रमशः **अ-इ-उ, ए, ओ** के रूपमें विकसित हो गये हैं। वैसे वैयाकरणोंने अपभ्रंशमें **ऋ** ध्वनिका अस्तित्व माना है। प्राकृतवाले ह्रस्व **ऍ, ऑ** का विकास अपभ्रंशमें भी पाया जाता है। व्यंजन ध्वनियोंमें अपभ्रंशमें संस्कृतकी **ङ, ञ, श, ष** ध्वनिके अतिरिक्त अन्य सभी ध्वनियाँ पाई जाती हैं। इस भाषाके ध्वनिगत विकासकी खास विशेषता स्वरमध्यग सं० **म** का **वँ** वाला विकास है:—**कवँल** [**कमल**], **गवँण** [**गमन**]। **वँ** का विकास हम अपभ्रंशसे परवर्ती रूपोंमें प्राचीन हिन्दीमें भी देख सकते हैं, राजस्थानीमें यह **वँ** ध्वनि अभी भी पाई जाती है।

अपभ्रंश तक आकर प्रातिपदिकोंका लिंगविधान और सरल हो गया। यहाँ पुंल्लिग तथा स्त्रीलिंग रूपोंका बाहुल्य है, नपुंसकलिंग रूपोंका प्रायः लोप हो गया। इसी तरह स्त्रीलिंग रूपोंके पदान्त **आ** के ह्रस्व **अ** होनेसे वे रूपोंकी दृष्टिसे वे पुंल्लिग अकारांत शब्दोंका अनुकरण करने लगे। अपभ्रंशमें आकर सभी प्रातिपदिक स्वरान्त हो गये। इस प्रवृत्तिका आधिक्य प्राकृतकालमें ही हो चला था, जिसका संकेत हम ऊपर दे चुके हैं, अपभ्रंशमें आकर प्रातिपदिकोंके पदान्त **आ, ए, ओ** क्रमशः **अ, इ, उ** हो गये। **माअ** [प्राकृत **माआ**, संस्कृत **माता**], **कण्हु** [प्राकृत **कण्हो**, संस्कृत **कृष्णः**]। अपभ्रंशमें कर्ता कर्म ए० व० में **उ** प्रयुक्त होता है जो अपभ्रंश-की खास विशेषता बन बैठा। इसीलिए अपभ्रंश '**उकार-बहुला भाषा**' कहलाने

१. **स्वराणां स्वराः प्रायोपभ्रंशे। ८।४।३२९ [हैम व्याकरण]।**

लगी। कर्ता-कर्म कारक ए० व० में इस प्रकारके रूपोंका संकेत हेमचन्द्रने भी किया है:—दहमुहु, संकरु, चउमुहु, छंमुहु [दशमुखः, शंकरः, चतुर्मुखः, षण्मुखः][1]।

अपभ्रंश तक आते-आते संस्कृतकी सुप् विभक्तियाँ परसर्गोंका रूप लेने लगीं और अपभ्रंशमें कई विभक्ति रूप समाप्त हो गये। संबंध कारकके लिए केरक, केर, केरा, करण कारकके लिए सो, सओ, सहुं, सम्प्रदानके लिए केहि, तथा अधिकरणके लिए मांझ, उप्परि जैसे परसर्गोंका प्रयोग पाया जाता है। अन्य विभक्तियोंमें पुंल्लिग तथा स्त्रीलिंगके रूपोंमें भी समानता-सी हो चली। कर्ता-कर्म एकवचन, कर्ता-कर्म बहुवचनमें दोनों जगह कहीं-कहीं उ विभक्ति चिह्न प्रयुक्त होने लगा, तथा कभी-कभी कर्ता कारक ए० व० में केवल प्रातिपदिक रूप [शून्य विभक्तिवाले रूप] का प्रयोग होने लगा, जो हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओंके अविकारी [direct] रूपोंके रूपमें विकसित हुआ। अन्य कारकोंमें एण, एँ, [करण], हुं, हे [अपादान] हे, हो, सु, स्स [संबंध], हि [अधिकरण] सुप् चिह्न एकवचन रूपोंमें तथा हुं [संप्रदान, अपादान, संबंध, अधिकरण], हो [संबोधन] बहुवचन रूपोंमें पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश तक आते-आते बहुवचनके रूप बहुत सरल हो गये।

संस्कृतके तिङन्त रूप जिनका थोड़ा-बहुत शेष प्राकृतकालमें बच गया था, अपभ्रंश कालमें और लुप्त हो गया। तिङन्तोंके भाव बोधनके लिए अपभ्रंशके कृदन्त-प्रत्यय प्रयुक्त होने लगे। वर्तमान तथा भविष्यत्ने तिङन्त तद्भव रूपोंको थोड़ा-बहुत सुरक्षित रक्खा बाक़ीमें कृदन्तोंसे काम लिया जाने लगा। संस्कृत धातुओंमेंसे कईके लिए नये आदेश हो गये, यथा, बोल्ल [√वद्], मुक्क-मुम [√मुच्], चम [√शक्]।

अपभ्रंशमें परस्मैपद ही पाया जाता है। हम प्राकृतमें ही आत्मने-पदका अभाव देख चुके हैं। उत्तम पुरुष एकवचन तथा बहुवचनमें

१. हैमव्याकरण ८।४।३३१।

अपभ्रंशमें 'उं' तथा 'हुं' तिङ् विभक्ति पाई जाती हैं[1] :—'हउं भणउं' [अहं भणामि], अम्हे भणहुं [वयं भणामः]। अन्यरूपोंमें प्रायः वे ही तिङ् चिह्न पाये जाते हैं जो प्राकृतमें हैं—सि-हि [मध्यम पुरुष], इ, अंति, अइं [अन्य पुरुष]। भविष्यत् कालके रूप वर्तमान कालके तिङ् चिह्नोंवाले ही होते हैं :—जाहि [यास्यसि], फलहिं [फलिष्यन्ति], कुणहिं [करिष्यन्ति]; होसि [भविष्यसि]। भूतकालके रूपोंमें केवल आसी [आसीत्] को छोड़कर प्रायः सभी भूतकालिक रूप कृदन्तोंसे विकसित हैं[2]।

जैसा कि हम देख चुके हैं प्राकृत कालमें संस्कृतके विभक्तिरूप किसी सीमा तक सुरक्षित रहे। यही कारण है कि प्राकृतकालमें वाक्यरचनाके सम्बन्धमें संस्कृतकी परिपाटीका प्रयोग पाया जाता है। अपभ्रंश कालमें आकर शब्दोंके विभक्तिज रूप बहुत कम काममें आने लगे तथा संबन्ध-बोधनके लिए परसर्गोंका प्रयोग किया जाने लगा। फलतः वाक्यमें कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके लिए एक निश्चित स्थान रह गया। हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओंकी निश्चित वाक्यरचनाके विकासके चिह्न हम अपभ्रंश कालमें ही देख सकते हैं।

आ० भारतीय आर्य भाषाओंकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ

संस्कृतकी स्वर तथा व्यंजन ध्वनियोंका परवर्ती विकास हम देख चुके हैं। प्रायः वे ही ध्वनियाँ परवर्ती भाषाओंमें विकसित पाई जाती हैं। फिर भी कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं। स्वरोंके उच्चारणमें बंगालीमें अ का उच्चारण लुंठित निम्न-मध्य-पश्च प्रकृतिका पाया जाता है। अन्य भाषाओंमें इनका उच्चारण प्रायः उदासीन स्वर [ə] सा पाया जाता है। इसके भी अग्र तथा पश्च दो रूप पाये जाते हैं। हिन्दीके द्व्यक्षर या अधिक

---

१. मार्कण्डेय : प्राकृत सर्वस्व १७।५७ [पृष्ठ ११८]

२. डॉ० हीरालाल जैन : सावयधम्म दोहा [भूमिका] पृष्ठ १६।

अक्षरवाले [monosylqlblic] शब्दोंमें इस स्वरका अग्ररूप प्राय: एक ही [अधिकतर पहले अक्षरमें ही] अक्षरमें पाया जाता है, अन्य अक्षरमें उसका पश्च रूप ही पाया जाता है। उदाहरणके लिए **कमर, कसर, करवट, करम** में प्रथम उदासीन स्वरका उच्चारण अग्र प्रकृतिका [ə] है, जब कि बादके अक्षरवाले स्वरका उच्चारण पश्च प्रकृति [ʌ] का है। त्र्यक्षर शब्द **करवटका** उच्चारण द्वयक्षर रूपमे **कर्वट्** भी होता है। प्रथम उच्चारण करनेपर र तथा व दोनोंका परवर्ती स्वर पश्च प्रकृतिका [ʌ] ही है। यहीं यह भी ध्यान देनेकी बात है कि जहाँ संस्कृतमें अन्तमें 'अ' ध्वनि पाई जाती है, वहाँ हिन्दीमें उसका उच्चारण नहीं होता। **राम, ग्राम, काम** का हिन्दीमें **राम्, ग्राम्, काम्** रूप देखा जाता है। वैसे जिन भाषाओंमें पदान्तमें **ल, ड, ण** ध्वनि पाई जाती है, वहाँ उसके बाद 'अ' श्रुति [e-glide] का उच्चारण पाया जाता है। राजस्थानीमें इस श्रुतिका प्रयोग **काल, हाड, कारण** जैसे शब्दोके उच्चारणमे होता है। पश्चिमी हिन्दी तथा राजस्थानीमे ध्वन्यात्मक समानताएँ अधिकतर पाई जाती हैं। व्यञ्जन ध्वनियोंमे पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी तथा मागधी वर्ग [उड़ियाको छोड़कर] में केवल दो ही अनुनासिक ध्वनियाँ [न, म] पाई जाती हैं; जब कि राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, मराठी, पहाड़ी तथा उड़ियामें **ण** ध्वनि भी पाई जाती है। राजस्थानी, गुजराती, मराठीकी भाँति उड़ियामें **ल** [उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित **ल**] का स्वरमध्यगत रूप भी पाया जाता है[1]। पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजरातीमें, तथा पूर्वी हिन्दी [मैथिलीमें भी] '**ड**' का स्वर मध्यगत '**ड़**' रूप भी पाया जाता है। चवर्ग ध्वनियोंका उच्चारण सभी आ० भा० आ० भाषाओंमें सोष्म स्पर्श या घर्ष स्पर्शके रूपमें होता है। इनका उच्चारण कुछ त्श्, द्ज्, त्श्ह्, द्ज्ह् जैसा होता है। मराठीमें इनका उच्चारण इस तरहका वर्त्स्य घर्ष [alveolar affricafe] न होकर दन्त्य घर्ष [dental affricate] त्स्, द्ज़्, जैसा होता है। मराठीका

१. क्या उड़ियापर यह मराठीका प्रभाव तो नहीं।

यह प्रभाव राजस्थानकी डूंगरपुर, बाँसवाडा, प्रतापगढ़की मालवीमें तथा मेवाड़ीकी कुछ बोलियोंमें देखा जाता है। भीलीमें भी च, ज का उच्चारण दन्त्य घर्ष ही होता है।

प्राकृत तथा अपभ्रंशके द्वित्ववाले रूपोंमें आ० भा० आ० भाषाओंमें पूर्ववर्ती स्वरको दीर्घ बनाकर अक्षर-भारकी रक्षा की जाती है। **सं० कर्म, अद्य, अष्ट** के हिंदी रूप **काम** [∠ **कम्म**], **आज** [∠ **अज्ज**], **आठ** [∠ **अट्ठ**] पाये जाते हैं। पंजाबीमें इनके रूप **कम्म, अज्ज, अट्ठ** ही पाये जाते हैं। इसी तरह **सं० बुभुक्षा** का हिंदी रूप **भूख** [∠ **बुभुक्खा—भुक्खा—भुक्ख**] होता है, जब कि पंजाबीमे यह **पु'क्ख** [बुक्ख] मिलता है। हम बता चुके हैं कि सिंधी, लहँदा तथा पंजाबीपर पैशाचीका कुछ-कुछ प्रभाव पाया जाता है। काश्मीरीमे संस्कृतकी सघोष महाप्राण ध्वनियोंका सघोष अल्प-प्राणरूप देखा जाता है। पंजाबीके लिए अब तक विद्वानोंका यह मत है कि सं० हि० **घ, झ, ढ, ध, भ** ध्वनियाँ वहाँ **क, च, ट, त, प** हो जाती हैं, यथा **घोड़ा, झूठ, भाइ, भरम** वहाँ **को'डा, चू'ट, पा'ई, प'रम** हो जाते हैं। पर कुछ नवीन पाश्चात्य विद्वानों[1] का यह मत है कि असलमें संस्कृत या हिन्दी सघोष महाप्राण ध्वनियाँ पंजाबीमे शुद्ध अघोष अल्पप्राण नहीं होती। वस्तुतः वे सघोष अल्पप्राण ही होती है, तथा महाप्राण रूपोंके कारण उनका अघोषीभूत [devoiced] रूप देखा जा सकता है। यही कारण है, वे ऊपरकी **क, च, प** ध्वनियोंको **ग, ज, ब** का ही अघोषीभूत रूप मानते हैं, तथा **ग़, ज़, ब़** [g̥, j̥, b̥] लिखना ज्यादा ठीक समझते हैं।

संस्कृतमे जहाँ संयुक्त ध्वनियोंमें प्रथम ध्वनि नासिक्य व्यञ्जन तथा द्वितीय केवल व्यञ्जन होती है, वहाँ सिंधी-पंजाबीको छोड़कर सभी आ० भा० आ० भाषाओंमें नासिक्य व्यंजन ध्वनि लुप्त हो जाती है, तथा पूर्ववर्ती

१. लन्दन विश्वविद्यालयके स्कूल ऑव् ओरियन्टल स्टडीजमें भाषा-विज्ञानके प्राध्यापक डॉ० डब्ल्यू० एस० एलनका यही मत है।

स्वरध्वनि दीर्घ सानुनासिक बना दी जाती है:—**दन्त** [हि० दाँत], **कण्टक** [हि० काँटा], √**कम्प्** [हि० काँपना]। सिंधी-पंजाबीमे इनके **दन्द**, **कंडो**, **कम्ब** रूप मिलते है।

आ० भा० आ० भाषाओंमे ध्वनियोसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पदरचनामे हुआ। हम देख चुके है कि प्राकृतसे भी अधिक पदरचनात्मक सरलता अपभ्रंशमे पाई जाती है। अपभ्रंशकी इसी विशेषताको आ० भा० आ० भाषाओने ग्रहण किया है। आ० भा० आ० भाषाओमे नपुंसक लिंग सर्वथा लुप्त हो गया। यदि कहीं इसके कुछ चिह्न मिलते है, तो गुजराती व मराठीमे। गुजरातीमे इसका चिह्न उँ है, यथा **घणुँ**, **खादुँ** मे नपुंसक रूप ही है। नपुंसकलिंगके सर्वथा लुप्त होनेसे कई नपुंसक शब्द जो एक भाषामे पुल्लिंग बने है, इन भाषामे स्त्रीलिंग बन गये। पुस्तक शब्द बँगलामे पुल्लिंग है, तो पश्चिमी हिंदीमे स्त्रीलिंग। किंतु पुल्लिंग-स्त्रीलिंगमे भी संस्कृतवाला लिंग-विचार नही रहा है। हिंदीमे तो अकारान्त पुल्लिंग है, **आ-ई, उ** अन्तवाले प्राय स्त्रीलिंग माने जाते है, वैसे इस नियमके कई अपवाद भी देखे जा सकते है। **अग्नि**, **आत्मा**, **मृत्यु** जैसे पुल्लिंग शब्द भी हिंदीके रूपोमे स्त्रीलिंग **आग**, **मीचु**, **आत्मा** बन गये है।

अपभ्रंशमें ही संबंधबोधनके लिए परसर्गोंका प्रयोग होने लगा था, फिर भी वहाँ कुछ तिङ् चिह्न बचे रह गये थे। आ० भा० आ० भाषाओंमें उनका भी लोप हो गया। इस तरह संस्कृतकी आठ विभक्तियाँ यहाँ आकर केवल दो ही रूपोमे रह गई :—

[१] प्रातिपदिक रूप [direct form] या कर्ता कारकके रूप।

[२] तिर्यक् रूप [oblique form] या अप्रधान कारक रूप।

आ० भा० आ० भाषाओंमे परसर्ग इन्ही तिर्यक रूपोंके साथ प्रयुक्त होते हैं। कर्ता कारक एकवचन तथा बहुवचनके रूप पूर्वी भाषाओंमें एक ही हैं, और इस प्रकार उनके साथ बहुवचन वाचक जन, सम्रल जैसे शब्द

जोड़कर या फिर षष्ठी बहुवचनसे बने परसर्ग '**अन**' '**अनि**' [सं० ∠ **आनाम्**] जोड़कर बहुवचनका बोध कराया जाता है; **लोगनि, घोडवन** [भोजपुरी]। पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, सिंधी, मराठीने संस्कृत बहुवचन रूपोंका सर्वथा लोप न कर निजी विकास किया है :—**रात्** [रात्रिः], **राती** [रात्रयः]; **बात्** [वार्ता], **बातें** [∠ *वार्तानि] [रा० **बातां** ∠ *वार्तानि]। बाक़ी रूपोंमें पश्चिमी हिंदी [खड़ी बोली तथा उसकी विभाषाओं] में **ने, को, से, का** [**के, की**], **में** इत्यादि परसर्गोंका प्रयोग पाया जाता है। पश्चिमी राजस्थानीमे **का** के स्थानपर **रो** [**रा, री**], पञ्जाबीमें **दा** [**दे, दी**], गुजरातीमें **नो**, [**ना, नी**] तथा मराठीमें **चा** [**चे, ची**] पाया जाता है। पूर्वी भाषाओंमें संबंध कारकके लिए **क, केर, एर** का प्रयोग होता है।

आ० भा० आ० भाषाओंके क्रिया रूप सीधे संस्कृत तिङन्तोंसे नहीं आये है। इनके विकासमें संस्कृत कृदन्तोंका बहुत हाथ रहा है। हिन्दीके वर्तमानकालिक क्रिया रूप कृदन्त "**अन्त**" [**अत्**] से विकसित हुए हैं। कृदन्त रूपोंके साथ सहायक क्रिया "**है**" जोड़कर वर्तमानकालका बोध कराया जाता है। हिन्दीका **वह खाता है** संस्कृतके **स खादन्** [**खादन्त***] **भवति** से विकसित कहा जा सकता है। इसी तरह हिन्दीके भूतकालके रूप संस्कृतके **त** [**इत**] वाले निष्ठाप्रत्यय रूपोंसे विकसित हुए हैं। यही कारण है कि हिंदीमे जहाँ संस्कृतके कर्मवाच्य रूपोंका विकास हुआ है, वहाँ कर्ता के साथ '**ने**' का प्रयोग पाया जाता है, जब कि भाववाच्यसे विकसित रूपोंमें इस परसर्गका प्रयोग नहीं होता—**उसने रोटी खाई** [**तेन रोटिका खादिता**], **वह सोया** [**स शयितः**]। हिंदीके भविष्यत् रूपोंमे '**गा**' [**गे, गी**] वस्तुतः संस्कृत √**गम्** के क्तप्रत्ययात रूप **गतः** का विकास है। पश्चिमी आ० भा० आ० मे से कुछका संस्कृतके भविष्यत् रूपोंसे भी स्वतन्त्र विकास हुआ है। राजस्थानीमे तीन तरहके भविष्यत् रूप पाये जाते है। **पढैंगो** [phədə: go], **पढसी, पढैंलो** [phədə: lo]; इनमें द्वितीय रूपका विकास **पठिष्यति—पढिस्सइ→पढसी** [गु० **पढशी**] यों माना जा सकता है। तीसरा भविष्यत्

रूप ग्रियर्सनके मतानुसार राजस्थानीको विदेशी जातियों [गुर्जरों] की देन है। पूरबकी आ० आ० भाषाओंमें से कईने वर्तमान रूप सीधे संस्कृत-प्राकृतसे विकसित किये हैं। वैसे भूतकालके रूप वहाँ भी कृदन्तरूपोंसे ही विकसित हुए हैं। किन्तु वहाँ ये 'ल' प्रत्ययसे युक्त पाये जाते हैं। बिहारी तथा भोजपुरीमें 'ल' वाले भूतकालिक कृदंतोंका भूतकालिक प्रयोग देखा जाता है। वैसे भोजपुरीमें—ल् रहित रूप भी पाये जाते हैं। [दे० डॉ० तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य पृ० १६७ §३१६]। इस प्रवृत्तिका प्रभाव अवधीमें भी देखा जाता है। डॉ० सक्सेनाने नूरमुहम्मदमें कतिपय —ल वाले भूतकालिक रूपोंका संकेत किया है :—'तापल रहइ'; 'गइल सखी तहँ बहिल बयारा' [दे० डॉ० सक्सेना : इवोल्यूशन आव् अवधी पृ० २४६]।

भविष्यत्के बोधनके लिए पूरबी भाषाओंमे संस्कृतके कर्मवाच्य भविष्यत्कालिक कृदन्त '—तव्य' से विकसित '—ब' प्रत्ययवाले रूप देखे जाते हैं। ये रूप बँगला, उड़िया, असमिया और बिहारी तथा भोजपुरीमें क्रमशः —इब तथा —अबके रूपमें पाये जाते हैं। [दे० डॉ० तिवारी §५३७ पृ० २७२] ये —ब वाले रूप पूरबी हिंदीकी प्रायः सभी बोलियोंमे मिलते हैं। 'अवधीमे भी इनका अस्तित्व पाया जाता है। 'घर कइसइ पइठब मइँ छूँछे' [जायसी], 'हरि आनब मइँ करि निज माया' [तुलसी], 'करब मइँ सेवा' [नूरमुहम्मद]। [दे० डॉ० सक्सेना §३०४ पृ० २६१-६२]।

संस्कृतके इस भावी विकासपर विहंगमदृष्टि डालनेसे यह ज्ञात होता है कि चाहे आजकी भारतीय आर्य भाषाओंकी प्रवृत्ति सरलताकी ओर बढ़नेके कारण, इनका रूप व्यवहित हो गया है, फिर भी संस्कृतकी परम्परा अविच्छिन्न रूपमें आज तक पाई जाती है।



परिशिष्ट (क)

१. वैदिक संस्कृत (ई० पू० १५००)

अग्निमीळे पुरोहितम् ,
यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥

[मैं पुरोहित [सामने स्थित], यज्ञ के ऋत्विक् रूप, देव [प्रकाशशील] देदीप्यमान तेज वाले, होता [देवताओं को बुलाने वाले] अग्नि देवता की स्तुति करता हूँ ।]

२. अवेस्ता (ई० पू० ८००)

आ अइर्यमा इश्यो रफ़ध्राइ जन्तू
नर्‌भ्यश्चा नइरिभ्यश्च ज़रथुश्त्राहे ।
वङ्हउश रफ़ध्राइ मनङ्हो । [यस्न ५४]

[आ अर्यमा इष्यः रध्नुं गच्छतु [*गन्तु]
नृभ्यश्च नारीभ्यश्च जरथुस्त्रस्य ।
वस्वंणः रध्नुं मनसः] ।

[अभीष्ट अर्यमा पुरुषों तथा स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिए पधारें, वे जरथुस्त्र की तथा उन्नत मन की प्रसन्नता के लिए आयें ।]

३. पाणिनीय संस्कृत (ई० पू० ६०० के बाद)

अस्ति त्रिदिवतरंगिणी वाराणसी । तत्र प्रतापमुकुटो नाम राजा बभूव । तस्य महादेवी सोमप्रभा नाम । तस्यामनेन राज्ञा वज्रमुकुटो

नाम तनयः समुत्पादितः। तस्य वज्रमुकुटस्य प्राणसमः सखा सागरेश्वरस्य सांधिविग्रहिकस्य तनयो बुद्धिशरीरो बभूव। तेन मित्रवरेण सह नानाशास्त्राभ्यासं कुर्वाणो विविधसुखमनुभवन् कालं नयमानस्तस्थौ।

[स्वर्गंगा के समान [पवित्र] वाराणसी नगरी है। वहाँ प्रतापमुकुट नामक राजा था। उस की महारानी सोमप्रभा थी। उस में इस राजा ने वज्रमुकुट नाम वाले पुत्र को उत्पन्न किया। उस वज्रमुकुट का प्राणों के समान प्यारा मित्र, सांधिविग्रहिक सागरेश्वर का पुत्र बुद्धिशरीर था। उस मित्र के साथ नाना शास्त्रों का अभ्यास करते हुए वह अनेक सुख का अनुभव करता हुआ समय बिताता था।

४. गाथा संस्कृत (ईसा की द्वितीय-तृतीय शती) या बौद्ध संकर संस्कृत (बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत)

[1]ज्वलितं त्रिभवं जरव्याधिदुखैः मरणाग्निप्रदीप्तमनाथमिदम्।
गिरिनद्यसमं लघुशीघ्रजवं व्रजतायु जगे यथ विद्यु नभे॥
सभया सुपिना सद वैरकरा बहुशोकउपद्रव कामगुणाः।
असिधारसमा विषपत्रिनिभा क्षणिका अलिका विदितार्यजनैः॥

[ये तीनों लोक जरा, व्याधि तथा दुःख से ज्वलित हैं, मृत्यु रूपी अग्नि से जल रहे है, तथा अनाथ हैं। संसार मे आयु बड़ी-छोटी तथा शीघ्रगामी हैं, ठीक वैसे ही जैसे पर्वत की नदी और आकाश में बिजली। आर्य लोगों ने कामगुणों को भयंकर, स्वप्नतुल्य, सदा बैर कराने वाले, अनेक शोक व उपद्रव वाले, असिधार के समान, जहरीले तीर के समान, तथा क्षणिक और झूठे समझ लिया है।

---

१. इस में जरव्याधिदुखैः, आयु, जगे, यथ, विद्यु, नभे, सुपिना, सभया, सद, शोक-उपद्रव, अलिका, विदितार्यजनैः जैसे रूप शुद्ध संस्कृत नहीं हैं। इन के शुद्ध संस्कृत रूप जराव्याधिदुःखैः, आयुः [आयुर्], जगति, यथा, विद्युत्, नभसि, स्वप्नाः, सभयाः, सदा शोकोपद्रवः, अलीकाः, विदिता [:], आर्यजनैः होंगे।

५. अशोक-काल की प्राकृत (ई० पू० तीसरी शती)

देवानंप्रियो पियदसि राजा एवं आह, कलाणं दुकरं, ये अदिकरे कलाणेस सो दुकरं करोति, त मया बहु कलाणं कतं ।

[गिरनार लेख क ५]

[देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा एवमाह, कल्याणं दुष्करं, य आदि-करः कल्याणस्य स दुष्करं करोति, तत् मया बहुकल्याणं कृतम् ।]

[देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह कहा है । कल्याण दुष्कर [है] । जो सर्वप्रथम कल्याण का करने वाला होता है, वह दुष्कर [काम को] करता है । इस लिए मैं ने बहुत कल्याण किया है ।]

६. पालि प्राकृत (ईसा की दूसरी शती)

अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो कपियोनियं निब्बत्तित्वा बुद्धिं अन्वाय अस्सपोतप्पमाणो थामसम्पन्नो एकचरो हुत्वा नदीतीरे विहरति ।

[अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्त्वः कपियोन्यां निर्वर्त्य बुद्धिमन्वेत्य अश्वपोतप्रमाणः स्थामसम्पन्नः एकचरो भूत्वा नदी-तीरे विहरति] ।

[प्राचीनकाल में, जब वाराणसी में ब्रह्मदत्त राज्य करते थे, बोधि-सत्त्व बन्दर की योनि में जन्म ले कर बुद्धि से युक्त हो कर, घोड़े के बच्चे के समान शरीर वाले तथा बल वाले हो कर अकेले नदी तीर पर घूमते थे ।]

७. महाराष्ट्री प्राकृत (ईसा की प्रथम शती से षष्ठ शती)

[१] जइ होसि ण तस्स पिआ अणुदिअहं णीसहेहिं अंगेहिं ।
णवसूअपीअपेऊसमत्तपाडिव्व[1] किं सुवसि ॥ [गाहासत्तसई]

१. पाडी शब्द देशी है । यह शब्द आज भी गुजराती व राजस्थानी में पाया जाता है, जिस का अर्थ है 'भैंस की बच्ची' । इसी का पुल्लिंग रूप पाडो भी प्रचलित है ।

[यदि भवसि न तस्य प्रिया अनुदिवसं निःसहैरङ्गैः ।
नवसूतपीतपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥

[हे सखी, अगर तू उस की प्यारी नहीं है, तो अलसाये अंगों से नये दूध को पी कर मस्त नवप्रसूत पाडी की तरह दिन भर क्यों सोती रहती है ।]

[२] णमह अ जस्स फुडरवं कंठच्छायाघडंतणअणग्गिसिहम् ।
फुरइ फुरिअट्टहासं उद्धपडित्ततिमिरं विअ दिसाअक्कम् ॥
[सेतुबन्ध]

[नमत च यस्य स्फुटरवं कण्ठच्छायाघटमाननयनाग्निशिखम् ।
स्फुरति स्फुरिताट्टहासं ऊर्ध्वप्रदीप्ततिमिरमिव दिक्चक्रम् ॥]

[जिन महादेव के कण्ठ की नीली छाया से सम्बद्ध अग्निशिखा वाला, तथा उन के शब्दायमान अट्टहास वाला दिशाओं का चक्रवाल, इस तरह सुशोभित होता है, मानो अँधेरे के ऊपर प्रकाश प्रदीप्त हो रहा हो, उन महादेव को प्रणाम करो ।]

८. शौरसेनी प्राकृत (१०० ई० से ६०० ई० तक)

अणज्ज, अत्तणो हिअआणुमाणेण सव्वं एदं पेक्खसि । को णाम अण्णो धम्म-कंचुअ-ववदेसिणो तण-च्छण्ण-कूवोवमस्स तुह अणुकारी भविस्सदि । [शाकुन्तल पंचम अंक]

(अनार्य, आत्मनो हृदयानुमानेन सर्वमेतत् पश्यसि । को नाम अन्यः धर्मकञ्चुकव्यपदेशिनः तृणच्छायाकूपोपमस्य तव अनुकारी भविष्यति ।)

[अनार्य, तू सभी वस्तु को अपने हृदय के अनुमान से देखता है। धर्म का कंचुक धारण करने वाले [धर्म का ढोंग करने वाले], तिनकों से ढंके हुए कुएँ के समान तेरे जैसे मनुष्य का सहकारी [समानधर्मा] कौन होगा ।]

९. मागधी (१०० ई० से ६०० तक)

(१) कधं अपावे चालुदत्ते वावादीअदि । हगे णिअलेण शामिणा

बंधिदे। भोदु आक्कंदामि। शुणध, अय्या शुणध। अस्ति दाणिं मए पावेण पवहणं-पडिवत्तेण पुप्फ-करंडअ-यिण्णुय्याणं वशंतशेणा णीदा।

[कथमपापः चारुदत्तो व्यापाद्यते। अये निगडेन स्वामिना बद्धः। भवतु आक्रन्दामि। शृणुत, आर्याः शृणुत। अस्ति इदानीं मया पापेन प्रवहणप्रतिवृत्तेन पुष्पकरंडकजीर्णोद्यानं वसन्तसेना नीता।]

[क्या चारुदत्त को बिना अपराध ही दण्ड दिया [मारा] जा रहा है। अरे, राजा ने [स्वामी ने] इसे बेड़ियों से बाँध दिया है। अच्छा, चिल्लाता हूँ। सुनो, आर्य, सुनो। अभी-अभी गाड़ी से लौटे हुए मैं ने वसन्तसेना पुष्पकरंडक जीर्णोद्यान की ओर पहुँचायी है।]

[२] एशे शे शायंभलीशल-शिविल-निवेशे। एदश्शि अलक्खिय्य-माणपय्यन्ते कधं [ला] उलं याणिदव्वम्। वयश्श एशे के वि चले व्व दीशदि ता इमादो एदश्श शिविलश्श शलूवं लाउलं च याणिश्शाम्ह।

[एष स शाकंभरीश्वरशिविरनिवेशः। एतस्मिन् अलक्ष्यमाणपर्यन्ते कथं राजकुलं ज्ञातव्यम्। वयस्य एष कोऽपि चर इव दृश्यते। तत् अस्मात् अस्य शिविरस्य स्वरूपं राजकुलं च ज्ञास्यामः।][1]

[यही तो शाकम्भरीश्वर की सेना का पड़ाव है। यहाँ आसपास के बारे में कुछ भी पता नहीं लगता, अब राजकुल का ज्ञान कैसे होगा? मित्र, यह कोई चर [जासूस] सा दिखलाई देता है। तो इस से इस शिविर के स्वरूप के बारे में तथा राजकुल के विषय में पता लगा लें।]

१०. अपभ्रंश [पूर्वी] (६०० ई० से ११०० ई० तक)

आअमवेद पुराणे पंडिआ माण वहंति।
पक्क-सिरिफले अलिअ जिमि बाहेरीअ भमंति॥ [कण्हपा]

---

१. यह द्वितीय उदाहरण उस काल का है, जब प्राकृत का साहित्यिक रूप ही प्रचलित था। अतः प्राकृत काल का शुद्ध उदाहरण पहला वाला ही कहा जा सकता है। उस की व्याकरणसम्मत विशेषताओं की दृष्टि से दूसरा उदाहरण भी लिया जा सकता है।

[आगमवेदपुराणेषु पण्डिताः मानं वहन्ति ।
पक्वश्रीफले अलयः यथा बहिरेव भ्रमन्ति ॥]

[पण्डित लोग आगम, वेद तथा पुराणों के अध्ययन से ही मानी हो जाते हैं । पर यह तो वैसे है, जैसे भँवरे पके बेल के फल के बाहर ही घूमा करते हैं ।]

पंडिअ सअल सत्थ वक्खाणइ ।
देहहिं बुद्ध वसंत ण जाणइ
अवणागमण ण तेण विखंडिअ
तो वि णिलज्ज भणइ हउं पंडिअ ॥ [सरहपा]

[पंडितः सकलानि शास्त्राणि वर्णयति [*वक्ष्यति]
देहे बुद्धं वसन्तं न जानाति
गमनागमनं न तेन विखण्डितं
तदपि निर्लज्जो भणति अहं पण्डितः ।]

[पण्डित समस्त शास्त्रों का बखान करता है, पर देह में ही स्थित बुद्ध [आत्मा, ईश्वर] को नहीं जानता । अपने जन्म-मरण को वह खण्डित न कर सका, फिर भी निर्लज्ज कहता है—मैं पण्डित हूँ ।]

११. अपभ्रंश [पश्चिमी] (६०० ई० से ११०० ई० तक)

भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणि महारा कंतु ।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु ॥
[भद्रं भूतं यत् मारितः भगिनि मम कान्तः ।
लज्जेयं तु वयस्याभ्यः यदि भग्नो[1] गृहं एतः[2] ॥]

[हे सखी, मेरा पति मारा गया, यह अच्छा हुआ । अगर कहीं भगा हुआ घर आता, तो मुझे सखियों से लजाना पड़ता ।]

१. भग्नः—भग्गा ।
२. [आ + इतः = एतः]

पुत्ते जाए कवणुँ गुणु, अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भूँहडी चंपिज्जइ अवरेण॥
[पुत्रे जाते कः पुनर्गुणः, अवगुणः कः पुनर्मृतेन।
यत् पितुः [*वप्तुः] भूमिः आक्रम्यते अपरेण॥]

[ऐसे पुत्र के पैदा होने से क्या लाभ, और मरने से क्या हानि, [जिस के रहते हुए] पिता की भूमि दूसरा चाँप ले।]

१२. अवहट्ठ (प्राकृतपैंगलंकी परवर्ती अपभ्रंश)

[११०० ई० से १३०० ई० तक]

पअभरु दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ
कमठ पिट्ठ टरपरिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ
कोह चलिअ हम्मीर वीर गअजूहसंजुत्ते
किअउ कट्ठ हाकंद मुच्छि मेच्छह के पुत्ते॥

[पादभरेण दलिता धरणी तरणिरथः धूलिभिः छादितः
कमठपृष्ठं [स्फुटितं] मेरुमन्दरशिरः कम्पितम्
क्रोधेन चलितः हमीरवीरः गजयूथसंयुक्तः
कृतः कष्टं हाक्रन्दः मूर्च्छित्वा म्लेच्छानां पुत्रैः।]

[जब वीरहमीर हाथियों की सेना से युक्त हो कर क्रोध के साथ चला, तो पृथ्वी पैरों के बोझ से दब गयी, सूर्य का रथ धूल से ढँक गया, कमठ की पीठ तड़क गयी और सुमेरु तथा मन्दर की चोटी हिल गयी; म्लेच्छों के पुत्रों ने [अर्ध] मूर्छित हो कर कष्ट के साथ आक्रन्द किया।]

परिशिष्ट (ख)

संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिन के समानान्तर शब्द रूप

१. सं० अकारान्त (ग्रीक-लै० ओ́कारान्त) शब्द
(पुलिंग तथा नपुंसक)

	संस्कृत	ग्रीक	लैतिन
प्रातिपदिक	अश्व [पु०]	हिप्पो́ [पु०]	ऐक्वो́ [पु०]
	युग [नपुं०]	ज़ुगो́ [नपुं०]	जुगो́ [नपुं०]
ए० व०			
कर्ता	अश्व-स् [अश्वः]	हिप्पो́-स्	ऐक्वो́स् [एक्वूस्]
	युग-म्	ज़ुगो́-न्	जुगु-म् [जुगोम्]
कर्म	अश्व-म्	हिप्पो́न्	ऐक्वो́-म्
	युग-म्	ज़ुगो́-न्	जुगु-म्
करण	अश्वेन [वै० अश्वा]	[पोन्तोफि]	×
सम्प्रदान	अश्वाय	हिप्पो́-ओ́इ; हिप्पो́	ऐक्वो́इ = ऐक्वो́-ओ́इ, ऐक्वो́
अपादान	अश्वात्	हिप्पो́-ओ́, हिप्पो́उ	ऐक्वो́इ, ऐक्वी, ऐक्वो [द्]
सम्बन्ध	अश्वस्य	हिप्पो́-[स्] इओ́	ऐक्वो́-इस्
अधिकरण	अश्वे [अश्व-इ]	[ओ́इको-इ, ओ́इकोइ]	[दोमि = दोमो́-इ ?] [= सं० दमे]

	संस्कृत	ग्रीक	लेतिन
सम्बोधन	अश्व [युगम्]	हिप्पे [=हिप्पो –] जुगो-न्	ऐक्वे [ऐक्वो] जुगु-म्
द्वि० व०			
कर्ता-कर्म	अश्वा-अश्वौ	हिप्पो-ऐ, हिप्पो	×
करण, सम्प्रदान अपादान	अश्वाभ्याम्	हिप्पो-इन्	×
सम्बन्ध अधिकरण	अश्वयोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	अश्वा-स् [अश्वाः] [वै० अश्वासः] युगानि [नपुं०] [वै० युगा]	हिप्पो-इ जुगा [नपुं०]	ऐक्वो-ऐस्, ऐक्वेइस्] ऐक्वी जुग्-अ = जुग
कर्म	अश्वान् [= अश्वान्-स्] युगानि	हिप्पोउस् = हिप्पोन्-स् जुगा	ऐक्वोस् = ऐक्वोम् स् जुग
	सं०	ग्री०	लै०
करण	अश्वैः [वै० अश्वेभिः]	[थेओ-फिन्]	×
सम्प्रदान-अपादान	अश्वे-भ्यः [–भ्यस्]	×	×
सम्बन्ध	अश्वानाम् [= अश्वा-न्-आम्]	[हिप्पो-ओन्] हिप्पोन्	एक्वो-रुम् ऐक्वूम् = एक्वो-ओम्

अधिकरण	अश्वे-षु	हिप्पॊइ-सि हिप्पॊइ-स्	[एक्वॊ, इस्] एक्वीस्

२. सं० आकारान्त (ग्रीक, लै० अकारान्त) शब्द (स्त्रीलिंग)

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक	अश्वा	खोर–[देश]	ऍक्व–[घोड़ी]
एक वचन			
कर्ता	अश्वा	खोर	ऍक्व
कर्म	अश्वाम्	खोर-न्	ऍक्व-म्
करण	अश्वया [वै० अश्वा]	[बिए-फ़ि]	×
सम्प्रदान	अश्वायै [वै० अश्वाइ]	खोरइ [खोर-अइ]	ऍक्वऐ
अपादान-सम्बन्ध	अश्वायाः	खोर-स् [जेनेटिव] × [एब्लेटिव]	[ऍक्व-इस्- एक्वास्] ऍक्वइ, एक्वऍ [जेने०] ऍक्वा [द्] [एब्ले०]
अधिकरण	अश्वायाम्	[खमा-इ]	[रोमए = रोम- ? = रोम में]

द्वि० व०

कर्ता	अश्वे	खोरा	×
करण, सम्प्रदान अपादान	अश्वाभ्याम्	खोर-इन्	×
सम्बन्ध, अधिकरण	अश्वयोः [-योस्]	×	×

ब० व०			
कर्ता	अश्वास् [अश्वाः]	खोरइ	एक्व-ऐस्, ऐक्वास्
कर्म	अश्वास् [अश्वाः]	खोरास् [–न्स्]	ऐक्वास् [-न्स्]
करण	अश्वाभिः [–भिस्]	[–फिन्]	×
सम्प्रदान-अपादान	अश्वाभ्यः [–भ्यस्]	×	ऐक्व-बुस्
सम्बन्ध	अश्वानाम् [वै० अश्वाम्]	खोरोन्	ऐक्व-रुम्
अधिकरण	अश्वेषु	खोरइ-सि खोरइ-स्	[ऐक्व-इस्] ऐक्विस्

३. इकारान्त रूप (पु०, स्त्री०, नपुं०)

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक	अवि [पु० स्त्री०]	पोलि [स्त्री०] [= नगर]	ओवि
	वारि [नपुं०]	इद्रि [विशेषण]	मरि [नपुं०]
ए० व०			
कर्ता	अवि-स्, वारि [न०]	पोलिस्, इद्रि [न०]	ओवि-स्, मरे [न०]
कर्म	अवि-म्, वारि [न०]	पोलिन्, इद्रि	ओवे-म्, मरे
करण	अविना [पु०]	×	×
	अव्या [स्त्री०]		
	वारिणा [नपुं०]	×	×
सम्प्रदान	अवये [पु०], अव्यै	×	ओवी
	[स्त्री०], वारिणे [न०]	×	×

अपादान	अवेः, अव्याः [स्त्री०] वारिणः [न०]	× ×	ओवे [द्] मरि-[द्]
सम्बन्ध	अवेः, अव्याः [स्त्री०] वारिणः [न०]	पोलि-ओस्, पोले-ओस्, पोले-ओस्, पोलेयोस्	ओविस् ×
		×	
अधिकरण	अवौ, अव्याम् [स्त्री०], वारिणि [न०]	पोले-ई, पोलेइ पोले-ई	
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	अवी, वारिणी	पोलि-ऐ, पोलेऐ	×
करण, सम्प्र०, अपा०	अविभ्याम्	पोलि-ओ-इन्	×
सम्बन्ध अधिकरण	अव्योः, वारिणोः	×	
ब० व०			
कर्ता	अवयः, वारीणि	पोले-ऐस्, [= पोलेयेस्] पोलि-ऐस्, पोलेइस् [न०] इद्रि-अ [न०]	ओवेस् मरि-अ
कर्म	अवीन् [पु०], अवीः [स्त्री०] वारीणि [न०]	पोले-अस्, पोले-इस् इद्रि-अ	ओवेस् मरिअ
करण	अविभिः [-भिस्]	×	×
सम्प्र०, अपा०	अविभ्यः [-भ्यस्]	×	ओवि-बुस्
सम्बन्ध	अवीनाम्	पोलि-ओन्, पोले-ओन्	ओवि-उम्

अधिकरण	अविषु	पोलि-सि, पोले-सि पोलि-ए-स्सि	×

नोट्—यहां हम ने स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग शब्दों के उन्हीं रूपों का संकेत किया है, जो पुल्लिग शब्दों के तत्तत् विभक्ति के तत्तत् वचनान्त रूपों से भिन्न होते हैं। अन्यरूप पुल्लिग रूपों के समान होने से उन का संकेत अनावश्यक समझा गया है, यही कारण है, यहां वारिभिः, वारिभ्यः, वारिषु-जैसे रूपों का कोई संकेत नहीं है, क्योंकि उन का संकेत अविभिः, अविभ्यः, अविषु-जैसे रूपों से मिल जाता है।

४. ध्वनियुग्मान्त शब्दों [Diphthongal stems] के रूप

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक	१. नौ	नाउ	[नवि]
	२. गौ	बोउ	बोउ [बो-वि]
ए० व०			
कर्ता	नौ-स् [नौः]	नाउस्	नवि-स्
	गौः	बोउस्	बोस् [बोउस्]
कर्म	नावम्	नेव, नउ-न्	नवेम्
	गावम्	बोउ-न्	बोवेम्
करण	नावा	नाउफि	×
	गवा	×	×
संप्रदान	नावे	×	×
	गवे	×	बोवि
अपादान	नावः [–आस्]	×	नावे [द्]
	गोः [–म्]	×	बोवे [द्]
सम्बन्ध	नावः	नेवोस्-नेओस्	नविस्
	गोः	बोवोस्	बोविस्

अधिकरण	नावि	नेवि	×
द्वि० व०			
	नवि	बोवि	×
कर्ता-कर्म	नावा-नावौ	नेवे	×
	गावा-गावौ	बावे	×
करण, सम्प्र०,	नौभ्याम्	नेव्रो-इन्; ने-आइन्	×
अपादान	गोभ्याम्	बो-बोइन	×
सम्बन्ध, अधि०	नावोः	×	×
	गवोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	नावः	नेवेस्	नवेस्
	गावः	बोवेस्	बोवेस् [बोविएस्]
कर्म	नावः	नेवस्, नउस्	नवेस्
	गावः, गाः	बोवस्, बउस्	वावस्
करण	नौभिः [–भिस्]	नउफिन्	×
	गोभिः [–भिस्]	×	×
सम्प्र०, अपा०	नोभ्यः [–भ्यस्]	×	नवि-बुस्
	गोभ्यः [–भ्यस्]	×	बो बुस्, बू-बुस्
सम्बन्ध	नावाम्	नेवोन्, नेओन्	नवि-उम्
	गवाम्	बोवोन्	बे-उम् = बोवेम्
अधिकरण	नौषु	नेउसि, नउसि	×
	गोषु	बोउसि	×

[इस सम्बन्ध में इतना संकेत कर दिया जाये कि लैटिन में ध्वनियुग्मों के लोप में कारण ध्वनियुग्मान्त प्रातिपदिकों का अभाव है। 'नवि' वस्तुतः इकारान्त प्रातिपदिक है। केवल 'बोस्' का प्रातिपदिक 'बोव्'

[या वोउ] ही एक मात्र ऐसा शब्द है जिस में ध्वनियुग्मान्त शब्द के अवशिष्ट चिह्न देखे जा सकते हैं।]

हलन्त शब्दों के रूप

[१] संस्कृत वाच् [स्त्री०] ग्रीक ओप् [स्त्री०], लैतिन वोक् [स्त्री०]

	सं०	ग्री०	लै०
ए० व०			
कर्ता	वाक्	ओप्-स्	वोक्-स् [वोक्स]
कर्म	वाचं	ओप् अ [ओप]	वोकम्
करण	वाचा	×	×
सम्प्रदान	वाचे	×	वोकि
अपादान	वाचः	×	वोके [द्]
सम्बन्ध	वाचः	ओपोस्	वोकिस्
अधिकरण	वाचि	ओपि [यह देतिवका रूप है]	×
द्वि० व०			
कर्ता-कर्म	वाचा, वाचौ	ओपे	×
करण, सम्प्र० अपा०	वाग्भ्याम् [= *वाच्-भ्याम्]	ओपोइन्	×
सम्बन्ध, अधि०	वाचोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	वाचः [वाचस्]	ओपेस्	वोकेस् [वोकि-एस्]
कर्म	वाचः [,,]	ओपस्	वोकेस्
करण	वाग्भिः [= *वाच्भिः]	[–फिन्]	×

सम्प्र०-अपा०	वाग्भ्यः [* = वाच्भ्यः]	×	वोकिबुस्
सम्बन्ध	वाचाम्	ओपोन्	वोकुम्
अधिकरण	वाक्षु	ओप्-सि [देतिव]	×

प्रातिपदिक

[२] सं० भरत् [भरन्त्] [पु० नपुं०] ग्रीक फेरोन्त् [पु० नपुं०] लै० फेरेन्त् [पु० स्त्री० नपुं०]

	सं०	ग्री०	लै०
ए० व०			
कर्ता	भरन्, भरत् [नपुं०]	फेरोन् [ओन्त्-स्]	फेरेन् [त्]-स्
कर्म	भरन्तम्, भरत् [नपुं०]	फेरोन्त [०न्त्-अ]	फेरेन्तेम्
करण	भरता	×	×
सम्प्रदान	भरते	×	फेरेन्ति
	भरतः [भरत्-अस्]	×—	फेरोन्ते [द्]
सम्बन्ध	भरतः	फेरोन्तोस् [०न्त्-ओस्]	फेरेन्तिस्
अधिकरण	भरति	फेरोन्ति	×
द्वि० व०			
कर्ता-कर्म	भरन्ता, भरन्तौ भरन्ती [नपुं०]	फेरोन्ते [०न्त्-ए]	×
करण, सम्प्र० अपादान	भरद्भ्याम् [= *भरत्भ्याम्]	फेरोन्तेइन्	×
सम्बन्ध, अधिकरण	भरतोः	×	×

र्ता	भरन्तः [भरन्त्-अस्]	फेरोन्तेस्, फेरेन्तस् [-फेरेन्तिएस्]
	भरन्ति [नपुं०]	फेरोन्त [०न्त्-अ]
कर्म	भरतः	फेरोन्तस् [०न्त्-अस्] फेरेन्तस्
	भरन्ति [नपुं०]	फेरोन्त [०न्त्-अ]
करण	भरद्भिः	[–फिन्]
सम्प्र०-अपा०	भरद्भ्यः	× फेरेन्ति-बुस्
सम्बन्ध	भरताम्	फेरोन्तोन् फेरेन्तिम् [फेरेन्तुम्]
अधिकरण	भरत्सु	फेरोन्त्सि [–फेरोउसि] ×

नोट—संस्कृत में *'भरन्त्' स्त्रीलिंग रूपों में 'ई' प्रत्यय जुड़ कर 'भरन्ती' बनता है, जिस के रूप वृकी, देवी जैसे ईकारान्त स्त्री० शब्दों की तरह चलते हैं। ग्रीक में स्त्रीलिंग में 'य' प्रत्यय जुड़ता है। ग्रीक में सं० भरन्ती समानान्तर प्रातिपदिक 'फेरोन्त्य' तथा 'फेरोउस' हैं, जिन के रूप अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द 'खोर' [Xora] की तरह चलते हैं। लैतिन में पु०, स्त्री०, नपुं० तीनों में ये एक से बने रहते हैं।

सं० मनस् [न०]; दुर्मनस् [पु० स्त्री०], ग्रीक मेनोस् [न०], दुस्मेनोस् [पु० स्त्री०]

	सं०	ग्रीक
ए० व०		
कर्ता	मनस् [मनः] [न०]	मेनोस्
	दुर्मनाः [दुर्मनास्] [पु० स्त्री०]	दुस्मेनेस्
कर्म	मनस् [मनः]	मेनोस्
	दुर्मनसं [पु० स्त्री०]	दुस्मेनेस् अ [०अ]
		दुस्मेनसेअ, [०से]

करण	मनसा [दुर्मनसा]	[–फि]
सम्प्रदान	मनसे [दुर्मनसे]	×
अपादान	मनसः [दुर्मनसः]	×
सम्बन्धः	मनसः [दुर्मनसः]	मॅनॅस्, मॅनॊ[illegible], मॅनॊऑस्, मॅ[illegible]उस्
अधिकरण	मनसि [दुर्मनसि]	मॅनॅसि, मॅनॅ[illegible]
सम्बोधन	मनः [दुर्मनाः]	मॅनॊस्, दुस्मॅनॅस् [पु[illegible]ं[illegible]ो०]
द्वि० व०		
कर्ता-कर्म	मनसी	[मॅनॅसे], मॅ[illegible]
	दुर्मनसा-दुर्मनसी	दुस्मॅनॅसे, दुस्मॅनॅ
करण, सम्प्र०	मनोभ्याम् [दुर्मनोभ्याम्]	मॅनॅसोइन्,
अपा०		मॅनॅसोऐरिन्
सम्बन्ध, अधिकरण	मनसोः [दुर्मनसो.]	×
ब० व		
कर्ता	मनांसि [न०]	मॅनॅस [स-अ], मनॅसेअ, मॅनॅ
	दुर्मनसः [पु० स्त्री०]	दुस्मॅनॅसेस्
कर्म	मनांसि	मॅनॅस[स्-अ], मॅनॅ
	दुर्मनसः	दुस्मॅनॅसस् [०स्-अस्]
करण	मनोभिः [दुर्मनोभिः]	[मॅनॅस्-फि]
सम्प्र०-अपा०	मनोभ्यः [दुर्मनोभ्यः]	×
सम्बन्ध	मनसां [दुर्मनसां]	मॅनॅसोन् [मनस्-ओन],
अधिकरण	मनःसु [दुर्मनःसु]	मॅनॅस्-सि, मॅनॅसि

सर्वनाम शब्दों के रूपों का तुलनात्मक परिचय

१. उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम

	सं०	ग्रीक	लैटिन
ए० व०			
कर्ता	अहम्	ऐगोन्, ऐगो	ऐगो
कर्म	माम्, मा	ऐ-मे, मे	मे
करण	मया	×	×
सम्प्रदान	मह्यं, [मे]	ऐमिन् [ऐमे-फिन्]	मि-हइ, मिहि
अपादान	मत्	×	मेद्
सम्बन्ध	मम, [मे]	ऐमेइओ, ऐमोउ, मोउ, ऐमोउस् [मइ?]	
अधिकरण	मयि	ऐमो-इ, मो-इ	मइ
द्विवचन			
कर्ता / कर्म	आवाम् / आवाम् नौ	नोइ, नो	×
करण, सम्प्र०, अपादान	आवाभ्याम् / नौ [सम्प्र०]	नो-इन्, नोइन्	×
सम्बन्ध / अधिकरण	आवयोः, / नौ [सम्बन्ध]	×	×
बहुवचन			
कर्ता	वयं, अस्मे [वैदिक]	अम्मेस् [अस्मिस्] हेमे-ऐस् [हेमिस्] हेमेइस्	नोस् [?मोस्]
कर्म	अस्मान्, नः	अम्मे, हेमेअस्, हेमस्	नोस्
करण	अस्माभिः	×	×

सम्प्रदान	अस्मभ्यं, नः	अस्मिन् [अम्मि-फिन्] हेमिन्	नो-बिस्
अपादान	अस्मात्	×	नो-बिस् [देतिव]
सम्बन्ध	अस्माकं, नः	हेमेइओन्, हेमे-ओन् हेमोन्	नास्त्रि, नोस्त्रुम्
अधिकरण	अस्मासु	×	×

२. मध्यम पुरुष वाचक सर्वनाम

	सं०	ग्री०	लै०
एक वचन			
कर्ता	त्वम्	तु, सु,	तु
कर्म	त्वाम्, त्वा	ते, से [=त्व]	ते = त्वे—म्
करण	त्वया	×	×
सम्प्रदान	तुभ्यं [ते]	तेइन् [तेइ-फिन्]	ति-बेइ, तिबि
अपादान	त्वत्	×	तेद् [=तेइ-द्]
सम्बन्ध	तव [ते]	तेओइओ [=तेवोस्यो] [तुई ?] सेइओ, सेओ, सोउ, सेउ, तेओउस्	
अधिकरण	त्वयि	सोइ [त्व-इ]	तुइ [मूलतः जेनेतिव]
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	युवाम्; युवाम्, वाम्	स्फोइ, स्फो	×
करण, सम्प्र० अपा०	युवाभ्याम्, वाम्[सम्प्र०]	स्फो-इन् [स्फोइ-फिन्] स्फोइन्	×
सम्बन्ध, अधि०	युवयोः, वाम् [सम्बन्ध]	×	×

ब० व०			
कर्ता	यूयम्, युष्मे [वैदिक]	उम्मेस्, हुमेएस्, हुमेइस्	वोस्
कर्म	युष्मान्, वः	उम्मे, हुमेअस्, हुमइस्	वोस्
करण	युष्माभिः	×	×
सम्प्रदान	युष्मभ्यं, वः	उम्मि [म्मि-फिन्] हुमिन्	वोबिस्
अपादान	युष्मत्	×	वोबिस् [मूलतः देतिव]
सम्बन्ध	युष्माकं, वः	हुमेइओन्, हुमेओन्, हुमोन्	वोस्त्रुम्, वोस्त्रि
अधिकरण	युष्मासु	×	×

३. अन्य पुरुष वाचक सर्वनाम

(क) पुल्लिंग तथा नपुंसकलिंग

	सं०	ग्रीक	लैतिन
प्रातिपदिक	त–	तो–	इस्-तो–[इ + म + त]
ए० व०			
कर्ता	सः, तत् [न०]	हो [स्], तो [न०]	इस्तुद्, ईस्ते, इस्तुद् [न०]
कर्म	तम्, तत् [न०]	तोन्, तो [न०]	इस्तुम्, इस्तुद् [न०]
करण	तेन	×	×
सम्प्र०	तस्मै	तोअइ = तो-ओइ*	इस्ति ? = इस्ताएइ क्वोइएइ

अपादान	तस्मात्	[तोस् = तोत्]	इस्तो-द्
सम्बन्ध	तस्य	ताइओ, ताउ	इस्तिउस् [इस्ता-इ-ओस
अधिकरण	तस्मिन्	[होइ = हो-इ]	*इस्ति ? = इस्ताइ = हुमि, क्वाइ
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	तौ [ता], ते [न०]	तो	
करण, संप्र० अपा०	ताभ्याम्	ताइन्	
सम्बन्ध, अधिकरण	तयोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	ते, तानि [न०]	तोइ, होइ, त [न०]	इस्ती, इस्त, [न०]
कर्म	तान्, तानि [न०]	तोन्स्, ताउस्, त [न०]	इस्तास् इस्त [न०]
करण	तैः	×	×
सम्प्र०, अपा०	तेभ्यः	×	[विव-बुस्, हि-बुस्, हाइ-बुस्,
सम्बन्ध	तेषाम्	तोन्	इस्तो-रुम्
अधिकरण	तेषु	ताइ-सि, ताइस्	इस्तिस् [क्वइस्]

(ख) स्त्रीलिंगी रूप

	सं०	ग्रीक	लैतिन
ए० व०			
कर्ता	सा	हे	इस्त, क्व-इ [क्वए]
कर्म	ताम्	तेन्	इस्तम्
करण	तया	[हेफि]	×

सम्प्र०	तस्यै	तेइ	इस्ति
अपादान	तस्याः	×	इस्ता-[द्]
सम्बन्ध	तस्याः	तेस्	इस्तीउस्
अधिकरण	तस्याम्	तेइ	इस्ति
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	ते	त	×
करण, सम्प्र०	ताभ्याम्	त-इन्	×
अपादान	,,		
सम्बन्ध, अधि०	तयोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	ताः	तइ	इइस्तऐ
कर्म	ताः	तस्	इस्तास्
करण	ताभिः	×	×
सम्प्र०, अपा०	ताभ्यः	×	×
सम्बन्ध	तासाम्	त-ओन्, तोन्	इस्ता-रुम्
अधिकरण	तासु	तेइ-सि, तइस्	इस्तीस्

संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिन तिङ् विभक्तियाँ

१. मुख्य तिङ् विभक्तियाँ—परस्मैपदी

उ० पु० ए० व० सं०-मि, ग्री०—मि, ओ, लै०—म्,—ओ

[भरामि, ददामि], [दिदोमि, फ़ेरो], [सुम्, सं० अस्मि], फ़ेरो]

द्वि० व० सं०-वः × ×

[भरावः, दद्वः] × ×

ब० पु० सं०—मः ग्री० मेस् [दोरिक], लै० मुस्

मेन् [इतिक],

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन
[भरामः, दद्मः	[फेरोमेन्, दिदोमेन्]	[सुमुस्, फेरिमुस्]
म० पु० ए० व० सं०—सि,	ग्री०—सि, एइस्	लै०—स्
[भरसि, ददासि]	[दिदोसि, फेरेइस्]	[फेसं]
द्वि० व० सं०—थः	ग्री०—तोन्	×
[भरथः, दत्थः]	फेरेतोन्, दिदोतोन्]	×
ब० व० सं०—थ	ग्री०—ते	लै०—तिस्
[भरथ, दत्थ]	[फेरेते, देदोते	[फेर्तिस्]
प्र० पु० ए० व० सं०—ति,	ग्री०—ति,—सि,	लै०—त्
[भरति, ददाति]	[एस्ति, तिथेति, फेरेसि] [दोरिक, दिदोति, एतिक, दिदोसि]	[इस्त, फेसं]
द्वि० व० सं०—तः	ग्री०—तोन्	×
[भरतः, दत्त.]	[फेरेतोन्, दिदोतोन्]	×
ब० व० सं०—न्ति,	ग्री०—न्ति [दोरिक], —उसि [एतिक]	लै०—न्त्
[भरन्ति, ददति]	[फेरोन्ति [दो०] फेरोउसि [ए०] दिदोउसि]	[फेरुन्त्]

२. मुख्य तिङ् विभक्तियाँ : आत्मनेपदी—

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन
उ० पु० ए० व० सं०—ए [भरे]	ग्रीक —मइ [फेरोमइ]	×

द्वि० व० सं०—वहे [मरावहे], ग्रीक–मेथॉन् [जो मूलतः ब० व० रूप ही है] [फेरोमेथान्]

ब० व० सं०—महे [मरामहे], ग्रीक–मथ [फरोमथ] [∠*मधइ]

म० पु० ए० व० सं०—से [∠*सइ] [भरसे] ग्रीक–सइ,–एइ [फेरेइ ∠*फरसइ]

द्वि० व० सं०—एथे [मरेथे], ग्रीक–स्थोन् ,–स्थेन् [फेरस्थान् फेरेस्थेन्]

ब० व० सं–ध्वे [मरध्वे], ग्रीक–स्थे [फेरेस्थे]

प्र० पु० ए० व० सं०—ते [मरते], ग्रीक–तइ [फेरेतइ]

द्वि० व० सं०—एते [मरेते], ग्रीक–स्थोन्, स्थेन् [फेरस्थोन् फेरेस्थन्]

ब० व० सं०—अन्ते [मरन्ते], ग्रीक–न्तइ,–अतइ] फेरोन्तइ, [आसते] हेअतइ]

लैतिन में स्वतन्त्र आत्मनेपदी तिङ् चिह्न नहीं होते, वहाँ 'र्' जोड़ दिया जाता है, जैसे, अमोर्, अमरिस्, अमतुर्, अममुर, अमन्तुर्। [दे० Papillon: Comparative philology applied to Greek and Latin p. 178].

३. गौण तिङ् चिह्न : परस्मैपदी—

उ० पु० ए० व० सं०—म् [अ म-रम्] ग्रीक–न् [ऐ-फेरो-न्]

द्वि० व० ,,–आव [अ-मराव] ×

ब० व० ,,–आम [अ मराम] ग्रीक––मेन् [ऐ-फेरो-मेन्]

म० पु० ए० व० सं०—स् [:] [अ-मरः [स्]],,–म् [ऐ,फेरे-स्]

द्वि० व०,,–तम् [अ-मर-तम्] ग्रीक––तान् [ऐ-फेरे-तान्]

ब० व०,,–त [अ-मर-त] ,,–ते [ऐ-फेरे-ते]

प्र० पु० ए० व० सं०—त् [अ-मर-त्] ग्रीक—त् [ए-फेरे-त्]

द्वि० व ,,—ततम् [अ-मर-तम्] ,,—तान् [ए-फेरे-तेन्]

ब० व०,,— [अ-मर-न्],,—न् [∠*न्त्], अन् [∠*अन्त्]

[ए-फेरो-न् ; ए लुस्-अन्]

लैतिन में गौण चिह्न तथा मुख्य चिह्नों में कोई भेद नहीं रहा है, क्योंकि यहाँ आ कर मुख्य चिह्न म्-स् ,-त् हो गये हैं। लैतिन में भूतकाल का द्योतक अगम [augment] 'अ' [ग्रीक तथा प्रा० भा० यू० *ए] प्रायः लुप्त हो गया है, इस के अवशेष केवल उन चार क्रियारूपों में पाये जाते हैं, जिन के आदि में स्वरध्वनि पायी जाती है—एगि [ēgi], एदि [ēdi], एमि [ēmi] -एपि [-ēpi, in co epi]। [दे० King and Cockson p. 156].

४. गौण तिङ् चिह्न, आत्मनेपदी—

उ० पु० ए० व० सं—ए [अ-मरे] ग्रीक—मोन् [मेन्-] [एफेरोमेन्]

द्वि० व० ,,—वहि [अ-मरावहि] ,,—मेथान् [ए-फेर-मेथान्]

ब० व० ,,—महि [अ-भरामहि] ,,—मेथ [ए फेरमेथ]

म० पु० ए० व० सं०—थाः [अ-भर-थाः] ग्रीक—सो [ए-फेर-सो]

द्वि० व० ,,—एथाम् [अ-भरेथाम्] ,,—स्थोन् [ए-फेर-स्थोन्]

ब० व० ,,—ध्वम् [अ-मर-ध्वम्],,—दे [-स्थ] [ए-फेरस्थ]

प्र० पु० ए० व० सं०—त [अ-मर-त] ग्रीक—तो [ए-फेर-तो]

द्वि० व० ,,—एताम् [अ-मरे-ताम्] ,,—स्थेन् ए-फेर-स्थेन्]

ब० व० ,,—न्त [अ-मर-न्त] ,,—न्तो,-अतो [ए-फेरो-न्तो]

—अत [आसत] [लं अतो]



सग्राह्य पुस्तक-सूची

१. Otto Jesperson : *Language its Origin, Development and Nature.*
२. Bloomfield : *Language.*
३. Marcel Cohen : *Le Language.*
४. Saussure : *Cours de Linguistique Generale.*
५. Otto Jesperson : *The Philosophy of Grammar.*
६. Daniel Jones : *An Outline of English Phonetics.*
७. Bloch : *L'Indo-Aryen.*
८. A. Meillet : *Introduction a l'etude Comparative des langues Indo-europeenes.*
९. A Thumb : *Handbuch des Sanskrit.*
१०. Wackernagel : *Altindische Grammatik. (Vols. I, II, III).*
११. Ghosh : *Linguistic Introduction to Sanskrit.*
१२. T. Burrow : *Sanskrit Language.*
१३. Edgerton : *Phonblogy of Indo-European.*
१४. Sturtevant : *Indo-Hittite Laryngeals.*
१५. Hudson-Williams : *Introduction to the Study of Comparative Grammar.*
१६. Atkinson : *Greek Language.*
१७. Buck : *Comparative Grammar of Greek and Latin.*
१८. King and Cockson : *Comparative Grammar of Greek and Latin.*
१९. Papillon : *Comparative Philology Applied to Greek and Latin.*

२०. Pischel : *Prakrit Sprachen.*

२१. Woolner : *Introduction to Prakrit.*

२२. Macdonell : *Vedic Grammar.*

२३. Dr. Chatterjea : *Origin and Development of Bengali Language.*

२४. Dr. Chatterjea : *Indo-Aryan and Hindi.*

२५. Dr. Saksena : *Evolution of Awadhi.*

२६. Dr. Tagore : *A Historical Grammar of Apabhramsa.*

२७. Dr. Allen : *Indo-European Primary affix 'Bh' (Trans. of Philological Society of Great Britain, 1950).*

२८. Mathews : *Soviet Contribution to Linguistic Thought (Archivum Linguisticum, Vol. 2, pt. I-II).*

२९. डॉ० उदयनारायण तिवारी : *भोजपुरी भाषा और साहित्य*

३०. *शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य*

३१. *शुक्लयजुःप्रातिशाख्य* (उव्वट भाष्य सहित)

३२. *तैत्तिरीयप्रातिशाख्य*

३३. *अथर्वप्रातिशाख्य*

३४. *पाणिनिशिक्षा*

३५. *माध्यन्दिनीशिक्षा*

३६. *केशवीशिक्षा*

३७. *सिद्धान्तकौमुदी*

३८. वररुचि : *प्राकृतप्रकाश*

३९. मार्कण्डेय : *प्राकृतसर्वस्व*

४०. हेमचन्द्र : *शब्दानुशासन* (अष्टम अध्याय)

४१. डॉ० चाटुर्ज्या : *भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी*

